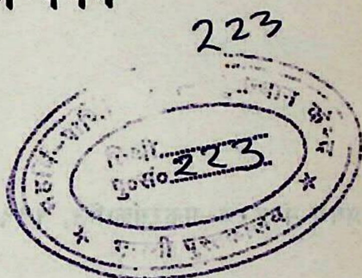
शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ० विश्वनाथ राम वर्मा
एम०ए० (संस्कृत), पी-एच०डी०
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
उत्तरकाशी

वाणी मन्दिर
नई सड़क, वाराणसी

5.3

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन



लेखक

डा० विश्वनाथ राम वर्मा

एम० ए० (संस्कृत), पी-एच्० डी०

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय

उत्तर काशी

वाणी मन्दिर

नई सड़क, वाराणसी

प्रकाशक—
वाणी मन्दिर,
नई सड़क, वाराणसी

प्रथम संस्करण—मकरसंक्रान्ति, १९९६

मूल्य—रु० ३२५—०० (रुपया तीन सौ पच्चीस मात्र)

मुद्रक—
सीमा प्रेस
ईश्वरगंगी, वाराणसी
फोन नं० ३३००९२

पुस्तक प्राप्ति-स्थान—
वाणी मन्दिर, नई सड़क, वाराणसी

विषय-सूची

सङ्केत-सूची

अ० प्रा०	=	अथर्ववेद प्रातिशाख्य
अमो० शि०	=	अमोघानन्दिनी शिक्षा
आ० शि०	=	आपिशलिशिक्षा
आ० श्रौ०	=	आश्वलायनश्रौतसूत्र
ऋ० त०	=	ऋक्तन्त्र
ऋ० प्रा०	=	ऋग्वेदप्रातिशाख्य
च० अ०	=	चतुरध्यायिका
त्रि० र०	=	त्रिभाष्यरत्न
तै० प्रा०	=	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
ना० शि०	=	नारदीय शिक्षा
प० पा०	=	पदपाठ
पा० शि०	=	पाणिनीय शिक्षा
पारा० शि०	=	पाराशरी शिक्षा
पा० सू०	=	पाणिनीय सूत्र
प्रा० प्र० शि०	=	प्रातिशाख्य-प्रदीपशिक्षा
भा० शि०	=	भारद्वाजशिक्षा
म० शि०	=	मल्लशर्मकृतशिक्षा
म० भा०	=	महाभाष्य
मा० शि०	=	माण्डूकी शिक्षा
माध्य० शि०	=	माध्यन्दिनी शिक्षा
या० शि०	=	याज्ञवल्क्यशिक्षा
ल० अमो० शि०	=	लघु-अमोघानन्दिनी शिक्षा
ल० मा० शि०	=	लघुमाध्यन्दिनी शिक्षा
लो० शि०	=	लोमशी शिक्षा
व० प्र० शि०	=	वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा
वा० प्रा०	=	वाजनेयिप्रातिशाख्य
वै० आ०	=	वैदिकाभरणभाष्य
शौ० शि०	=	शौनकशिक्षा
षो० श्लो० शि०	=	षोडशश्लोकीशिक्षा
सं० पा०	=	संहितापाठ
सू० पा० शि०	=	सूत्रात्मकपाणिनीय-शिक्षा

भूमिका

शिक्षा

षड्वेदाङ्गों में शिक्षा का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह प्रथम वेदाङ्ग है। इसको वेदों की नासिका कहा गया है—"शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य।" यह शुद्ध उच्चारण का शास्त्र है—"स्वरवर्णोच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा।" जिस शास्त्र से मन्त्रों के स्वर एवम् व्यञ्जनों के शुद्ध उच्चारण को जाना जाता है वह "शिक्षा" कहलाता है। स्वर (उदात्तादि) तथा व्यञ्जनों का ठीक-ठीक उच्चारण ही मन्त्रों के वास्तविक अर्थ का अवबोधन कराता है।

यह शास्त्र यद्यपि अतिप्राचीन है परन्तु इस पर लिखे ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है। एक अनुश्रुति के अनुसार जैगीषव्य के शिष्य "बाभ्रव्य" इस शास्त्र के प्रवर्तक हैं। ऋग्वेद के क्रमपाठ की व्यवस्था इन्होंने ही की थी। महाभारत (शान्तिपर्व) के अनुसार आचार्य "गालव" ने एक शिक्षाशास्त्रीय ग्रन्थ का निर्माण किया था। अष्टाध्यायी में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। "भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना" से "भारद्वाज-शिक्षा" का प्रकाशन हुआ है जिसके रचयिता भरद्वाज माने जाते हैं। वेदों के शाखा-भेद के कारण शिक्षायें भी विविध प्रकार के उच्चारण विधानों को प्रस्तुत करती हैं। पाणिनि ने भी एक शिक्षा-ग्रन्थ का प्रणयन किया है जो "पाणिनीय-शिक्षा" के नाम से प्राप्त होती है। वाराणसी से "शिक्षा-संग्रह" नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जिसमें अनेक शिक्षाएँ एकत्र संगृहीत हैं। प्रत्येक वेद की अलग-अलग शिक्षायें हैं। आज केवल यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य-शिक्षा; सामवेद की नारद-शिक्षा; अथर्ववेद की माण्डूकी शिक्षा ही सुव्यवस्थित रूप में उपलब्ध होती है। इनके अतिरिक्त भी नारदीय शिक्षा, गौतम-शिक्षा; केशवी-शिक्षा, लघु अमोघानन्दिनी-शिक्षा; आपिशलि-शिक्षा; वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा इत्यादि अनेक शिक्षा-ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

ध्वनि का आरोह-अवरोह; उच्चारण की शुद्धता, उच्चारण की कालावधि का परिसीमन आदि शिक्षा के मुख्य विषय हैं। इसके वर्ण्य-विषयों में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान—इन छः तत्त्वों की गणना की जाती है। वर्णों के उच्चारण-स्थान, प्रयत्न आदि के अतिरिक्त "साम" को ग्रन्थों में विवेच्य-विषय बनाया गया है।

शिक्षाग्रन्थ- -सामान्य परिचय

ऋग्वेदीय शिक्षाएँ

(1) शैशिरीय शिक्षा

ऋग्वेद की शैशिरीय शाखा से सम्बन्धित होने के कारण इसका नाम शैशिरीय शिक्षा रखा गया है। यह शिक्षा कारिकारूप में उपनिबद्ध है। इसमें कारिकाओं की कुल संख्या 360 है। इस शिक्षा में वर्णों के उच्चारण के सम्बन्ध में उनके स्थान, करण तथा प्रयत्नों का निरूपण किया गया है। संहिता-विषयक कतिपय विधान भी इसमें उपलब्ध होते हैं। इनके लिए इसमें सन्धि संज्ञा का प्रयोग हुआ है। सन्धि के अन्तर्गत स्वर, व्यञ्जन तथा विसर्ग सन्धियों का विवेचन हुआ है। इसमें स्वरों के वर्णों तथा जातियों का निर्देश हुआ है। इसमें ऊष्म वर्णों की अष्टविध गतियों का प्रतिपादन हुआ है। इस शिक्षा में यकार के गुरु, लघु तथा लघुत्तर—तीन भेद बतलाये गये हैं। वेद-मन्त्रों के अध्येता के गुण-दोषों का निरूपण इसमें विस्तार से किया गया है। ये सभी विधान ऋग्वेद को लक्ष्य करके प्रतिपादित किये गये हैं।

(2) शौनकीय शिक्षा

यह शिक्षा भी शैशिरीय शिक्षा की भाँति कारिकारूप में उपनिबद्ध है जिसमें कारिकाओं की कुल संख्या 67 है। इस शिक्षा में अकारादि वर्णों तथा उदात्तादि स्वरों की उच्चारण-प्रक्रिया के सम्बन्ध में उनके स्थानादि का उल्लेख हुआ है। वर्णोच्चारण में लगने वाली मात्रा (= उच्चारण-काल) का भी निर्देश हुआ है। रङ्ग के स्वरूप एवम् द्वित्व, यमविषयक उच्चारण-वैशिष्ट्य के साथ-साथ दो स्वरों के मध्य में होने वाली विवृत्ति का भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके भी सभी विधान ऋग्वेद को दृष्टिगत करके विहित हैं।

(3) स्वरव्यञ्जन-शिक्षा

यह शिक्षा भी कारिकात्मक है। इसमें वर्णराशि के स्वर तथा व्यञ्जन रूप में द्विधा विभाजन का ध्वनिवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया गया है। स्वर वर्णों के स्वरत्व तथा व्यञ्जन वर्णों के व्यञ्जनत्व विषयक प्रतिपादन इसके कर्ता के सूक्ष्म तथा वैज्ञानिक प्रतिभा का द्योतक हैं। इस शिक्षा में ऋग्वेद-प्रातिशाख्य

के विधानों का उद्धरण प्रस्तुत किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि यह शिक्षा ऋग्वेद-प्रातिशाख्य से परवर्ती है। कतिपय आचार्य तो इसे पाणिनि से भी परवर्ती स्वीकारते हैं।

(4) शमान शिक्षा

यह शिक्षा सूत्रात्मक है। इसमें ऋग्वेदसंहिता के उन स्थलों की सूची प्रस्तुत है जहाँ विसर्जनीय का लोप हो जाता है।

यजुर्वेदीय शिक्षायें—

यजुर्वेद के दोनों सम्प्रदायों से सम्बन्धित शिक्षाएँ हैं, जो इस प्रकार हैं—

कृष्णयजुर्वेदीय शिक्षायें

कृष्ण यजुर्वेद की संहिता से सम्बन्धित अधोलिखित शिक्षायें हैं–(1) चारायणीय शाखा की शिक्षायें, (2) तैत्तिरीय शाखा की शिक्षायें।

(1) चारायणीय शाखा की शिक्षायें

(1) चारायणीय शिक्षा

यह शिक्षा कृष्णयजुर्वेद की चारायणीय शाखा से सम्बन्ध रखती है। चारायणीय शाखा से सम्बन्धित होने के कारण ही इसका नाम चारायणीय शिक्षा है। इस शिक्षा में इसके अपर नाम का उल्लेख हुआ है। इसके अनुसार इसका नाम महाशिक्षा है। सम्भव है कि शिक्षाकार ने इस शिक्षा का नाम महाशिक्षा ही रखा हो जो शाखा-विशेष से सम्बन्धित होने के कारण चारायणीय नाम से प्रसिद्ध हो गयी। इसमें इसके कर्त्ता के रूप में ब्रह्मा का नाम निर्दिष्ट है। इससे स्पष्ट होता है कि इसके कर्त्ता आचार्य ने इसकी ख्याति हेतु इसमें अपना नाम निर्दिष्ट न करके ब्रह्मा को इसका कर्त्ता बतलाया है। इसमें वर्णों के उच्चारण के साथ-साथ सन्धि-विषयक विधान हुए हैं। इसमें कुछ लौकिक छन्दों जैसे—इन्द्रवज्रा, प्रहर्षिणी इत्यादि का भी वर्णन हुआ है। इस शिक्षा की हस्तलिपि उपलब्ध है किन्तु उसका प्रकाशन नहीं हो पाया है।

(2) तैत्तिरीय शाखा की शिक्षायें

वेदलक्षणानुक्रमणिका के अनुसार कृष्णयजुर्वेद की भारद्वाज, व्यास, शम्भु, पाणिनीय, कौहलीय, बोधायनी, वासिष्ठी, वाल्मीकि तथा हरीतकी—ये नव प्रधान और सर्वसम्मत, आरण्य तथा सिद्धान्त—ये तीन उपशिक्षायें हैं—

भारद्वाज-व्यास-शम्भु-पाणिनि-कौहलीयकम् ।
बौधायनो-वसिष्ठश्च वाल्मीकिर्हरितं नव ।।
सर्वसम्मतमारण्यं तथा सिद्धान्तमेव च ।
उपशिक्षा इमे प्रोक्ता लक्षणज्ञानकोविदैः ।।

—वेदलक्षणा० 5, 6.

व्यास-शिक्षा के भाष्यकार ब्रह्म जी राजा घनपाठी ने सर्वलक्षण-मञ्जरी-कार की एक कारिका को उद्धृत किया है जिसमें कृष्णयजुर्वेदीय शिक्षाओं का निर्देश हुआ है। उसके अनुसार व्यासशिक्षा, लक्ष्मीशिक्षा, भारद्वाजशिक्षा, आरण्यकशिक्षा, शम्भुशिक्षा, आपिशलिशिक्षा, पाणिनीय शिक्षा, कौहलीय शिक्षा तथा वासिष्ठीशिक्षा को कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्धित बतलाया गया है। इनके परिचय इस प्रकार हैं—

(1) भारद्वाजशिक्षा

यह शिक्षा कारिकारूप में उपनिबद्ध है जिसमें कारिकाओं की संख्या 130 है। इन कारिकाओं में प्रायः वर्णों में साम्य रखने वाले पदों में सन्देह के स्थलों पर वर्णों का निर्देश किया गया है।

(2) व्यासशिक्षा

इसमें 28 प्रकरण हैं। पहला प्रकरण संज्ञा-प्रकरण है। इसमें शिक्षा में प्रयुक्त संज्ञाओं का निर्देशन किया गया है। द्वितीय प्रकरण प्रग्रह प्रकरण है जिसमें प्रग्रह स्वरों का निरूपण किया गया है। तृतीय परिभाषा-प्रकरण में शास्त्र के अवबोध हेतु परिभाषा विषयक विधान हुआ है। पाँचवें आगम-प्रकरण में आगम; छठें लोप-प्रकरण में लोप, सातवें वैकृत प्रकरण में वर्णों के विकारों, आठवें षत्व प्रकरण में विसर्जनीय के षकार-भाव; नवें णत्व-प्रकरण में नकार के णकारभाव, दशवें रेफ प्रकरण में विसर्जनीय के रेफ भाव; ग्यारहवें विसर्जनीय-सन्धि प्रकरण में विसर्जनीय के अन्य विकारों, बारहवें यत्व प्रकरण में विसर्जनीय के यकार-भाव, तेरहवें अच् सन्धि-प्रकरण में स्वर सन्धि; चौदहवें अनैक्य प्रकरण में एकार तथा ओकार से परवर्ती अकार की पूर्वरूपता का प्रतिपादन हुआ है। सोलहवें सत्रहवें तथा अट्ठारहवें प्रकरण का नाम क्रमशः स्वरधर्म-स्वरूप, स्वर-सन्धि तथा हस्त-स्वर-विन्यास प्रकरण है। इनमें क्रमशः उदात्तादि स्वरों का परिचय, उनकी सन्धि तथा हस्त-चालन द्वारा उनके प्रदर्शन का प्रतिपादन किया गया है। उन्नीसवें द्वित्व नामक प्रकरण में द्वित्व विषयक, बीसवें पूर्वागम प्रकरण में आगम,

इक्कीसवें द्वित्व-निषेध प्रकरण में द्वित्व के निषेध विषयक विधान विहित हैं। बाइसवें अङ्गसंहिता प्रकरण में अङ्गाङ्गिभाव, तेईसवें स्वरभक्ति प्रकरण में स्वरभक्ति का लक्षण तथा उसके भेदादि का प्रतिपादन हुआ है। चौबीसवें स्थान, करण, प्रयत्न प्रकरण में वर्णों के उच्चारण स्थान, करण तथा बाह्य और आभ्यन्तर प्रयत्न का विवेचन हुआ है। पच्चीसवें प्लुत प्रकरण में तैत्तिरीय संहिता में उपलब्ध प्लुत स्वरों के स्थल का निर्देश हुआ है। छब्बीसवें ओष्ठ्य प्रकरण में ओष्ठ्य वर्णों, सत्ताईसवें काल-निर्णय प्रकरण में वर्णोच्चारण में लगने वाले समय तथा अट्ठाईसवें उच्चारण-फल प्रकरण में वेदोच्चारण-फल विषयक निरूपण हुआ है।

कर्त्ता

इस शिक्षा के कर्त्ता महर्षि व्यास हैं। पुराणों के अनुसार इन्होंने वेदों का चार भागों में विभाजन करके अपने चार शिष्यों को पढ़ाया। इसीलिए इन्हें वेदव्यास कहा जाता है। ये अट्ठारहों पुराणों तथा महाभारत के कर्त्ता भी हैं।

(3) शम्भुशिक्षा

इस शिक्षा का प्रकाशन अभी नहीं हो पाया है। डॉ० कीलहार्न के अनुसार यह पाणिनीय शिक्षा का ही रूपान्तरण है। परन्तु डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने इसे पाणिनीय शिक्षा से अलग कृति मानी है। तै० प्रा० के दोनों भाष्यकारों—गार्ग्यगोपालयज्वा तथा सोमयार्य ने अपने तै० प्रा० के भाष्यों में इस शिक्षा का उल्लेख किया है। इसमें वर्णों के उच्चारण-काल तथा उदात्तादि स्वरों का विवेचन किया गया है।

(4) कौहलीय शिक्षा

यह शिक्षा कारिका रूप उपनिबद्ध है जिसमें कुल 79 कारिकाएँ हैं। इसमें हस्त-चालन द्वारा स्वर-प्रदर्शन का निर्देश है। गार्ग्यगोपालयज्वा ने तै० प्रा० के अपने भाष्य में इस शिक्षा की एक कारिका को उद्धृत किया है। इसका वर्ण्य-विषय व्यासशिक्षा से साम्य रखता है।

(5) बौधायन शिक्षा

वेदलक्षणानुक्रमणी में इस शिक्षा का उल्लेख हुआ है किन्तु यह शिक्षा प्राप्त नहीं होती।

(6) वासिष्ठी शिक्षा

लूडर्स के अनुसार यह शिक्षा व्यासशिक्षा से प्राचीन है। गार्ग्यगोपालयज्वा ने अपने भाष्य में इस शिक्षा की एक कारिका को अपने मत के समर्थन में उद्धृत किया है। इस शिक्षा का प्रकाशन नहीं हुआ है।

(7) वाल्मीकि एवं हारीत शिक्षा

इन शिक्षाओं का उल्लेख वेदलक्षणानुक्रमणी में हुआ है। तै० प्रा० में भी वाल्मीकि तथा हारीत का मत प्रस्तुत किया गया है किन्तु अभी तक इसकी हस्तलिपि उपलब्ध नहीं हो सकी है।

(8) पाणिनिशिक्षा

सम्प्रति जो पाणिनिशिक्षा उपलब्ध होती है वह सामान्य शिक्षा है। इसमें सभी वेदों को लक्ष्य करके विधान किये गये हैं। वेदलक्षणानुक्रमणी में पाणिनिशिक्षा के कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्धित होने के उल्लेख से प्रतीत होता है कि उस समय पाणिनिशिक्षा का विशेष संस्करण भी रहा होगा जो कृष्णयजुर्वेद के विषय में विधान करती रहा होगा। अधुना वह उपलब्ध नहीं होती।

(9) सर्वसम्मतशिक्षा

इसके कर्त्ता का नाम केशव है। इस शिक्षा में मङ्गलाचरण के अनन्तर द्वित्व आदि का विवेचन हुआ है। इसमें उदात्तादि स्वरों, अनुस्वार के उच्चारण काल इत्यादि विषयक विधान हुए हैं।

(10) आरण्यशिक्षा

इस शिक्षा का वर्ण्य-विषय मुख्य रूप से उदात्तादि स्वर हैं। इसमें विभिन्न पदों में स्वरों के निर्धारण का उल्लेख हुआ है। इसमें स्वयं अपने वर्ण-विषय में गाम्भीर्य का द्योतन करते हुए अपने को समुद्र से उद्धृत अमृत बतलाया गया है—

"क्षितिसुरगणहेतोरेतदारण्यशिक्षामृतमिव नवशिक्षावारिधेरुद्धरामि"

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाएँ

शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित निम्नलिखित शिक्षाएँ उपलब्ध होती हैं—

(1) याज्ञवल्क्य शिक्षा

यह शिक्षा कारिका रूप में उपनिबद्ध है। बीच-बीच में गद्यात्मक भाग भी उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है—(1) पूर्वार्द्ध तथा

उत्तरार्ध। पूर्वार्द्ध में 92 तथा उत्तरार्द्ध में 121 कारिकायें हैं। सर्वप्रथम इसमें तीनों स्वरों—उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित का प्रतिपादन किया गया है जिसमें उनका लक्षण, देवता, वर्ण, स्थान, गोत्र इत्यादि का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार गन्धर्ववेद के षड्जादि सातों स्वरों का अन्तर्भाव इन्हीं वैदिक स्वरों में हो जाता है। षड्जादि स्वर की तुलना मयूर आदि की बोली से की गयी है। तदनन्तर वर्ण के उच्चारण-काल में लगे समय, विवृत्ति-काल, अवग्रह-काल, ऋचर्ध-काल, ऋगन्त-काल, अवसान-काल, पादपूर्ति-काल का निरूपण तथा मात्रा में लगे समय का निर्धारण भी किया गया है। तदनन्तर अध्ययन-विधि का वर्णन हुआ है। इसमें उच्चारणार्थ वृत्तियों का निर्धारण किया गया है। तत्पश्चात् हस्त-प्रचालन द्वारा स्वर-प्रदर्शन का विधान है। तदनन्तर विसर्ग के भेद का निरूपण हुआ है। स्वरित के आठ भेदों का उल्लेख तथा लक्षणों को स्पष्ट किया गया है।

उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ में गद्य भाग है। तदनन्तर कारिकाएँ, जिसमें सर्वप्रथम वर्णों के रङ्ग, देवता, लिङ्ग, वर्ण, स्थान, गोत्र इत्यादि का वर्णन हुआ है। इसके बाद विवृत्ति का लक्षण, उसके प्रकार तथा स्वरभक्ति का लक्षण, स्थान तथा प्रकार का निरूपण हुआ है।

तदनन्तर कतिपय परिस्थितियों में कुछ वर्णों के उच्चारण के समय, स्थान, करण तथा कुछ आगम सम्बन्धी विधान हैं। तत्पश्चात् कुछ परिस्थिति विशेष में अनुस्वार के गुँ उच्चारण का निर्देश हुआ है। तदनन्तर विसर्ग के आठ प्रकारों का निरूपण हुआ है। इसके बाद यकार के जकारोच्चारण तथा वकार एवम् हकार के प्रकारों का उल्लेख है। तत्पश्चात् कतिपय वर्णों के उच्चारण के विषय में विशेष निर्देश किया गया है। तदनन्तर रङ्ग तथा वर्णों की उच्चारण-प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। इसके बाद व्यञ्जनों के संयोग-पिण्ड तथा वर्णोच्चारण में बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयत्न, उनके उच्चारण स्थान, यम तथा द्वित्व का निरूपण किया गया है। अन्त में वेदाध्ययन-विषयक विधान उपलब्ध होते हैं।

याज्ञवल्क्य

याज्ञवल्क्य के विषय में शतपथब्राह्मण, शांखायन-आरण्यक तथा पुराणों में अनेक आख्यायें मिलती हैं। मत्स्यपुराण[1], वायुपुराण[2] तथा ब्रह्माण्डपुराण[3] के

1. द्रष्टव्य—मत्स्यपुराण, 197/4.
2. ,, —वायुपुराण, 91/98.
3. ,, —ब्रह्माण्डपुराण, 67/70.

अनुसार याज्ञवल्क्य विश्वामित्र गोत्रीय थे। किन्तु मत्स्यपुराण 199/6 के अनुसार इनका गोत्र वसिष्ठ था। भारतवर्ष के पश्चिमी भाग में सौराष्ट्र नाम का प्रान्त था। उसका एक भाग आनर्त नाम से प्रसिद्ध था, जिसकी राजधानी चमत्कारपुर थी। चमत्कारपुर, वृद्धनगर, आनन्दपुर, आनर्तपुर तथा वर्धमानपुर आदि नामों से प्रसिद्ध है। इसी के आसपास याज्ञवल्क्य का आश्रम था। जैसा कि स्कन्दपुराण से भी द्योतित होता है।[1] कतिपय विद्वान् याज्ञवल्क्य का जन्मस्थान मिथिला मानते हैं किन्तु स्कन्दपुराण 6/129/137 के अनुसार सूर्योपासना के उपरान्त सूर्य से वेदों का अध्ययन करने के बाद याज्ञवल्क्य को राजर्षि जनक ने बुलाया। तब वे मिथिला गये। ओल्डनवर्ग आदि विद्वानों के अनुसार याज्ञवल्क्य विदेह के रहने वाले थे किन्तु जनक द्वारा संरक्षण प्राप्त होने की कथा के अतिरिक्त उद्दालक और कुरुपाञ्चाल के साथ भी इनके सम्बन्ध के उल्लेख से यह तथ्य सन्दिग्ध हो जाता है। शतपथब्राह्मण की भूमिका में एगलिंग महाशय ने याज्ञवल्क्य के विदेहवासी होने में शङ्का व्यक्त की है। बृहदारण्यक के अनुसार याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं—कात्यायनी और मैत्रेयी[2] किन्तु स्कन्दपुराण के अनुसार कात्यायनी और कल्याणी दो पत्नियाँ थी।[3] कात्यायन याज्ञवल्क्य के पुत्र थे जो पारस्कर नाम से भी विख्यात थे।

याज्ञवल्क्य के दो गुरुओं का उल्लेख मिलता है—शाकल्य तथा वैशम्पायन। स्कन्दपुराण के अनुसार शाकल्य ने उन्हें ऋग्वेद का अध्ययन कराया। राजा आनर्तेश्वर के चातुर्मास्य यज्ञ को कराने हेतु गुरु के आदेश को न मानने के कारण क्रुद्ध होकर गुरु ने अपनी पढ़ायी गयी विद्या को त्याग देने के लिए कहा।[4] याज्ञवल्क्य ने गुरु की आज्ञा का पालन किया तथा गुरु से पढ़ी हुई विद्या को त्याग दिया। तदनन्तर बारह आदित्यों की स्थापना कर सूर्य से चारो वेदों का अध्ययन किया किन्तु ब्रह्माण्डपुराण, विष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवत के अनुसार गुरु शाकल्य

---

1. तथान्योऽपि च तत्रास्ति याज्ञवल्क्यसमुद्भवः।
 आश्रमो लोकविख्यातो मूर्खाणामपि सिद्धिदः॥
 यत्र तप्त्वा तपस्तीव्रं याज्ञवल्क्येन धीमता।
 सम्प्राप्ता निखिला वेदा गुरूणापहृताश्च ये॥
 —स्कन्दपुराण 6/129/1–2.
2. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2/4/1.
3. स्कन्दपुराण, 130/2–3.
4. स्कन्दपुराण, 6/278/40–92.

द्वारा अधीत विद्या का त्याग करके याज्ञवल्क्य ने अपने मामा वैशम्पायन से आद्य-यजुर्वेद पढ़ा। वहाँ भी गुरु से कलह हो गया और उन्होंने भी क्रुद्ध होकर अपनी अधीत विद्या त्याग देने को कहा। फलतः वहाँ भी याज्ञवल्क्य ने विद्या त्याग कर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने सूर्य की उपासना करके वेदों का अध्ययन किया। विष्णु-पुराण के अनुसार सूर्य ने अश्वरूप में याज्ञवल्क्य को उन यजुषों को पढ़ाया जो याज्ञवल्क्य के पूर्व किसी गुरु को ज्ञात नहीं थे।[1]

याज्ञवल्क्य नाम से प्रसिद्ध कृतियाँ ये हैं—शुक्लयजुर्वेदसंहिता, शतपथ-ब्राह्मण, याज्ञवल्क्य-स्मृति, याज्ञवल्क्य-शिक्षा तथा योगयाज्ञवल्क्यम्।

वासिष्ठी शिक्षा

यह शिक्षा गद्यरूप में उपनिबद्ध है जिसकी सर्वप्रथम एक कारिका में शिक्षा का वर्ण्यविषयक बतलाया गया है। इसमें शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिनसंहिता में विद्यमान ऋचाओं तथा यजुषों का विधान किया गया है। साथ ही साथ उनकी संख्या भी निर्दिष्ट है। यह शिक्षा सर्वानुक्रमणी का अनुसरण करने वाली है। जैसा कि उसी शिक्षा में उपलब्ध निर्देश से स्पष्ट है कि इसके अनुसार अनुक्रमणी में प्रतिपादित ऋचाओं तथा यजुषों के लक्षण के आधार पर इसमें ऋग्यजुष् का निर्धारण किया गया है।[2]

यह शिक्षा ग्रन्थ 40 खण्डों में विभक्त है। इसके प्रत्येक खण्ड में माध्य-न्दिन संहिता के 40 अध्यायों में विद्यामान अध्यायानुसार ऋचाओं तथा यजुषों का निर्देश दिया गया है। इसके अनुसार माध्यन्दिन संहिता में अध्याय क्रम से ऋक्यजुष् मन्त्रों की संख्या इस प्रकार है—

अध्याय	ऋचायें	यजुष्	अध्याय	ऋचायें	यजुष्
1	1	117	6	17	83
2	12	76	7	30	111
3	63 या 62	34 या 36	8	43	104
4	21 या 20	65 या 66	9	22	84
5	17	115	10	12	102

1. द्रष्टव्य—विष्णुपुराण, 3/5/58.
2. अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि वासिष्ठस्य मतं यथा।
सर्वानुक्रममुद्धृत्य ऋग्यजुषोस्तु लक्षणम्॥

अध्याय	ऋचायें	यजुष्	अध्याय	ऋचायें	यजुष्
11	76	26	26	25	15
12	114	12	27	44	01
13	52	87	28	00	46
14	17	154	29	57	32
15	46	90	30	03	177
16	33	129	31	22	00
17	95	11	32	25	00
18	36	368	33	119	00
19	94	30	34	62	00
20	84	14	35	21	06
21	28	33	36	20	21 या 22
22	13	113	37	05	31
23	58	24	38	13 या 14	52
24	00	40	39	02	107
25	43	25	40	17	07

उल्लेखनीय है कि शुक्लयजुर्वेद में उभमविध मन्त्रों का संकलन है। कुछ मन्त्र ऋक् हैं तथा कुछ यजुष्। शुक्लयजुर्वेद के अध्येता को इसमें विद्यमान ऋग्यजुष्-विषयक सन्देह-निवारण के लिए शिक्षाकार ने उनका निर्देश कर दिया है। इसके कर्ता वसिष्ठ ऋषि माने जाते हैं।

कात्यायनी शिक्षा

इस शिक्षा की रचना कारिका रूप में हुई है। इसमें कुल 13 कारिकायें हैं। इसका वर्ण्यविषय स्वर है। इसमें सर्वप्रथम स्वरित का लक्षण बतलाया गया है तत्पश्चात् स्वरों की सन्धि का विधान किया गया है। तदनन्तर प्रचय और उदात्त को बतलाया गया है। इस शिक्षा पर जयन्त स्वामी का विस्तृत स्पष्ट तथा प्रामाणिक भाष्य उपलब्ध होता है। कात्यायनी शिक्षा जयन्तस्वामी के भाष्य के साथ "शिक्षासंग्रह" में प्रकाशित है।

इसके कर्त्ता आचार्य कात्यायन हैं जिनका परिचय स्वरभक्तिलक्षण-परिशिष्ट शिक्षा के सन्दर्भ में दिया गया है।

पाराशरी शिक्षा

यह शिक्षा कारिकारूप में उपनिबद्ध है। इसमें कारिकाओं की कुल संख्या 160 है। यह शिक्षा अपने को सभी शिक्षाओं में श्रेष्ठ बतलाती है।[1] इस शिक्षा का प्रारम्भ मङ्गलार्थक अथ शब्द से हुआ है। सर्वप्रथम इस शिक्षा की श्रेष्ठता का कथन हुआ है। तत्पश्चात् प्रणव (ऊँकार) के उच्चारण में लगने वाले समय, उसके देवता, रूप, वर्ण, स्थान तथा गुण का कथन हुआ है। पुनः शुक्लयजुर्वेदीय काण्वसंहिता के पाँच कण्डिकाओं में अक्षरों की संख्या तथा उनमें आये हुए मन्त्रों में अक्षरों की संख्या का निर्देश हुआ है। तदनन्तर मात्राकाल का निरूपण हुआ है। मात्रा के आधार पर वर्णों का विभाजन दो भागों—दीर्घ तथा क्षिप्र में किया गया है। इस प्रकार इसमें ह्रस्व के स्थान पर क्षिप्र संज्ञा प्रयुक्त है। तत्पश्चात् अनुस्वार के दो भेदों—ह्रस्व तथा दीर्घ का निर्देश हुआ है।

माण्डवी शिक्षा

यह शिक्षा माण्डव्य ऋषि की रचना मानी जाती है। इसमें शुक्लयजुर्वेदीय उन-उन शब्दों का संकलन किया गया है जिनमें बकार आते हैं। बकार-युक्त पदों के ज्ञान से वकारयुक्त पदों में होने वाले सन्देह का स्वतः निराकरण हो जाता है। अतएव पवर्गीय "वा" एवम् अन्तःस्थ "वा" में होने वाले भ्रम के निवारणार्थ ही यह शिक्षा कृतसंकल्प है।

अमोघानन्दिनी शिक्षा

कारिकारूप में उपनिबद्ध इस शिक्षा में 130 कारिकायें हैं। इस शिक्षा का प्रारम्भ मङ्गलार्थक अथ शब्द से हुआ है। इसमें सर्वप्रथम कहा गया है कि इस शिक्षा के श्रवणमात्र से व्यक्ति सर्वत्र वाग्युद्ध में विजय प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि इस शिक्षा में प्रतिपादित विधानों को श्रवण करके अभ्यास करना चाहिए। इस अभ्यास से ही वेद के उच्चारण में व्यक्ति सफल हो सकता है।

इस शिक्षा में बकार तथा वकार में सन्देह के स्थलों को निर्दिष्ट किया गया है। तत्पश्चात् वकार के गुरु, लघु तथा लघुतर—इन तीन भेदों का प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद नाद संज्ञा का विधान किया गया है। इसमें

---

1. या देवेषु विश्वात्मा यथा तीर्थेषु पुष्करम् ॥
   तथा पाराशरी शिक्षा सर्वशास्त्रेषु गीयते ॥

—पाराशरी शिक्षा 1 उ०; 2 पू०

सर्वाधिक विशेष विधान एकमात्रिक ह्रस्व वर्णों के लिए क्षिप्र संज्ञा का प्रयोग है। तदनन्तर यम का विवेचन किया गया है।

इसके बाद संहिता के कुछ स्थलों पर संवत्सर, परिवत्सर इत्यादि की उच्चारण-विधि का निर्देश हुआ है। अन्त में शुद्ध उच्चारण का महत्त्व, सम्प्रदाय का अत्याग इत्यादि साम-विषयक प्रतिपादन हुआ है।

इस शिक्षा के कर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं है।

माध्यन्दिनशिक्षा

इस शिक्षा के कुछ विधान कारिकात्मक तथा कुछ विधान सूत्रात्मक हैं। सर्वप्रथम स्वर तथा वर्ण से हीन मन्त्र के प्रयोग से अनर्थ के होने का विधान किया गया है। तत्पश्चात् द्वित्व-विषयक विधान हुआ है। द्वित्व के विधान के पश्चात् यम का विवेचन हुआ है। इसके बाद शुक्लयजुर्वेद के कतिपय खकार-युक्त पदों का निर्देश हुआ है। अन्त में शुक्लयजुर्वेदसंहिता के गलित पदों का उल्लेख हुआ है। इसके अनुसार इस संहिता में गलित पदों का संख्या इस प्रकार है—

अध्याय	गलितपद	अध्याय	गलितपद	अध्याय	गलितपद	अध्याय	गलितपद
1	00	11	78	21	57	31	00
2	33	12	108	22	21	32	00
3	62	13	53	23	57	33	87
4	00	14	25	24	00	34	57
5	41	15	54	25	44	35	18
6	52	16	63	26	25	36	13
7	44	17	92	27	44	37	13
8	58	18	69	28	00	38	26
9	39	19	93	29	00	39	00
10	32	20	81	30	53	40	13

इस प्रकार इस शिक्षा के अनुसार शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिन संहिता में 1605 गलितपद हैं।

कर्त्ता

इस शिक्षा के प्रणेता महर्षि माध्यन्दिन हैं। ये माध्यन्दिन-शिक्षा के कर्त्ता के साथ वैयाकरण भी हैं।

वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा

यह शिक्षा कारिका रूप में उपनिवद्ध है जिसमें कुल 227 कारिकायें हैं। प्रारम्भ में शिक्षाकार ने मङ्गलार्थ तथा ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए भगवान् कृष्ण से प्रार्थना की है। तत्पश्चात् ग्रन्थकार ने अपना परिचय दिया है इस शिक्षा का मुख्य प्रतिपाद्य विषय पाठ की शुद्धता हेतु वर्णों के उच्चारणादि-विषयक ज्ञान को देना है जैसा कि ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है कि मन्द बुद्धि वालों को वेदपाठ की शुद्धता के लिए वर्णों के ज्ञान हेतु प्रातिशाख्य के अनुसार में शिक्षा का कथन कर रहा हूँ।[1] मन्त्रों के अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए उनका सस्वर शुद्ध पाठ आवश्यक है। स्वर तथा वर्ण से हीन किया गया मन्त्र अशुभ सूचक होता है। इसमें वेदों के अध्ययन-अध्यापन, श्रवण तथा उसके वर्ण, अक्षर इत्यादि के ज्ञान से धर्म होने का उल्लेख हुआ है। वेद में प्रयुक्त वर्णों के उच्चारण स्थान, करण, मात्रा तथा सम्यगुच्चारण का ज्ञान वेदाध्येता के लिए अत्यावश्यक है।

तत्पश्चात् वर्णमाला में स्वीकृत स्वरों तथा व्यञ्जनों की संख्या का निर्देश किया गया है। इसके अनुसार स्वरों की संख्या 21 तथा व्यञ्जनों की संख्या 42 हैं। तदनन्तर व्यञ्जनों के अन्तर्गत स्पर्श, अन्तःस्थ, ऊष्म, यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय संज्ञायें निर्दिष्ट की गयी हैं। इसमें दो स्वरों के मध्य में स्थित डकार तथा ढकार को द्विस्पृष्ट वतलाया गया है। तदनन्तर अघोष व्यञ्जनों के लिए जित् संज्ञा, हकार व्यतिरिक्त ऊष्म वर्णों के लिए मुत्, तद्व्यतरिक्त व्यञ्जन अर्थात् सघोष व्यञ्जन के लिए घि संज्ञा का विधान हुआ है।

इन संज्ञाओं के विधान के बाद वर्णों के उच्चारण में लगे समय का विवेचन हुआ है। तदनन्तर वर्णों के स्थान, करण तथा एकार, ओकार, ऐकार तथा औकार के स्वरूप के विषय में विचार किया गया है। तदनन्तर वर्णों के उच्चारण में आभ्यन्तर प्रयत्न, अङ्गाङ्गिभाव, द्वित्व, स्वरभक्ति, स्वरितस्वर के भेद तथा उनके स्वरूप, कम्प, हस्तचालन द्वारा स्वरप्रदर्शन तथा स्वरों की सन्धि का विवेचन है।

तदनन्तर संस्कार का विवेचन है। संस्कार के अन्तर्गत लोप, आगम, विकार तथा प्रकृतिभाव का विस्तृत विधान किया गया है तथा उनके उदाहरण

---

1. सोऽहं शिक्षां प्रवक्ष्यामि प्रातिशाख्यानुसारिणीम्।
   बालानां पाठशुद्ध्यर्थं वर्णज्ञानादिहेतवे ॥3॥

भी प्रस्तुत किये हैं। तत्पश्चात् द्वित्व-विषयक विधान है। इसमें द्वित्व न होने के स्थलों का भी सम्यक् विवेचन है। इसके बाद यम का बड़ा ही ध्वनिवैज्ञानिक वर्णन उपलब्ध होता है।

तदनन्तर स्फोटन का विवेचन है। इस स्फोटन के कारण द्विन्व नहीं होता है। तदनन्तर आगम का विधान प्रस्तुत है। इसके बाद अयादि सन्धि का निर्देश तथा उस अयादि के यकार, वकार के लोप तथा लोप के पश्चात् सन्धि के अभाव का विवेचन हुआ है। वकार के तीन प्रकारों के उल्लेख के पश्चात् स्वरवर्णों तथा पदों के देवता, गोत्र, वर्ण, इत्यादि का विवेचन हुआ है।

वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा की विशेषतायें

इस शिक्षा का प्रतिपादन प्रातिशाख्य (वाजसनेयि प्रातिशाख्य) के अनुसार हुआ है[1] जैसा कि शिक्षाकार ने स्वयं इसका समर्थन किया है। शुद्ध उच्चारण की श्रेष्ठता तथा वेदाध्ययन के महत्त्व का प्रतिपादन भी हुआ है। प्रातिशाख्य के अनुसार इसकी रचना होने से शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य के अनुसार ही इसमें सिम्, जित्, घि, मुत् इत्यादि संज्ञाओं का विधान किया गया है।[2] इसमें स्वरों के बीच में स्थित डकार तथा ढकार के विकृत रूप क्रमशः ळकार तथा ळहकार के लिए दुःस्पृष्ट संज्ञाओं का विधान किया गया है।[3] अकारव्यतिरिक्त समानाक्षरों के लिए भावी संज्ञा का विधान हुआ है। इन संज्ञाओं का विधान अन्य शुक्ल-यजुर्वेदीय शिक्षा ग्रन्थों में नहीं मिलता है। सन्धि के लिए इसमें संस्कार संज्ञा का प्रयोग किया गया है[4] तथा उसके अन्तर्गत लोप, आगम, विकार तथा प्रकृति-भाव—इन चार स्थितियों का विधान किया गया है।[5] इसमें व्यञ्जन-सन्धि का सविस्तार विवेचन किया गया है। इसमें व्यञ्जनों के लोप, आगम, विकार तथा प्रकृतिभाव का जितना विस्तृत विवेचन है उतना अन्य शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं में नहीं मिलता।

कर्त्ता

इस शिक्षा में शिक्षाकार का नाम तथा उसके वंश का उल्लेख उपलब्ध होता है। यह परिचय शिक्षाकार द्वारा स्वयं शिक्षा के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के

1. सोऽहं शिक्षां प्रवक्ष्यामि प्रातिशाख्यानुसारिणीम् ॥3 पू०॥
2. द्रष्टव्य 18, 19।
3. द्विःस्पृष्टता विज्ञेया डढयो स्वरमध्ययो ॥15 उ०॥
4. द्रष्टव्य–5
5. द्रष्टव्य–106।

बाद किया गया है। उसके अनुसार इस शिक्षा के कर्त्ता आचार्य अमरेश हैं। अमरेश का वंश भारद्वाजगोत्रीय, प्रतिष्ठित तथा प्रख्यात था।

केशवी शिक्षा

यह शिक्षा सूत्र रूप में उपनिबद्ध है। इसमें सूत्रों की कुल संख्या 09 है। प्रथम सूत्र में पदादि वकार के द्वित्व, द्वितीय सूत्र में पदों के अन्त तथा मध्य में विद्यमान यकार के तत्व के रूप में उच्चारण, तृतीय सूत्र में पद के अन्त तथा मध्य में विद्यमान षकार के खकार के रूप में उच्चारण, चतुर्थ सूत्र में शल् (हकार व्यतिरिक्त ऊष्म) से परवर्ती रेफ का एकार सहित (रे के रूप में) उच्चारण करने, पाँचवें सूत्र में रेफ तथा शल् बाद में होने पर अनुस्वार के गूँ होने, छठें सूत्र में द्वित्व, सातवें सूत्र में द्वित्व-निषेध, आठवें—सूत्र में ऋकार के रेफ सहित एकार (रे के रूप में) उच्चारण करने तथा नवें सूत्र में पदों के अन्त तथा मध्य में विद्यमान ह्रस्व को कुछ दीर्घता के साथ उच्चारण करने का विधान है। इस शिक्षा पर एक भाष्य भी उपलब्ध होता है। इस भाष्य के अनुसार इन नव सूत्रों में प्रतिपादित विधानों को छः कारिकाओं में भी प्रस्तुत किया गया है। इसका उल्लेख तथा कारिकाओं को इस शिक्षा के भाष्य में उद्धृत किया गया है। परन्तु भाष्यकार के नाम का पता नहीं है। यह शिक्षा प्रतिज्ञासूत्र का अनुसरण करने वाली है।

कर्त्ता

इस शिक्षा के कर्त्ता दैवज्ञ केशव हैं। इन्हीं के नाम पर इस शिक्षा का नाम केशवी शिक्षा पड़ा है। इस शिक्षा के भाष्य से यह स्पष्ट होता है कि जो इसके सूत्रों में प्रतिपादित विधानों के लिए कारिका उपलब्ध है उसके भी कर्त्ता दैवज्ञ केशव ही हैं।

मल्लशर्मकृत शिक्षा

कारिकात्मक इस शिक्षा में कुल पैंसठ श्लोक हैं। प्रथम तथा द्वितीय श्लोक में भगवान् श्री गणेश से मङ्गल के लिए प्रार्थना की गयी है। तदनन्तर मनोहर नामक गुरु के पादों का स्मरण किया गया है तथा शिक्षा के वर्ण्य-विषय का उल्लेख किया गया है। उसमें कहा गया है कि इस शिक्षा में वाजसनेयिशाखाध्येताओं के लिए हस्त स्वर प्रक्रिया का प्रतिपादन किया जा रहा है। यह हस्त स्वर प्रक्रिया का विधान मूर्खों के लिए नहीं है।[1] इसके बाद इसमें वेदाध्ययन के आदि तथा अन्त

1. मल्लशर्मकृतशिक्षा 5 1, 2।

में प्रणव (ऊँकार) के उच्चारण करने तथा उसके उच्चारण से होने वाले लाभ तथा उच्चारण न करने से होने वाली हानि का उल्लेख हुआ है । तत्पश्चात् अध्ययन करने की विधि का वर्णन है । उक्त विधान के अनुसार अध्ययन न करने से होने वाली हानि का विवेचन किया गया है तथा तत्सम्बद्ध याज्ञवल्क्यशिक्षा और शुक्ल-यजुर्वेद-प्रातिशाख्य के कर्त्ता का भी मत प्रस्तुत किया गया है । इस हानि से वचने के लिए हस्तस्वरवर्णयुक्त वेद का अध्ययन करना चाहिए । तत्पश्चात् स्वरों के मूल स्थान का निर्देश किया गया है । पुनः स्वरों के प्रदर्शन के लिए हाथ की स्थिति का वर्णन हुआ है । तत्पश्चात् विसर्जनीय के उच्चारण तथा अँगुलियों द्वारा उसके प्रदर्शन का विधान किया गया है । तत्पश्चात् अंकार (अनुस्वार) के भेदों का निरूपण हुआ है । तत्पश्चात् संहिता में रेखाओं द्वारा उदात्तादि स्वरों को प्रदर्शित एवम् उनके पहचान का निरूपण हुआ है ।

षोडशश्लोकी शिक्षा

यह शिक्षा भी कारिका रूप में उपनिबद्ध है जिसमें कारिकाओं की कुल संख्या 16 है । 16 संख्यात्मक होने के कारण इसका नाम षोडशश्लोकी शिक्षा रखा गया है । इसमें सर्वप्रथम वर्णों की संख्या का निर्देश हुआ है । तत्पश्चात् स्वरों के मात्रा के आधार पर तीन प्रकार तथा सानुनासिक एवम् निरनुनासिक के आधार पर दो भेदों, फिर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के आधार पर तीन-तीन भेदों का निरूपण हुआ है । इसकी सवसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें वर्ण-माला का ग्रहण पाणिनि-सूत्रों के आधार पर किया गया है । इसके भी कर्ता का नाम अज्ञात है ।

अवसाननिर्णय शिक्षा

यह शिक्षा गद्य रूप में उपनिबद्ध है । सर्वप्रथम एक मङ्गल स्तुति की गयी है जो श्लोकात्मक है । इसमें गणेश जी की वन्दना की गयी है । द्वितीय कारिका श्लोक का अर्धांश ही है जिसमें शिक्षाकार की प्रतिज्ञा है कि इसमें "अवसान को बतलाने जा रहा हूं ।"[1] यह अवसान का निर्णय पूर्ववर्ती आचार्यों के मतानुसार किया गया है ।[2] यह शिक्षा 14 खण्डों में विभक्त है । प्रथम खण्ड में एक मङ्गलार्थक श्लोक है । द्वितीय खण्ड में अवसान को बतलाने की प्रतिज्ञा की गयी

---

1. नमस्कृत्य तु तं देवं शङ्करस्य सुतं प्रभुम् ।
   यस्य प्रसादाद्देवस्य बुद्धिभेदोऽन्यभून्मम ॥1॥
2. अवसानान्तु वक्ष्यामि तथावदनुपूर्वश ॥2॥

है। तृतीय, चतुर्थ खण्ड में अन्त्यावसान वाले मन्त्रों की सूची दी गयी है। पञ्चम, षष्ठ तथा सप्तम खण्ड में त्र्यवसान; अष्टम खण्ड में चतुरवसान; नवम तथा दशम खण्ड में निरवसान; एकादश खण्ड में मध्यावसान, द्वादश खण्ड में पञ्चावसान, त्रयोदश खण्ड में षडवसान तथा चतुर्दश खण्ड में नवावसान वाले मन्त्रों की सूची दी गयी है।

इसके अनुसार शुक्लयजुर्वेद संहिता में 1493 अवसान, जिनमें 233 अन्त्यावसान, 150 त्र्यवसान, 32 चतुरवसान; 56 निरवसान; पाँच मध्यावसान; दो पञ्चावसान, दो षडवसान तथा दो नवावसान होते हैं। इस प्रकार कुल 1975 अवसान हैं।

कर्त्ता

इसके कर्त्ता अनन्तदेव हैं किन्तु इस शिक्षा में उनके परिचय के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्ट शिक्षा

यह शिक्षा कारिका रूप में उपनिबद्ध है जिसमें 42 कारिकायें हैं। इसका प्रारम्भ अथ शब्द से हुआ है जो मङ्गलार्थक है। सर्वप्रथम इसमें स्वरित के भेदों तथा उनके लक्षण का प्रतिपादन हुआ है। इसके अनुसार स्वरित के आठ भेद हैं। स्वरित भेदों के अनन्तर द्वित्व-विषयक विधान हुआ है। तत्पश्चात् अनुस्वार का स्वरूप तथा उसके ह्रस्व या दीर्घ दो भेदों का विधान भी हुआ है।

इसमें सन्धि के चार भेदों—लोप, आगम, विकार तथा प्रकृति-भाव के उल्लेख के साथ विवृत्ति के चार प्रकारों—पिपीलिका, पाकवती, वत्सानुसारिणी तथा वत्सानुसृजिता के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। तदनन्तर स्वर-भक्ति के भेद, लक्षण तथा उदाहरण सहित प्रस्तुत किये गये हैं। इसके अनुसार स्वर-भक्ति पाँच प्रकार की होती हैं—कारिणी, कुर्विणी, उपल्हा, हरिणी तथा हंसपदा।

कर्त्ता

इस शिक्षा के कर्त्ता महर्षि कात्यायन हैं। वस्तुतः आत्मख्यापन प्राचीन भारतीय आचार्यों का स्वभाव नहीं था। आचार्य कात्यायन भी इसके अपवाद नहीं हैं। इनके विषय में कतिपय उल्लेख प्राप्त होते हैं। इन उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि ये याज्ञवल्क्य के पुत्र थे; जो याज्ञवल्क्य की कात्यायनी नामक पत्नी से उत्पन्न

हुए थे। ये यज्ञ-विद्या के विचक्षण विद्वान् तथा वेद-सूत्रों के रचयिता थे। इनके वररुचि नामक पुत्र भी था।[1] ये आचार्य शौनक के शिष्य तथा आश्वलायन के सतीर्थ थे।[2]

आचार्य कात्यायन के नाम से प्रणीत वाजसनेयिप्रातिशाख्य भी है। वाजसनेयिप्रातिशाख्यकार कात्यायन ने ही पाणिनि अष्टाध्यायी पर वार्तिक लिखा अथवा दोनों अलग-अलग दो कात्यायन थे—इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। कतिपय विद्वान् दोनों कृतियाँ एक ही आचार्य की बतलाते हैं तथा कुछ लोगों के अनुसार दोनों अलग-अलग कात्यायन हैं किन्तु वाजसनेयि-प्रातिशाख्यकार तथा वार्तिककार कात्यायन को एक मानना समीचीन प्रतीत नहीं होता; क्योंकि भाषा, शैली तथा प्रौढ़ता की दृष्टि से वाजसनेयिप्रातिशाख्य अष्टाध्यायी से पहले की रचना सिद्ध होती है जबकि वार्तिक पाणिनि के बाद लिखा गया। अतः स्पष्ट है कि वाजसनेयिप्रातिशाख्यकार कात्यायन पाणिनि से पूर्ववती हैं तथा वार्तिककार कात्यायन परवर्ती। पाणिनि से पूर्ववर्ती होने के कारण वाजसनेयिप्रातिशाख्यकार कात्यायन का समय ई० पू० 500 से पहले ही होगा किन्तु वार्तिककार कात्यायन इसके बाद के होंगे।

स्वरभक्तिलक्षण-परिशिष्ट के कर्त्ता कात्यायन तथा वाजसनेयिप्रातिशाख्यकार कात्यायन की अभिन्नता होनी चाहिए क्योंकि कात्यायन ने शुक्लयजुर्वेद-विषयक कई ग्रन्थों की रचनायें की हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र आचार्य कात्यायन का कल्पसूत्र है। पारस्करगृह्यसूत्र भी कात्यायन की ही रचना है क्योंकि पारस्कर तथा कात्यायन नामधारी एक ही आचार्य थे। यह शिक्षा भी इसी आचार्य की रचना थी—ऐसा प्रतीत होता है।

---

1. एवं सिद्धिसमापन्नो याज्ञवल्क्यो द्विजोत्तमः··· ।
कात्यायनं सुतम् प्राप्य वेदसूत्रस्य कारकम् ॥
स्कन्दपुराण ना० खं० 130/37–71
कात्यायनाभिधं च यज्ञविद्याविचक्षणम् ।
पुत्रो वररुचिर्यस्य बभूव गुणसागरम् ॥—वही 131/48

2. शौनकस्य शिष्योऽभूद् भगवानाश्वलायनः···।
शौनकस्य प्रसादेन कर्मज्ञः समपद्यत ॥
कात्यायनः मुनिः वाणीनां सूत्रकृद् ।
समाम्नायमुपग्रन्थस्य कारकम् ॥
—ऋक्सर्वानुक्रमणीः षड्गुरुशिष्यकृत-भूमिका

क्रमसन्धान-शिक्षा

यह शिक्षा गद्यात्मक है। सर्वप्रथम एक कारिका में इस शिक्षा का वर्ण्य-विषय बतलाया गया है। इसमें क्रमपाठ में होने वाले सङ्क्रमों में क्रमसन्धानों को गिनाया गया है। इसके अनुसार कुल क्रमसन्धानों की संख्या 115 है। अध्याया-नुसार क्रमसन्धानों की संख्या इस प्रकार है—

अध्याय	क्रमसन्धानों की संख्या	अध्याय	क्रमसन्धानों की संख्या
1	42	21	00
2	19	22	02
3	03	23	03
4	00	24	00
5	07	25	00
6	00	26	00
7	02	27	00
8	00	28	02
9	02	20	00
10	00	30	00
11	02	31	00
12	01	32	00
13	40	33	00
14	03	34	00
15	08	35	00
16	00	36	02
17	00	37	02
18	02	38	01
19	00	39	00
20	04	40	04

इस प्रकार इसमें शुक्लयजुर्वेद-संहिता में होने वाले क्रम-सन्धानों को एक-एक करके गिनाया गया है। ये क्रम-सन्धान क्रमपाठ की दृष्टि से अत्यन्त उप-योगी तथा महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः गलित अथवा ऋचाओं अथवा यजुषों के पदपाठ

तथा क्रमपाठ को एक स्थल पर निर्देश करके अन्यत्र उनको छोड़ दिया जाता है। उनका पदपाठ अथवा क्रमपाठ नहीं करते। क्रमपाठ में पदपाठ के साथ-साथ संहिता का भी रूप प्रस्तुत होता है किन्तु उसमें भी गलित पदों को छोड़कर ही क्रम से संहिता (सन्धान) की जाती है। उन्हीं क्रम-सन्धान के स्थलों को इस शिक्षा में निर्दिष्ट किया गया है।

इस शिक्षा के कर्त्ता के परिचय की बात तो दूर रही, हम उनका नाम तक नहीं जानते। शिक्षाकार ने शिक्षा में अपना नामोल्लेख भी नहीं किया है।

गलदृक्-शिक्षा

जैसा नाम से ही स्पष्ट है कि इस शिक्षा में शुक्लयजुर्वेद में उपलब्ध ऐसी ऋचाओं की गणना प्रस्तुत की गयी है जो गलत् हैं। गलत् ऋचाओं अथवा पदों को पदपाठ अथवा क्रमपाठ में छोड़ दिया जाता है। उनका परित्याग करके ही पदपाठ तथा क्रमपाठ का निर्माण किया जाता है। ऐसी अवस्था तब आती है जब किसी ऋचा अथवा पद का संहिता में एकाधिक बार पाठ होता है। प्रथम स्थल पर तो उनका पदपाठ अथवा क्रमपाठ किया जाता है, किन्तु तदतिरिक्त स्थल पर उन्हें छोड़ दिया जाता है। जिन स्थलों पर यह त्याग होता है उन स्थलों को गलत् कहा जाता है। समस्त ऋचा, पद अथवा पद-समूह गलत् होता है। इन गलत् स्थलों को प्रस्तुत करना ही इस शिक्षा का उद्देश्य है। अतः किन अध्यायों में गलित् ऋचायें अनुपलब्ध हैं तथा किन में किन-किन स्थलों पर गलित् ऋचायें उपलब्ध होती हैं, इनकी गणना प्रस्तुत की गयी है। इसके भी कर्त्ता का नाम अज्ञात है।

प्रातिशाख्य-प्रदीपशिक्षा

जैसा नाम से ही स्पष्ट है कि यह शिक्षा वाजसनेयिप्रातिशाख्य में प्रतिपादित तथ्यों को प्रकाशित करने वाली हैं। इसमें शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य के सूत्रों को उद्धृत करके उनकी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। आवश्यकतानुसार या० शि० पारा० शि०, ल० मा० शि०, केशवी शि० तथा अमोघानन्दिनी शि० के मतों को भी उद्धृत किया गया है। इन शिक्षाकारों के मतों का उल्लेख वा० प्रा० के सूत्रों की व्याख्या तथा उनके स्पष्टीकरण के लिए किया गया है।

इस शिक्षा के निम्नलिखित खण्ड हैं—

(1) वेदाध्ययन-विचार

इसमें या० शि० की कारिकाओं को उद्धृत किया गया है, जिसमें सर्वप्रथम वेदारम्भ के पहले प्रणव तथा तत्पश्चात् व्याहृतियों के उच्चारण का विधान

हुआ है। तत्पश्चात् वेद के अध्ययन के लिए बैठने के प्रकार, गुरु की अनुमति, एकाग्रचित्तता, उच्चारण के प्रकार तथा हस्तचालन इत्यादि का विवेचन हुआ है। तत्पश्चात् वर्णों के उच्चारण तथा हस्तचालन-विषयक दोषों का निरूपण हुआ है।

(2) स्वर-विचार

इसमें उदात्तादि स्वरों का लक्षण तथा उच्चारण-प्रकार बतलाया गया है जिसके लिए वा० प्रा० के सूत्रों को उद्धृत किया गया है। तत्पश्चात् स्वरित के भेदों तथा उनके लक्षणों के विषय में वा० प्रा० के सूत्रों को उद्धृत करके या० शि० की कारिकाओं को उद्धृत किया गया है। अन्त में प्रचय के स्थल तथा उच्चारण का निरूपण किया गया है।

(3) सन्धि-विचार

इसमें वा० प्रा० में प्रतिपादित सन्धि-विषयक सूत्रों को उद्धृत करके उनकी व्याख्या सोदाहरण प्रस्तुत की गयी है जिसमें स्वर, व्यञ्जन तथा विसर्ग सन्धियों का सविस्तार विवेचन हुआ है। इसमें वा० प्रा० के 324 सूत्रों का उद्धरण प्रस्तुत है। अन्त में शुक्लयजुर्वेद-संहिता में स्वर-भक्ति के उच्चारण प्रकार, यकार के जकारोच्चारण तथा षकार के खकारोच्चारण-विषयक विधान प्रस्तुत हैं।

इस शिक्षा के कर्ता बालकृष्ण गोडशे हैं।

यजुर्विधानशिक्षा

यह शिक्षा गद्य-रूप में उपनिबद्ध है। इसमें छः अध्याय हैं। अध्यायों का अवान्तर विभाग है। प्रत्येक विभाग को कण्डिका कहते हैं। इस प्रकार अध्यायों का विभाजन कण्डिकाओं में हुआ है। इसके प्रथम अध्याय में ग्यारह, द्वितीय अध्याय में नव, तृतीय अध्याय में बारह, चतुर्थ अध्याय में दस, पञ्चम अध्याय में बारह तथा षष्ठ अध्याय में पाँच कण्डिकाएँ हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ में कुल उन-सठ कण्डिकाएँ हैं। इन कण्डिकाओं में यजुर्वेदीय मन्त्रों का विनियोग बतलाया गया है। जैसा कि इसमें शिक्षाकार ने सर्वप्रथम प्रतिज्ञा की है कि अब मन्त्रों के अनुष्ठान-कल्पन की व्याख्या करूँगा जो वसिष्ठादि ब्रह्मर्षियों द्वारा अनुष्ठित है।[1] इस शिक्षा में आज्य के साथ-साथ, अश्वत्थ, अपामार्ग आदि की समिधायें दी जाती

1. अथातो मन्त्राणामनुष्ठानकल्पनं वसिष्ठादिभिर्ब्रह्मर्षिभिरनुष्ठितमनुव्याख्यास्यामः....। (यजु० शि० 1/1)

हैं। समिधाओं, मधु, घृत, पीपल, दधि इत्यादि का भी उपयोग किया जाता हैं। कार्य-विशेष की सिद्धि हेतु समिधाओं को रक्त तथा विष में भी सिक्त कर आहुतियाँ दी जाती है। मन्त्रों के जप करने से भी कार्य-सिद्धि होने का उल्लेख किया गया है। इसमें मन्त्रों के जप की संख्या भी दी गयी है। आहुतियों के लिए प्रयुक्त की जाने वाली वस्तुओं तथा कर्त्ता की शुद्धि का विधान भी किया गया है।

मन्त्रोच्चारण करते समय ओंकार के उच्चारण की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। इस ओंकार के उच्चारण के साथ-साथ देवताधन हेतु "भुर्भुवः स्वः" इन तीन महाव्याहुतियों का भी उच्चारण आवश्यक है।

इन होमों तथा जपादि कार्य करने से पूर्व कर्त्ता यजमान को पवित्रतापूर्वक बारह, छः अथवा तीन दिनों तक ब्रह्मचर्य तथा व्रत धारण करके कर्माङ्गो को करने का विधान किया गया है।[1] ये कार्य देवताओं को प्रसन्न करने हेतु, तेजस्विता हेतु, जनमरण या जनक्षय निवारण हेतु, अन्न, धन, पुत्र, यश, विद्या इत्यादि के प्राप्त्यर्थ, राजा को वशीभूत करने हेतु, सुवृष्टि हेतु, दीर्घायु-प्राप्ति के लिए, पशुवृद्धि-निमित्त, पुत्रोपलब्धि हेतु, सोमयाजी होने के लिए अभिचार-हेतु, इच्छितकन्या-प्राप्ति निमित्त, शान्ति-स्थापन निमित्त, शत्रुविनाशार्थ, रोगक्षयार्थ, भूतप्रेतपिशाचों से रक्षा के लिए, पाप-विनाश निमित्त तथा अभीष्ट कामना-सिद्धि-हेतु प्रतिपादित किये गये हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि यह शिक्षा अभीष्ट कामना की सिद्धि हेतु यजुर्वेदीय मन्त्रों द्वारा किये गये होम तथा जपादि का वर्णन प्रस्तुत करती है। यजुर्वेदीय शिक्षाओं में यह मात्र एक शिक्षा है जो इन प्रकार के कार्यों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का निर्देश कार्य-विधि सहित प्रतिपादित करती है।

प्राचीन आचार्यों के समान इस शिक्षाकार ने विषय-वस्तु का प्रतिपादन ही अपना लक्ष्य रखा है। अपने विषय में कुछ भी उल्लेख इस शिक्षा में नहीं किया गया है।

स्वराङ्कुश-शिक्षा

यह शिक्षा कारिकाओं में उपनिबद्ध है। इसमें कारिकाओं की संख्या 25 है। इसमें उल्लिखित तथ्य के आधार पर इस शिक्षा में कारिकाओं की संख्या इक्कीस ही है। इसमें उदात्तादि स्वरों का विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम प्रथम

1. द्रष्टव्य—यजुर्विधान शि० 1/1।

कारिका में गणेश, श्रेष्ठ कवियों (पूर्ववर्ती ऋषियों), भगवात् शंकर, सूर्य देवता, भगवान् विष्णु, गुरुदेव तथा वाणी की अधिष्ठातृ देवी सरस्वती देवी को नमस्कार किया गया है। तत्पश्चात् स्वरित का लक्षण तथा उसके भेदों—जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, प्रश्लिष्ट, पादवृत्त—इन सात भेदों का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् स्वरित में उदात्त तथा अनुदात्त अंशों का निर्देश हुआ है। इसके बाद कम्प का विधान किया गया है।

कर्त्ता

स्वराङ्कुश-शिक्षा में इसके कर्ता का नाम निर्दिष्ट है। इसमें जयन्त स्वामी को इस शिक्षा का कर्त्ता बतलाया गया है।[1] कतिपय विद्वान् रावण को इसका कर्त्ता मानते हैं किन्तु यह तथ्य निराधार है क्योंकि शिक्षाकार ने स्वयं इस शिक्षा के कर्त्ता के रूप में अपने नाम का निर्देश किया है किन्तु अपने जीवन-परिचय तथा व्यक्तित्व, कृतित्व का कुछ भी उल्लेख नहीं किया है।

स्वराष्टकशिक्षा

यह शिक्षा गद्यात्मक है जिसमें सूत्र हैं। इसका निर्माण सूत्रात्मक शैली में हुआ है। सम्पूर्ण शिक्षा को छः भागों में बाँटा जा सकता है—अच्-सन्धि, स्वर, हस्तप्रक्षेप, हल्सन्धि, विसर्ग-सन्धि तथा वर्णमाला। अच्-सन्धि-प्रकरण में 20; स्वरऽप्रकरण में 50; हस्तप्रक्षेप प्रकरण में 4; हल्सन्धि प्रकरण में 17, विसर्ग सन्धि प्रकरण में 11 तथा वर्णमाला प्रकरण में 14 सूत्र हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ में कुल 86 सूत्र हैं।

वियय-विवेचन

प्रथम अध्याय का प्रारम्भ मङ्गलार्थक '-श्रीहरिः" शब्द से हुआ है। इसमें सर्वप्रथम अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ—इन स्वरों का उल्लेख करते हुए इनकी संख्या 8 बतलायी गयी है और इन्हीं आठ संख्यात्मक स्वरों का कथन करने कारण इस शिक्षा का नाम स्वराष्टक-शिक्षा रखा गया है जबकि इसमें 9 स्वर वर्णों का निर्देश है। इस प्रकार इस शिक्षा में इन स्वरों के निर्देश तथा संख्या में अनियमतता स्पष्ट होती है। क्योंकि अकारादि 9 स्वरवर्णों का इसमें निर्देश किया गया है और उनकी संख्या 8 ही उल्लिखित है। मेरी समझ में यह असङ्गतता सम्पादक अथवा मुद्रण की अनवधानता के कारण हुई है जिसमें अकारादि आठ

---

1. जयन्तस्वामिता प्रोक्ता श्लोकानामेकवंशतिः ॥
—स्वराङ्कुश शिक्षा–23 पृ०

स्वरों में ऌकार को भी रख दिया गया है। शिक्षाकार ने ऌकार को स्वर नहीं माना है। स्वरसन्धि में अ इ उ ऋ ए ऐ ओ तथा औ—इन आठ स्वरों के ही विकारों का उल्लेख हुआ है, ऌकार का नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि इस शिक्षाकार को स्वरों के अन्तर्गत ऌकार का ग्रहण मान्य नहीं था। इसीलिए उन्होंने स्वरों की संख्या 8 बतलायी है। ऌकार में व्यञ्जन लकार की मात्रा होने से ऌकार को शुद्ध स्वर वर्ण नहीं कहा जा सकता। इन स्वरों के निर्देश के बाद सन्धि-विषयक दो परिभाषायें दी गयी हैं जो सन्धि-नियम के ज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण हैं। तदनन्तर सन्धि की परिभाषा दी गयी है। अन्त में स्वर के विकार तथा लोप का विवेचन हुआ है जिसमें दीर्घ, गुण, वृद्धि, यण् तथा अयादि सन्धि-सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है।

द्वितीय खण्ड में स्वर-विधन है। सर्वप्रथम स्वरों की गणना की गयी है। इसके अनुसार उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा प्रचय—ये चार स्वर हैं। इसमें चिह्नों द्वारा स्वरों के पहचान को बतलाया गया है। उदात्त अचिह्नित होता है। अनुदात्त के नीचे पड़ी रेखा होती है। स्वरित के ऊपर तिर्यक् रेखा होती है। स्वरित से परवर्ती अचिह्नित प्रचय होता है। तदनन्तर स्वरित के प्रकार को बतलाया गया है। इसमें स्वरित के पाँच प्रकारों का उल्लेख हुआ है किन्तु जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र तथा प्रश्लिष्ट—इन चार नामों को ही निर्दिष्ट किया गया है। प्रतीत होता है कि उदात्तपूर्व-स्वरित भी शिक्षाकार को अभिमत था, किन्तु सम्पादक के प्रमाद के कारण वह नाम मुद्रित शिक्षा में छूट गया है। इसके अनुसार उदात्त स्वर के साथ एकीभाव सन्धि होने पर परिणाम उदात्त होता है।

तृतीय खण्ड में हस्तचालन द्वारा स्वरप्रदर्शन की विधि बतलायी गयी हैं। इसके अनुसार अनुदात्त के उच्चारण के समय हाथ को हृदयस्थान तक उदात्त के उच्चारण में सिर तक तथा प्रचय के उच्चारण में कानों तक ले जाना चाहिए।

चतुर्थ खण्ड में विसर्ग-व्यतिरिक्त व्यञ्जन सन्धि का विवेचन हुआ है। इसके अन्तर्गत प्रथम स्पर्श का तृतीय-भाव, प्रथम स्पर्श का पञ्चम-भाव; दन्त्य वर्णों का तालव्य-भाव, तकार का लकार-भाव; मकार का पर सस्थान पञ्चम-भाव, मकार का अनुनासिक-भाव; हकार का पूर्ववर्ती के सस्थानीय चतुर्थभाव तत्पश्चात् द्वित्व-विषयक विधान हैं।

पञ्चम खण्ड में विसर्ग-सन्धि का विवेचन प्रस्तुत है। इसमें विसर्ग के ओकार रेफ तथा लोप में विकृत होने का विधान हुआ है।

षष्ठ खण्ड में वर्णमाला का निर्देश है। पाणिनि द्वारा प्रयुक्त माहेश्वर-सूत्रों के आधार पर वर्णमाला को स्वीकृत किया गया है। इसमें माहेश्वर-सूत्रों को ही ज्यों का त्यों रख दिया गया है।

स्वराष्टक-शिक्षा की विशेषतायें

स्वराष्टकशिक्षा ही एक ऐसी शिक्षा है जिनमें शिक्षाकार ने वर्णमाला का उपदेश किया है। वह वर्णमाला भी पाणिनिप्रक्रियानुसारिणी है। इसमें सन्धि का लक्षण तथा सन्धि-विषयक परिभाषा-सूत्र उपलब्ध होते हैं जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। साथ ही इसमें स्वर, व्यञ्जन तथा विसर्ग सन्धि के नियमों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।

कर्त्ता

इस शिक्षा के अन्त में लिखा गया है कि "इत्यनन्तकृतम् स्वराष्टकं समाप्तम्"। इससे स्पष्ट होता है कि इस शिक्षा का प्रणयन अनन्त ने किया है। इस उल्लेख से हमें शिक्षाकार के नाम के अतिरिक्त इनके विषय में कुछ ज्ञात नहीं होता। सम्भवत: वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के भाष्यकार अनन्त ही इस शिक्षाग्रन्थ के कर्त्ता थे; क्योंकि अनन्तभट्ट, वेद तथा वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त तथा ज्योतिष्) के विद्वान् आचार्य थे। जैसा उन्होंने स्वयं लिखा है।[1] उनके इस लेख से स्वराष्टक-शिक्षाकार तथा वा० प्रा० के भाष्यकार अनन्त की अभिन्नता सङ्गत है। इनका भाषिकसूत्र भी उपलब्ध होता है। भाष्यकार अनन्त का शुक्ल-यजुर्वेदीय काण्वसंहिता के उत्तरार्ध वीस अध्यायों के भाष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वार्ध के 20 अध्यायों पर भी इनका भाष्य रहा होगा जो आज उपलब्ध नहीं होता।

वा० प्रा० के भाष्य के अन्त में अनन्तभट्ट ने अपना परिचय दिया है। उसके अनुसार ये नागदेव के पुत्र थे तथा उनकी माता का नाम भागीरथी था।[1] काण्व-संहिता के बीस अध्यायों पर लिखे गये भाष्य की पूना स्थित पाण्डुलिपि के अन्त में लिखे गये उद्धरण के आधार पर यह ज्ञात होता है कि काशी में ही ये निवास करते थे और विष्णु के उपासक थे। इनका समय सोलहवीं शताब्दी का अन्त तथा सत्तरहवीं शताब्दी का प्रारम्भ है।

---

1. वेदवेदाङ्गविदुषा अनन्तभट्टेन सादरम्।
   परेषामुपकाराय श्रावितं प्रातिशाख्यकम्॥
   अम्बा भागीरथी यस्य नागदेवात्मजः सुधीः।
   तेनानन्तेन रचितं प्रातिशाख्यस्य वर्णनम्॥

शुक्लयजुर्वेदीय प्रातिशाख्य पर लिखे गये भाष्य, काण्वसंहिता के भाष्य तथा स्वराष्ट्रक-शिक्षा की रचना करने से यह प्रतीत होता है कि ये शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण थे जिनकी शाखा की संहिता काण्वसंहिता रही होगी।

क्रमकारिका शिक्षा

इसमें शुक्लयजुर्वेद में आने वाले क्रमावसानों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। यह शिक्षा गद्यात्मक है। सम्पूर्ण शिक्षा 40 भागों में विभक्त है। इसके प्रत्येक भाग में शुक्लयजुर्वेद के 40 अध्यायों के क्रमावसानों का उल्लेख हुआ है।

वेदपरिभाषासूत्र एवं वेदपरिभाषा कारिका शिक्षा

वेदपरिभाषासूत्र-शिक्षा कारिका रूप में उपनिवद्ध है। इसमें शुक्लयजुर्वेद के प्रत्येक अनुवाकों के अक्षरों की, विसर्गान्त मकार की, सावग्रह की तथा इतिकरण वाले पदों की संख्या निर्दिष्ट है। ये संख्यायें वर्णों द्वारा निर्दिष्ट की गयी हैं। प्रत्येक वर्ण की संख्या निर्धारित की गयी है। वेदपरिभाषा कारिका शिक्षा भी कारिका रूप में उपनिबद्ध है। इसमें वेदपरिभाषासूत्र-शिक्षा विषयक परिभाषायें दी गयी हैं। ये परिभाषायें वेदपरिभाषासूत्र में निर्दिष्ट संख्याओं को समझने में सहायक हैं। इनके बिना उन संख्याओं को समझना कठिन है। इसमें कारिकाओं की कुल संख्या 10 है। इन कारिकाओं की पं० रामचन्द्र द्वारा विरचित व्याख्या भी उपलब्ध है जो शिक्षा-संग्रह में इन कारिकाओं के साथ प्रकाशित हुई है।

सामवेदीय शिक्षा

नारदीय शिक्षा

कारिका-रूप में उपनिवद्ध यह शिक्षा सामवेद से सम्बन्धित है। यह शिक्षा दो प्रपाठकों में विभक्त है। प्रत्येक प्रपाठक में आठ-आठ कण्डिकायें हैं। इस प्रकार इस शिक्षा में कुल सोलह कण्डिकायें हैं। प्रथम प्रपाठक की प्रथम कण्डिका में 14 द्वितीय कण्डिका में 16, तृतीय कण्डिका में 13; चतुर्थ कण्डिका में 12, पञ्चम कण्डिका में 18, षष्ठ कण्डिका में 22, सप्तम कण्डिका में 19 तथा अष्टम कण्डिका में 11 कारिकाएँ हैं। इस प्रकार प्रथम प्रपाठक में कुल कारिकाओं की संख्या 125 है। द्वितीय प्रपाठक की प्रथम कण्डिका में 11, द्वितीय कण्डिका में 18, तृतीय कण्डिका में 11; चतुर्थ कण्डिका में 9; पञ्चम कण्डिका में 11; षष्ठ-कण्डिका में 10; सप्तम कण्डिका में 11 तथा अष्टम कण्डिका में 32 कारिकायें हैं। इस प्रकार द्वितीय प्रपाठक में 113 कारिकायें हैं। अतः इस शिक्षा में कारिकाओं की कुल संख्या 238 हैं।

नारदीय शिक्षा के प्रथम प्रपाठक की प्रथम तथा द्वितीय कण्डिका में वेद-प्रयुक्त स्वरों का सम्यक् निरूपण हुआ है। उनमें स रे ग म प ध नि (षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, तथा निषाद)--इन सात स्वरों, षड्ज-ग्राम, गान्धारग्राम, मध्यमग्राम—इन तीन ग्रामों तथा इक्कीस मूर्च्छनाओं का विवेचन किया गया है। तृतीय कण्डिका में श्लोक में, वेद में तथा संगीत में रक्तपूर्ण, अलङ्कृत इत्यादि गुणों तथा शङ्कित, गीत इत्यादि 14 दोषों का प्रतिपादन हुआ है। चतुर्थ कण्डिका में षड्जादि स्वरों के वर्णों का तथा पञ्चम कण्डिका में पक्षियों की स्वाभाविक ध्वनि तथा षड्जादि स्वरों की स्थिति का विवेचन हुआ है।

षष्ठ कण्डिका में सामगानों के लक्षण प्रस्तुत हैं। सप्तम कण्डिका में क्रुष्ट इत्यादि लय-स्थानों के लय का प्रतिपादन हुआ है। अष्टम कण्डिका में आर्चिक स्वरों के लक्षण तथा भेद निर्दिष्ट हैं। द्वितीय प्रपाठक की प्रथम कण्डिका में सजात्य स्वरों के सम्बन्ध में परिभाषा-नियम प्रतिपादित हैं। इनका अभिनिहित इत्यादि स्वरों के प्रकारों का विवेचन हुआ है। द्वितीय कण्डिका में स्वरों के ह्रस्व दीर्घ, कम्पन और रेफ, हकार इत्यादि व्यञ्जनों का उच्चारण-विषयक विस्तृत विवेचन है। तृतीय कण्डिका में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा प्रचय के स्थल तथा अवग्रह का निर्देश हुआ है। चतुर्थ कण्डिका में विवृत्ति तथा उसके भेदों का निरूपण हुआ है। पञ्चम कण्डिका में दस प्रकार के पदान्तों के बलाबल तथा षष्ठ कण्डिका में व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण-विषयक विवेचन है। सप्तम कण्डिका में पथ्यावृत, विपुलावृत का सोदाहरण लक्षण तथा पदस्वर के लक्षणों के आठ भेदों का प्रतिपादन हुआ है। अष्टम कण्डिका में उद्गाता ऋत्विक् के लिए आवश्यक नियमों के पालन तथा उससे सामपाठकों की सिद्धि की प्राप्ति, शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक—इन तीन प्रकार की शुद्धि से सामगानों की सफलता की हेतुता इत्यादि का विवेचन हुआ है।

कर्त्ता

कतिपय विद्वान् इस शिक्षा के कर्त्ता महर्षि नारद को स्वीकारते हैं। शिक्षाकार के नाम के आधार पर ही इस शिक्षा को नारदीय शिक्षा कहा जाता है। महर्षि नारद संगीत विद्या के बड़े मर्मज्ञ थे। वे सर्वदा वीणा धारण करते थे जिससे उनकी संगीत-प्रियता तथा संगीत-ज्ञान का प्रस्फुटन होता है। नारद के विषय में पुराणों में अनेक प्रकार की आख्यायिकायें वर्णित है। भारतीय परम्परा में उन्हें ब्रह्मा का मानस-पुत्र माना जाता है।

लोमशी शिक्षा

यह शिक्षा आठ खण्डों में विभक्त है। इस शिक्षा में सामवेद-संहिता के द्वित्व-विपयक विधानों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। साथ ही स्वर-भक्ति इत्यादि उच्चारणों का भी विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। इनके कर्त्ता के विषय में द्वैध है। नाम के आधार पर लोमश इसके कर्त्ता हैं। इन्होंने गार्ग्य के मत के आधार पर इस शिक्षा की रचना की है। कतिपय आचार्य गार्ग्य को ही इसका कर्त्ता मानते हैं।

गौतमी शिक्षा

इस शिक्षा की रचना गौतम ऋषि ने की है। इसमें संयोग-विषयक उच्चारण वैशिष्टच का प्रतिपादन हुआ है। इस शिक्षा के अनुसार सात व्यञ्जनों तक का संयोग हो सकता है। इससे अधिक व्यञ्जनों का संयोग नहीं होता।

अथर्ववेदीय शिक्षाएँ

इस वेद से सम्बन्धित केवल माण्डूकी शिक्षा उपलब्ध होती है।

माण्डूकी शिक्षा

इसके कर्त्ता मण्डूक ऋषि माने जाते हैं, जिनके नाम पर इस शिक्षा का नाम माण्डूकी शिक्षा रखा गया है, किन्तु इसमें "मण्डूकस्य मतं यथा"—उल्लेख से प्रतीत होता है कि इसके कर्त्ता मण्डूक ऋषि से अन्य कोई आचार्य थे जिन्होंने मण्डूक ऋषि के मत के अनुसार इस शिक्षा का प्रतिपादन किया है। इसमें उदात्तादि स्वरों के साथ-साथ संगीत-शास्त्र-विषयक स्वरों का विवेचन किया गया है। तदतिरिक्त द्वित्व, स्वरभक्ति, उच्चारणकाल तथा सन्धि इत्यादि विषयों पर भी विचार व्यक्त किया गया है।

सामान्य शिक्षा

पाणिनीय शिक्षा

सम्प्रति पाणिनीय शिक्षा के दो प्रकार के पाठ मिलते हैं —(1) कारिकात्मक, (2) सूत्रात्मक। श्लोकात्मक तथा सूत्रात्मक पाठ के भी लघु और वृद्ध दो प्रकार के पाठ हैं। आधुनिक पाणिनीय वैयाकरणों में पाणिनीय शिक्षा का कारिकात्मक पाठ ही प्रसिद्ध है और वैदिक भी वेदाङ्ग के अन्तर्गत कारिकात्मक पाणितीय शिक्षा को मानते हैं।

कारिकात्मक-पाणिनि-शिक्षा

सूत्रात्मक शिक्षा की भाँति इसके दो पाठ उपलब्ध होते हैं—(1) लघुपाठ और (2) वृद्धपाठ। लघुपाठ में कारिकाओं की संख्या 35 तथा वृद्धपाठ में 60 है। लघुपाठ याजुष् तथा वृद्धपाठ आर्चक कहलाता है। आर्चपाठ की कारिकायें 11 खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में 5 कारिकायें हैं जिसमें शिक्षाकार की पाणिनि के मतानुसार शिक्षा-रचना की प्रतिज्ञा, शिक्षा-रचना का प्रयोजन तथा वर्णों की संख्या, तद्विषयक संज्ञाओं द्वारा उनका निर्देश किया गया है। द्वितीय खण्ड में 6 से 10 तक की अर्थात् 5 कारिकायें हैं। इसमें वर्णोच्चारण-प्रक्रिया उससे निष्पत्ति, ध्वनि का मन्द्र, मध्यम तथा तार होना एवं इनका प्रयोग विहित है। तत्पश्चात् मुखागत वायु द्वारा उदात्तादि स्वर, उच्चारण काल, स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न तथा बाह्य प्रयत्न के आधार पर वर्णों के श्रूयमाण स्वरूप में अन्तर होने के कारण का निर्देश हुआ है। तृतीय खण्ड में 11 से 15 तक की पाँच कारिकायें समाविष्ट हैं जिनमें उदात्तादि स्वर तथा उच्चारणकाल के आधार पर स्वर वर्णों के तीन-तीन भेदों, षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा निषाद—इन संगीत-शास्त्रविषयक स्वरों का उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित—इन तीन स्वरों में अन्तर्भाव, वर्णों के आठ उच्चारण स्थानों का निर्देश तथा विसर्जनीय के आठ प्रकारों का निर्देश हुआ है। चतुर्थ खण्ड में 16 से 20 तक की पाँच कारिकायें समाहृत हैं जिनमें उच्चारण स्थान के आधार पर वर्णों का विभाजन निर्दिष्ट है। आभ्यन्तर प्रयत्न, वर्णों के उच्चारण में होने वाले पीडन, दोष का विवेचन पञ्चम खण्ड की 21 से 25 तक की पाँच कारिकाओं में हुआ है। षष्ठ खण्ड में 26 से 31 तक की छः कारिकायें समाहृत हैं जिनमें रंग का उच्चारण प्रकार तथा कम्प के उच्चारण प्रकार निर्दिष्ट हैं। सप्तम खण्ड में 32 से 37 तक की छः कारिकायें हैं जिनमें अक्षम पाठक, पाठकों के गुण तथा दोष, तीनों सवनों, मन्द्र, मध्यम तथा तार के प्रयोग का विधान उपलब्ध है। अष्टम खण्ड में 38 से 42 तक पाँच कारिकायें हैं जिनमें वर्णों के आभ्यन्तर-प्रयत्न इत्यादि विधान के अनन्तर वेदपुरुष के अङ्ग के रूप में शिक्षा, कल्प इत्यादि वेदाङ्गों का निरूपण हुआ है। नवम खण्ड में 43 से 48 तक छः कारिकायें हैं जिनमें सामवेद तथा यजुर्वेद के स्वरों का अङ्गुलि द्वारा प्रदर्शन-प्रकार, स्वरों के आधार पर अन्तोदात्त, आद्युदात्त इत्यादि पदों के नव प्रकारों तथा उदात्तादि स्वरों के उच्चारण स्थानों का निर्देश है। दशम खण्ड में 49 से 55 तक सात कारिकायें हैं जिनमें मात्राकाल का निर्धारण, आचारविहीन शिक्षक से शिक्षा-ग्रहण करने से पाप, स्वर तथा वर्ण से

हीन पाठ से अनिष्ट, हस्तचालन द्वारा स्वर तथा वर्ण का प्रदर्शन प्रतिपादित है। एकादश खण्ड में 56 से 60 तक पाँच कारिकायें हैं जिनमें महर्षि पाणिनि को नमस्कार किया गया है।

कर्त्ता

इस शिक्षा के कर्त्ता के विषय में विद्वानों में बहुत विवाद है। कतिपय विद्वान् पाणिनि को इसका कर्त्ता स्वीकारते हैं पर कतिपय विद्वान् नहीं स्वीकारते। वे इसकी पुष्टि में यह तथ्य देते हैं कि इसके कर्त्ता यदि पाणिनि होते तो इस प्रकार न लिखते "अथ शिक्षा' प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा" अर्थात् पाणिनि के मत के अनुसार शिक्षा का कथन कर रहा हूँ[1] अथवा कर्त्ता पाणिनि स्वयं को उल्लिखित करके नमस्कार नहीं करते।[2]

कतिपय विद्वान् सूत्रात्मक-पाणिनि-शिक्षा का कर्त्ता पाणिनि को मानते हैं। कारिकात्मक पाणिनि-शिक्षा के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि पाणिनि इसके कर्त्ता नहीं हो सकते। पाणिनि-शिक्षा के एक भाष्य में कारिकात्मक पाणिनि-शिक्षा के कर्त्ता के रूप में पाणिनि के भाई पिङ्गल का नाम निर्दिष्ट है जो युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

पिङ्गल

पिङ्गल के परिचय तथा देशकाल के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है किन्तु षड्गुरुशिष्य ने उन्हें पाणिनि का अनुज माना है।[3] इस मान्यता के अनुसार पिङ्गल शालातुर के निवासी थे। पाणिनि का समय ई० पू० 500 माना जाता है। अतः इनका भी समय वही होना चाहिए। यूरोपीय विद्वान् इनका काल द्वितीय शताब्दी ई० पू० मानते हैं। शबरस्वामी ने पिङ्गल के नाम का उल्लेख तथा सर्वगुरु पिंगल को अपने भाष्य में उद्धृत किया है।[4] पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में "पैङ्गल काण्व" इस रूप में उल्लिखित किया है। वामनपुराण में इनका नाम सादर आसुरि के साथ निर्दिष्ट किया गया है।[5] अग्निपुराण

---

1. द्रष्टव्य—पाणिनि शि०।
2. द्रष्टव्य—पाणिनि शि० 57–59।
3. सूत्रेण हि भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन। —सर्वानुक्रमणी टीका
1. यथामगणेन पिङ्गलस्य सर्वगुरूस्त्रिक, प्रतीयते॥ शाबरभाष्य 1/15
2. सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः।
   सनातनोऽप्यासुरिपिङ्गलौ च॥ —वामनपुराण 14/25

के 328–335 इन आठ अध्यायों में वर्णित यह छन्दोनिरूपण पिङ्गल के आधार पर स्वयं पुराणकर्त्ता ने निर्दिष्ट किया है।[1] इन पौराणिक उल्लेखों के आधार पर भी पिङ्गल की प्राचीनता स्पष्ट होती है। पञ्चतन्त्र के अनुसार समुद्रतट पर छन्दोज्ञाननिधि पिङ्गल को मकर ने मार डाला था।[2]

सूत्रात्मक-पाणिनिशिक्षा

सूत्रात्मक शिक्षा के भी वृद्ध तथा लघु दो पाठ उपलब्ध होते हैं।

वृद्ध पाठ

इसमें सूत्र तथा कारिकायें दोनों हैं। यह पाठ आठ प्रकरणों में विभक्त है। ये प्रकरण हैं, स्थान प्रकरण, करण प्रकरण, अन्तःप्रयत्न प्रकरण, बाह्यप्रयत्न प्रकरण, स्थानपीडन प्रकरण, वृत्तिकार प्रकरण, प्रक्रम प्रकरण तथा नाभितल प्रकरण। स्थान प्रकरण में 25, करण प्रकरण में 9, अन्तःप्रयत्न प्रकरण में 13; बाह्यप्रयत्न प्रकरण में 13; स्थानपीडन प्रकरण में 3; वृत्तिकार प्रकरण में 13; प्रक्रम प्रकरण में 7, तथा नाभितल प्रकरण में सूत्र तथा कारिकाओं की संख्या 21 हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में कुल कारिकाओं तथा सूत्रों की संख्या मिलाकर 120 है।

ग्रन्थ में उच्चारण की तीन कारिकाओं में क्रमशः फेफड़ों से निकलती वायु द्वारा वर्णोच्चारण प्रक्रिया, वर्णों की पवित्रता तथा ब्रह्मरूपता का कथन और शिक्षा का वर्ण्य विषय प्रतिपादित है। प्रथम प्रकरण में वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त स्थान तथा द्वितीय प्रकरण में करण का विवेचन प्रस्तुत है। तृतीय प्रकरण में आभ्यन्तर प्रयत्न तथा चतुर्थ प्रकरण में बाह्य प्रयत्न का उल्लेख हुआ है। पञ्चम प्रकरण में संयोग-पिण्ड, षष्ठ प्रकरण में अवर्णादि समानाक्षर स्वरों के 18 प्रभेदों ऌकार का दीर्घाभाव होने से उसके 12 प्रभेदों, सन्ध्यक्षरों का ह्रस्व रूप न होने से उनके भी 12 प्रभेदों का कथन, रेफ व्यतिरिक्त अन्तःस्थों के सानुनासिक तथा निरनुनासिक दो प्रकारों, प्रत्येक वर्ग के वर्णों की परस्पर सवर्णता का निर्देश हुआ है। सप्तम प्रकरण में स्थान, करण, प्रयत्न का लक्षण प्रस्तुत है। अन्तिम अष्टम प्रकरण में नाभितल से उठती हुई वायु द्वारा वर्णों की उत्पत्ति का विस्तृत विवेचन हुआ है।

---

1. छन्दो वक्ष्ये मूलजैस्तैः पिङ्गलोक्तं यथाक्रमम् । —अग्निपुराण 328/1
2. छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम् । —पञ्चतन्त्र 2/26

कर्त्ता

इस शिक्षा के कर्त्ता महर्षि पाणिनि हैं। वे शिक्षाकार होने के साथ-साथ महा वैयाकरण भी हैं। अधुना उपलब्ध व्याकरण-ग्रन्थों में पाणिनि का व्याकरण सर्वोपरि है। इसकी महत्ता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि इस ग्रन्थ के समक्ष अन्य व्याकरण ग्रन्थों के अध्ययन का प्रचलन समाप्त ही हो गया जिससे वे लुप्तप्राय हो गये।

लघुपाठ

यह वृद्धपाठ का लघुरूप है। वृद्धपाठ के समान इसमें भी आठ प्रकरण हैं। सूत्रों की संख्या वृद्धपाठ की अपेक्षा कुछ कम है। स्थान प्रकरण में 22, करण प्रकरण में 07, अन्तःप्रयत्नप्रकरण में 10; बाह्यप्रयत्नप्रकरण में 10, स्थानपीडन-प्रकरण में 04; वृत्तिकार प्रकरण में 10; प्रक्रमप्रकरण में 09; नाभितलप्रकरण में उपलब्ध ग्रन्थ में 01 सूत्र उपलब्ध है। सम्पादक के अनुसार अन्तिम प्रकरण के इस सूत्र से परवर्ती पाठ नष्ट हो चुका है।

इस पाठ के कर्त्ता महर्षि पाणिनि हैं।

मूलपाठ

पाणिनि-शिक्षा के कारिकात्मक तथा सूत्रात्मक दो पाठ उपलब्ध होते हैं। इसमें मूलपाठ कौन सा है अथवा दोनों इस पर कुछ विचार कर लेना समय प्राप्त है। कारिकात्मक शिक्षा के प्रथम श्लोक से प्रतीत होता है कि यह शिक्षा मूलतः पाणिनिप्रोक्त नहीं है। यह तो किसी अन्य व्यक्ति द्वारा पाणिनि मत के अनुसार रची गयी है।[1] कारिकात्मक शिक्षा की प्रकाश नाम्नी टीका में इस शिक्षा के कर्त्ता के रूप में पाणिनि के छोटे भाई पिङ्गल का नाम प्रोक्त है।[2] इस प्रकार ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य तथा टीकाकार के साक्ष्य से सर्वथा स्पष्ट है कि कारिकात्मिका पाणिनि-शिक्षा चाहे उसका लघु याजुष् पाठ हो चाहे वृद्ध आर्चपाठ-मूलतः दोनों पाणिनि प्रोक्त नहीं हैं। कारिकात्मिका पाणिनिशिक्षा का पाणिनिकृत मूल इससे भिन्न है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक उपर्युक्त तथ्य के ही आधार पर कारिकात्मिका शिक्षा का मूल आधार सूत्रात्मक पाणिनि-शिक्षा को माना है।

महर्षि पाणिनि

संस्कृतजगत् में पाणिनि प्रतिष्ठित ख्यातिलब्ध विश्रुत आचार्य हुए हैं। इन्होंने संस्कृतवाङ्मय के दोनों भेदों—वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत

1. अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।—पा० शि० 150.
2. ज्येष्ठभ्रातृभिर्विहितो व्याकरणेऽनुजस्तत्रभवान् पिङ्गलाचार्यः तन्मतमनुभाष्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते—अथशिक्षामिति।

को दृष्टि में रखते हुए व्याकरण शास्त्र की रचना की है। इनका ग्रन्थ अष्टाध्यायी नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इनके अन्य ग्रन्थ भी थे जिसमें पाणिनीय शिक्षा उपलब्ध होती हैं। पाणिनि शालातुर के रहने वाले थे। यह स्थान गान्धार देश में उद्‌भाण्ड नामक एक प्रसिद्ध स्थान से लगभग 6 कि० मी० पर स्थित, लहुर ग्राम के समीप स्थित है। यह उद्‌भाण्ड नामक स्थान इस समय ओहिन्द नाम से प्रसिद्ध है और सिन्ध तथा कातुल नदियों के संगम पर विद्यमान है। उसी के पश्चिमोत्तर में लहुर ग्राम स्थित है। इनकी माता का नाम दाक्षी था। छन्दशास्त्र के प्रणेता पिङ्गल इनके अनुज थे। व्याडि इनके ममेरे भाई थे। इनकी शिक्षा पाटलिपुत्र में हुई थी। इनका समय ई० पू० 500 माना जाता है।

आपिशालि शिक्षा

इस शिक्षा में कारिकाएँ तथा सूत्र दोनों हैं जिसमें आठ प्रकरण हैं। प्रथम-स्थान प्रकरण, द्वितीय-करण प्रकरण, तृतीय-आभ्य:तर प्रयत्नप्रकरण, चतुर्थ वाह्य-प्रयत्न, प्रकरण पंचम स्थानपीडन प्रकरण, पष्ठ वृत्तिकार प्रकरण, सप्तम:प्रक्रम प्रकरण तथा अष्टम नाभितल प्रकरण नाम से अभिहित है। प्रथम प्रकरण में 22 द्वितीय में 10, तृतीय में 12, चतुर्थ में 1।, पञ्चम में 3, षष्ठ में 13, सप्तम में 5,{तथा अष्टम प्रकरण में 22 कारिकायें तथा सूत्र हैं। इसके अतिरिक्त प्रथम प्रकरण से पहले तीन कारिकायें तथा दो सूत्र दिये गये हैं। इस प्रकार इसमें कुल कारिकाओं तथा सूत्रों की संख्या 103 है। प्रथम प्रकरण से पहले वाली तीन कारिकाओं में क्रमश, वर्णोत्पत्ति प्रक्रिया, ध्वनि का ब्रह्मस्वरूप तथा इस शिक्षा के वर्ण्य विषय का प्रतिपादन किया गया है। तदनन्तर वर्णों की तिरसठ संख्या का किर्देश किया गया हैं। प्रथम प्रकरण में वर्णो के उच्चारण में प्रयुक्त होने वाले स्थान, द्वितीय प्रकरण में करण, तृतीय प्रकरण में आभ्यन्तर प्रयत्न, चतुर्थ प्रकरण में वाह्य प्रयत्न पञ्चम प्रकरण में संयोगपिण्ड का विवेचन है। षष्ठ प्रकरण में समानाक्षर स्वरों के अट्ठारह तथा सन्ध्यक्षरों के बारह प्रभेदों का निर्देश हुआ है। सप्तम प्रकरण में स्थान, करण तथा प्रयत्न का लक्षण प्रस्तुत किया गया है। अष्टम प्रकरण में नाभि तल से उठती हुई वायु से वर्णरूप में श्रुतिगोचर होने की प्रकिया का विस्तृत विवेचन है।

आपिशालि शिक्षा के कर्त्ता

इस शिक्षा के कर्त्ता आचार्य आपिशलि हैं जो शिक्षाकार के साथ-साथ महान् वैयाकरण भी थे। किन्तु दुर्भाग्य से इनका व्याकरण लुप्त हो गया है।

इनका उल्लेख पाणिनि ने अपने व्याकरण (6/1/92) में वासुप्यापिशलि· इस रूप में किया है। पतञ्जलि ने 4/2/45 के महाभाष्य में आपिशलि के मत का उद्धरण दिया है। पाल्यकीर्ति के शाकटायन व्याकरण की अमोघावृत्ति (2/2/61) में प्राप्त उद्धरण-"अष्नका आपिशलिपाणिनीया" से स्पष्ट होता है कि पाणिनि व्याकरण के समान ही आपिशालि व्याकरण में भी आठ अध्याय थे। आपिशालि व्यकारण को पढ़ाने वाली शिक्षिका आपिशलि कहलाती थी जिसका उल्लेख कात्यायन की वृत्ति तथा पतञ्जलि के महाभाष्य में उपलब्ध होता है। इससे प्रतीत होता है कि उस काल में आपिशालि व्याकरण अधिक प्रचलित था। अन्य व्याकरण ग्रन्थों में उद्धृत इसके सूत्रों को देखने से प्रतीत होता है कि यह अत्यधिक सुव्यवस्थित तथा वैदिक और लौकिक दोनों साहित्यों के लिए पूर्णतः उपयोगी था। इसीलिए पाणिनि के काल तक इसका अत्यधिक प्रचार भी था। पाणिनि के सूत्र इसके सूत्रों से अधिक समानता रखते हैं तथा इसकी संज्ञायें, प्रत्यय तथा प्रत्याहार परस्पर समान ही हैं। आपिशलि के धातु-पाठ के उपलब्ध उद्धरण पाणिनि के तत्तदे धातुपाठ से अधिक समानता रखते हैं। आपिशलि शिक्षा के सूत्र तथा पाणिनि शिक्षा के सूत्र भी प्रायः समान ही हैं। इससे स्पष्ट होता है कि आचार्य आपिशलि पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं।

चान्द्रशिक्षा

यह शिक्षा सूत्ररुप में उपनिबद्ध है जिसमें कुल 51 सूत्र हैं। इसके प्रथम 13 सूत्रों में वर्णोच्चारण में स्थान, 5 सूत्रों में करण; 11 सूत्रों में आभ्यन्तर प्रयत्न 5 सूत्रों में बाह्य प्रयत्न, 6 सूत्रों में स्वरों के प्रभेद तथा 3 सूत्रों में उदात्तादि स्वरों का लक्षण तथा दो सूत्रों में सानुनासिक तथा निरानुनासिक अन्तःस्थवर्ण का कथन हुआ है।

कर्त्ता

इस शिक्षा के कर्त्ता चन्द्रगोमि हैं। शिक्षाकार के नाम पर ही इस शिक्षा का नामकरण हुआ है। आचार्य चन्द्रगोमि बौद्ध भिक्षु थे तथा बौद्ध वैयाकरण थे। ये काश्मीर के महाराज अभिमन्यु के समसामयिक थे। महाराज अभिमन्यु के आदेश से इन्होंने नष्टप्राय महाभाष्य का उद्धार किया जिसका उल्लेख कल्हण ने अपनी राजतरङ्गिणी तथा भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में किया है। इनके व्याकरण का छः अध्याय सम्प्रति उपलब्ध होता है। इसकी रचना पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पतञ्जलि के आधार पर की गयी है—ऐसा प्रतीत होता है। इसके दो प्रकरण लुप्त हो गये हैं जिसमें स्वर तथा वैदिक प्रकरण था। इन लुप्त अध्यायों के अनेक प्रमाण और सूत्र उस व्याकरण के वृत्तिग्रन्थ में उद्धृत मिलते हैं।

चन्द्रगोमि का उल्लेख भर्तृहरि ने वाक्पदीय में किया है जिसकी पुष्टि राजतरङ्गिणी द्वारा स्पष्ट हो जाती है[1]—

चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेक तस्मास्हृदायमम् ।
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं व व्याकरणं कृतम् ।।

इस कारिका में चन्द्र को महाभाष्य के प्रवर्त्तक तथा स्वीयं व्याकरण की रचना करने वाला वतलाया गया है। फलतः चान्द्र व्याकरण के निर्माता ही महाभाष्य अनुशीलन के पुरस्कर्त्ता थे। तिव्वती ग्रन्थों में इन्हें राजा हर्षदेव के पुत्र शील के समय में विद्यमान माना है जिनका समय 700 ई० पू० के आस-पास है। परन्तु यह परम्परा प्रामाणिक नहीं है क्योंकि काशिकाकार ने अपनी वृत्ति में चान्द्र व्याकरण को उद्धृत किया है तथा भर्तृहरि ने चन्द्राचार्य के द्वारा महाभाष्य के उदारता की बात लिखी है। इससे इसकी रचना तिथि ई० पू० 500 के लगभग होनी चाहिए।

—विश्वनाथ राम वर्मा

1. राजतरङ्गीण—1/176,

प्रथम अध्याय

वर्ण-प्रकरण

* वर्ण
* वर्णराशि
* वर्णराशि में वर्णों का क्रम
* वर्णराशि का विभाजन
* वर्णों के देवता

वर्ण

"वर्ण" शब्द वर्णनात्मक अथवा प्रकाशात्मक "वर्ण्" धातु से निष्पन्न हुआ है। इसका शाब्दिक अर्थ है—वर्णित होने वाला, प्रकाशित होने वाला। वर्ण वर्णित अथवा प्रकाशित (=उच्चारित) होते हैं अतः वर्ण कहलाते हैं। वर्ण भाषा को मुखरित करने वाले होते हैं और वर्ण ही भाषा की इकाई होते हैं। वर्णों के सन्धान के फलस्वरूप शब्द तथा शब्दों से वाक्य निष्पन्न हैं। इस प्रकार भाषा का रूप प्रकट होता है। वर्णों को भाषा से निकाल देने पर भाषा की सत्ता ही नहीं रह सकती। अतः यह कहा जा सकता है कि वर्ण ही भाषा के मूल कारण हैं।

वर्णराशि

वर्णों के संकलन को वर्णराशि कहा जाता है। इसमें सभी वर्णों को संकलित करके रखा गया होता है। इससे समस्त वर्णों का ज्ञान सरलता से प्राप्त हो जाता है। इसके लिए ग्रन्थों में वर्णमाला, वर्णसङ्ग्रह, वर्णसमूह एवम् वर्ण-समाम्नाय इत्यादि संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है।

शिक्षाग्रन्थों में वर्णसमाम्नाय संज्ञा का ही अधिकतम प्रयोग हुआ है। "वर्णसमाम्नाय" दो शब्दों के प्रयोग से बना है—वर्ण तथा समाम्नाय। वर्णों का समाम्नाय वर्णसमाम्नाय कहलाता है। तैत्तिरीय—प्रातिशाख्य के त्रिभाष्यरत्न भाष्य में सोमयार्य ने वर्णसमाम्नाय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि समाम्नाय में सम् का अर्थ है—एकत्र करना। "आ" मर्यादा अर्थ में प्रयुक्त है। "म्नाय" का अर्थ है—क्रम से उपदेश। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती आचार्यों ने जिन अकारादि वर्णों को क्रम से एकत्र करके उपदिष्ट किया है, वही "वर्ण-समाम्नाय" है।[1] वैदिकाभरण के अनुसार जो वर्णित होते हैं (=ध्वनित होते हैं) वे अकारादि वर्ण हैं। सम् उपसर्ग सहभाव को द्योतित करता है। "आम्नाय का अर्थ है—अभ्यास, पाठ—विधान। जहाँ वर्णों के समुदाय का अभ्यास अथवा

---

1. सम् इति एकीभावे। आ इति मर्यादायाम्। म्नाय इति आनुपूर्व्येणोपदेशः। एकीभूता अकारादयो वर्णा आनुपूर्व्येण पूर्वैः शिष्टैरुपदिष्टाः।

—तै० प्रा० 1/1 पर त्रिभाष्यरत्न

पाठ किया जाता है, वह वर्णसमाम्नाय है। भाष्यकार उवट ने वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के भाष्य में वर्णसमाम्नाय की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिस संग्रह में वर्णों का पाठ होता है वह वर्णसमाम्नाय कहलाता है।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि वर्णराशि में भाषा में उपलब्ध सभी वर्णों का एक-एक करके पाठ अथवा संग्रह होता है।

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं में उपलब्ध वर्णराशि

शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित किसी भी शिक्षाग्रन्थ में वर्णराशि का उपदेश नहीं हुआ है परन्तु उनमें विहित तद्विषयक संज्ञाओं के सम्यक् अनुशीलन से वर्ण-राशि का निर्धारण किया जाता है। उन्हीं संज्ञाओं के आधार पर यहाँ वर्णराशि प्रस्तुत की जा रही है।

शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित वाजसनेयिप्रातिशाख्य के कर्त्ता आचार्य कात्यायन ने वर्णों की संख्या का निर्देश करते हुए स्वरवर्णों की संख्या तेइस (23) तथा व्यञ्जन वर्णों की संख्या बयालिस (42) बतलायी है।[2] इस प्रकार वर्णों की कुल संख्या पैंसठ (65) निश्चित होती है।[3] इन्हीं पैंसठ (65) वर्णों का उपयोग वाङ्मय (शब्दराशि, वेदराशि) में होता है।[4] पैंसठ वर्णों की राशि को उन्होंने स्वयं उपदिष्ट भी किया है—अ, आ, आ३, इ, ई, ई३; उ, ऊ, ऊ३; ऋ, ॠ, ऋ३; ऌ, ॡ, ॡ३; ए, ए३; ऐ, ऐ३; ओ, ओ३; औ, औ३;—ये स्वर हैं। क् ख् ग् घ् ङ्; च् छ् ज् झ् ञ्; ट् ठ् ड् ढ् ण्; त् थ् द् ध् न्; प् फ् ब् भ् म्—ये स्पर्श हैं। य् र् ल् व्—ये अन्तःस्थ हैं। श्, ष् स् ह्—ये ऊष्म हैं। ᳵक—यह जिह्वामूलीय है। ᳶप—यह उपध्मानीय है। अं—यह अनुस्वार है। अः—यह विसर्जनीय है। हुं—

---

1. वर्णाः यस्मिन् समाम्नाये पठ्यन्ते सः वर्णसमाम्नायः।
—वा० प्रा० 8/1 उवटभाष्य.

2. त्रयोविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः।
द्विचत्वारिंशद्व्यञ्जनानि एतावान्वर्णसंग्रहः॥
—वा० प्रा० 8/44.

3. एते पञ्चषष्टिर्वर्णा ब्रह्मराशिरात्मवचः॥
—वा० प्रा० 8/25.

4. यत्किञ्चित् वाङ्मयं लोके सर्वमत्र प्रतिष्ठितम्।
—वा० प्रा० 8/33.

यह नासिक्य है। कुं खुं गुं घुं—ये यम हैं।[1] इसके अतिरिक्त इसमें ळ् तथा ळ्ह का भी निर्देश हुआ है किन्तु वर्णराशि में इसका ग्रहण नहीं हुआ है। इन वर्णों में से ळ्, ळ्ह, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, नासिक्य, ऌ तथा लाजी३ न्छाचीन् इत्यादि कहे गये[2] प्लुतों को छोड़कर अन्य प्लुत माध्यन्दिनसंहिता में उपलब्ध नहीं होते।[3]

याज्ञवल्क्यशिक्षा में वर्णों का स्पष्टरूपेण निर्देश नहीं हुआ है तथापि वर्ण-राशि विषयक स्वर, स्पर्श, अन्तःस्थ तथा ऊष्मा संज्ञा का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, नासिक्य, अनुनासिक्य, रङ्ग तथा यम का भी निर्देश हुआ है।[4]

इस प्रकार 23 स्वर, 25 स्पर्श, 4 अन्तःस्थ, 4 ऊष्म, विसर्जनीय, जिह्वा-मूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, नासिक्य, अनुनासिक्य, रङ्ग तथा 4 यम—कुल

---

1. अथातो वर्णसमाम्नायं व्याख्यास्यामः। तत्र स्वराः। अ इति आ इति, आ३ इति। इ इति ई इति इ३ इति। उ इति, ऊइति ऊ३ इति। ऋ इति ॠ इति ॠ३ इति। ऌ इति, ॡ इति, ॡ३ इति। अथ सन्ध्यक्षराणि। ए इति ए३ इति ऐ इति ऐ३ इति। ओ इति ओ३ इति। औ इति औ३ इति। इति स्वराः। अथ व्यञ्जनानि। किति खिति गिति घिति ङिति। चिति छिति जिति झिति ञिति। टिति ठिति डिति ढिति, णिति। तिति थिति दिति धिति निति। पिति फिति बिति भिति मिति। इतिस्पर्शाः। अथ अन्तःस्थाः। यिति रिति लिति विति। अथोष्माः। शिति षिति सिति हिति। अथ अयोगवाहाः। ᳵक इति जिह्वामूलीयः। ᳶप इति उपध्मानीयः। अं इति अनुस्वारः। अः इति विसर्जनीयः। हुं इति नासिक्यः। कुं खुं, गुं, घुं इति यमाः। एते पञ्च-षष्टिर्वर्णा ब्रह्मराशिरात्मवचः।

—वा० प्रा० 8/1–25.

2. वा० प्रा० 2/50–51 में प्लुतस्वरों वाले पदों को बतलाया गया है। माध्यन्दिनशाखा में मात्र इन्हीं पदों में प्लुत स्वर होता है।

3. तस्मिन् ळ् ळ्हजिह्वामूलीयोपध्मानीयनासिक्या न सन्ति माध्यन्दिनानाम् ऌकारो दीर्घः प्लुताश्चोक्तवर्जम्। —वा० प्रा० 8/45–46.

4. स्वराः। स्पर्शान्तःस्थोष्माणा…यमानुस्वारविसर्जनीयोपध्मानीयनासिक्यानु-नासिक्यरङ्गकाः। —या० शि० उत्तरार्ध का पूर्वस्थान

67 वर्ण स्वीकृत हैं।[1] याज्ञवल्क्यशिक्षा में व्यञ्जनों की संख्या केवल 33 बतलायी गयी है।[2] इससे स्पष्ट होता है कि इस शिक्षाकार को जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, नासिक्य, अनुनासिक, विसर्जनीय तथा 4 यमों का व्यञ्जन के अन्तर्गत समाहार मान्य नहीं है।

याज्ञवल्क्यशिक्षा में स्वीकृत वर्णराशि इस प्रकार व्यक्त की जा सकती हैं–अ आ आ३; इ ई ई३; उ उ ऊ३; ऋ ॠ ॠ३; ऌ ॡ ॡ३; ए ए३; ऐ ऐ३; ओ ओ ३, औ औ३; क् ख् ग् घ् ङ्; च् छ् ज् झ् ञ्; ट् ठ् ड् ढ् ण्; त् थ् द् ध् न्; प् फ् व् भ् म्; य् र् ल् व् श् ष् स् ह्, ≍क जिह्वामूलीय; ≍प उपध्मानीय; (ं) अनुस्वार, नासिक्य (हुं); विसर्जनीय, रंग तथा यम।

षोडशश्लोकी शिक्षा में वर्णों की संख्या का निर्देश करते हुए कहा गया है कि स्वरों की संख्या बाइस तथा व्यञ्जनों की संख्या तैंतीस है। इसके अतिरिक्त चार यम, विसर्ग, अनुस्वार; ≍क जिह्वामूलीय; ≍प उपध्मानीय को भी वर्णमाला में निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकार इस शिक्षा के अनुसार वर्णों की कुल संख्या ६३ है।[3] माध्यन्दिनसंहिता में ऌकार के उपलब्ध न होने से तत्सम्प्रदाय की शिक्षा होने कारण वर्णमाला में ऌकार को स्वीकार नहीं किया गया है। इसी कारण इसमें स्वरों की संख्या बाइस ही स्वीकृत की गयी है। याज्ञवल्क्यशिक्षा की ही भाँति इसमें भी व्यञ्जन वर्णों के अन्तर्गत केवल स्पर्श, अन्तःस्थ तथा ऊष्म वर्णों का ही ग्रहण किया गया है, जिसके कारण व्यञ्जनों की संख्या तैंतीस बतलाई गयी है। इस शिक्षा में रंग, नासिक्य, अनुनासिक्य तथा ऌकार को निर्दिष्ट नहीं किया गया है। इस प्रकार षोडशश्लोकी शिक्षा के अनुसार निर्दिष्ट वर्णमाला इस प्रकार है—

अ आ आ३; इ ई ई३; उ ऊ ऊ३; ऋ ॠ ॠ३; ऌ ॡ ॡ३; ए ए३; ऐ ऐ३; ओ ओ३; औ औ३; क् ख् ग् घ् ङ्; च् छ् ज् झ् ञ्; ट् ठ् ड् ढ् ण्; त् थ् द् ध् न्,; प्

1. एते ककारादयो मकारावसानाः कृष्णाः पञ्चविंशतिः स्पर्शाः व्याख्याता शनैश्वरदैवत्या। चत्वारोऽन्तस्था यरलवा कपिलवर्णा अग्निदैवत्या। चत्वार उष्माणः शषसहा अरुणवर्णा आदित्यदैवत्याः।

—या० शि० 2/97 तथा 98 के बीच का गद्यभाग

2. एवम् त्रयस्त्रिंशद् व्यञ्जनानि। —वही

3. त्रयस्त्रिंशद्धसावर्णाः स्वराः द्वाविंशतियमाः।
चत्वारश्च विसर्गोऽनुस्वार ≍क≍पास्त्रिषष्टिकाः॥

—शि० सं० पृ० 164, षोडशश्लोकी शिक्षा

फ् ब् भ् म्; य् र् ल् व्, स् ष् स् ह्; विसर्जनीम, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार (ं) तथा चतुर्विध यम।

वर्णरत्नपदीपिका शिक्षा में स्वरों की संख्या इक्कीस तथा व्यञ्जनों की संख्या बयालिस बतलायी गयी है।[1] इस प्रकार सम्पूर्ण वर्णमाला में तिरसठ वर्णों को स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार अकार से ऋकारपर्यन्त (अ इ उ तथा ऋ) स्वरवर्णों को तीन प्रकार का बतलाया गया है, अर्थात् इन चारों वर्णों के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—तीन-तीन रूप होते हैं। इसमें ऌकार के केवल ह्रस्व रूप को तथा सन्ध्यक्षरों (ए ऐ ओ तथा औ) के ह्रस्व से अन्य (अर्थात् दीर्घ एवं प्लुत) रूप को स्वीकृत किया गया है। इस प्रकार स्वर वर्णों की संख्या इक्कीस हो जाती है।[2] व्यञ्अनों के अन्तर्गत ककार से मकार तक के पच्चीस स्पर्श, यकारादि चार अन्तःस्थ, श ष् स् तया ह्—इन चार ऊष्म, अपञ्चम स्पर्श का पञ्चमस्पर्श होने से चार यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय वर्णों का ग्रहण किया गया है। इसके अतिरिक्त व्यञ्जन वर्णों के अन्तर्गत एक वर्ण विशेष दुःस्पृस्ट का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार इसमें बयालिस व्यञ्जनवर्णों को गिनाया गया है।[3]

इस शिक्षा में ऌकार के दीर्घ तथा प्लुत इन दोनों रूपों, नासिक्य, तथा रंग का ग्रहण नहीं किया गया है। इस प्रकार वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में निर्दिष्टे वर्णराशि निम्नरूपेण अभिव्यक्त की जा सकती है—

अ आ आ३; इ ई ई३; उ ऊ ऊ३; ऋ ॠ ॠ३; ए ए३; ऐ ऐ३; ओ ओ३;

---

1. एकविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः।
द्विगुणानि व्यञ्जनानि ह्येतावान् वर्णसंग्रहः॥
—वर्णरत्नपदीपिका शिक्षा (शि० सं० पृ० 118)

2. ऋपर्यन्ताः स्वरास्त्रेधा ऌकारो ह्रस्व एव च।
सन्ध्यक्षराण्यह्रस्वानि ते चैवमैकविंशतिः॥
—शि० सं० पृ० 118, वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा–12

3. ककारादिमकारपर्यन्ताः स्पर्शाः पञ्चविंशतिः।
चतस्रो यादयोऽन्तस्था ऊष्माणः शषसाः सहाः॥
स्पर्शानां पञ्चमैर्योगे चत्वारश्च यमाः स्मृताः।
अनुस्वारो विसर्गश्च जिह्वामूलीय एव च।
उपध्मानीय इति च दुःस्पष्टश्च तथापरः॥
—शिक्षा संग्रह पृ० 118, वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा–13, 14, 15

ओ, ओ३; क् ख् ग् घ् ङ्, च् छ् ज् झ् ञ्, ट् ठ् ड् ढ् ण्, त् थ् द् ध् न्; प् फ् ब् भ् म्, य् र् ल् व्, श् ष् स् ह्, चार यम, अनुस्वार, विसर्जनीय, ≍क जिह्वामूलीय, ≍प उपध्मानीय, दु:स्पृष्ट।

स्वराष्टकशिक्षा में सभी वर्णों का स्पष्ट निर्देश हुआ है। इसमें स्वर वर्णों का निर्देश करते हुए कहा गया है कि अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ—ये आठ स्वर हैं।[1] वर्णों के क्रम को देखने से यह प्रतीत होता है कि इसमें वर्णमाला को पाणिनि के क्रम से स्वीकार किया गया है और उन्हीं की भाँति मात्रा का भेद किये बिना ही स्वरों को स्वीकृत कर लिया गया है। इसे इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ह् य् व् र् ल् ञ् म् ङ् ण् न् झ् भ् ध् ढ् ध् ज् ब् ग् ड् द् ख् फ् छ् ठ् थ् च् ट् त् क् प् श् ष् स् ह्।[2]

मात्रा भेद से अ इ उ ऋ के तीन-तीन भेद (ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत) और ए ओ ऐ औ के दो दो भेद (दीर्घ तथा प्लुत) हो जाते हैं जिससे स्वरों की कुल संख्या 20 (बीस) हो जाती है। इसमें स्वर वर्णों में ऌकार का ग्रहण स्वीकार न होने के कारण ही शिक्षाकार ने स्वरों का निर्देश किया है, जिसमें ऌकार का ग्रहण न करके उनकी संख्या आठ बतलायी है।

पाराशरी शिक्षा में भी शिक्षाकार ने वर्णराशि का उपदेश नहीं किया है तथापि वर्णमाला विषयक संज्ञाओं से वर्णमाला का बोध हो जाता है। इसमें स्पर्श, ऊष्म, अन्त:स्थ, घोष, अघोष, यम, विसर्जनीय, अनुस्वार इत्यादि संज्ञाएँ प्रयुक्त हुई हैं। व्यञ्जन वर्णों को दो वर्गों में विभाजित करते हुए कहा गया है कि ग् ज् ड् द् ब् घ् झ् ढ् ध् भ् ङ् ञ् ण् न् म् य् र् ल् व् और ह्—ये बीस घोष हैं तथा क् च् ट् त् प् ख् छ् ठ् थ् फ् श् ष् स्—ये अघोष हैं।[3] इसमें 25 स्पर्श, 4 अन्त:स्थ तथा 4 ऊष्म वर्णों का निर्देश एवम् उनकी स्पष्ट संख्या प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त विसर्जनीय, अनुस्वार तथा यमों का प्रयोग हुआ है। जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का विधान तथा प्रयोग दोनों ही उपलब्ध नहीं होते। इस प्रकार पाराशरी शिक्षा में मान्य वर्णराशि निम्नरूपेण प्रदर्शित की जा सकती है—

---

1. अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ इत्यष्टौ स्वरा।

—स्वराष्टक शिक्षा–1, शिक्षा सं० पृ० 162.

2. अइउण्। ऋऌक्। एओङ्। ऐऔच्। हयवरट्। लण्। ञमङणनम्। झभञ्। घढ़धष्। जबगडदश्। खफछठथचटतव्। कपय्। शषसर्। हल्।

—स्वराष्टकशिक्षा, 5/14

3. पाराशरी शिक्षा—56, 57.

क् ख् ग् घ् ङ् च् छ् ज् झ ञ् ट् ठ् ड् ढ ण् त् थ् द् ध् न् प् फ् ब् भ् म् य् र् ल् व् श् ष् श् ह्, अनुस्वार, विसर्जनीय तथा चार यम (कुँ, खुं, गुं. घुं)।

वर्णराशि में वर्णों का क्रम

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में वर्णों का क्रम दो प्रकार से निर्धारित किया गया है—(1) पाणिनि क्रम, (2) पाणिनिव्यतिरिक्त क्रम। पाणिनि के क्रम के अनुसार स्वराष्टक शिक्षा में वर्णों का निर्देश किया गया हैं। उसके अनुसार वर्ण-क्रम इस प्रकार है—

अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ह् य् व् र् ल् ञ् म् ङ् ण् न् झ् भ् घ् ढ् ध् ज् ब् ग् द् ख् फ् छ् ठ् थ् च् ट् त् क् प् श् ष् स् ह्।

केशवी शिक्षा में पाणिनि के समान हल्[1], शल्[2] तथा शर्[3] इत्यादि प्रत्याहारों के प्रयोग से प्रतीत होता है कि इस शिक्षाकार को भी पाणिनीय वर्ण-माला के अनुसार ही वर्णमाला में वर्णों का क्रम मान्य था।

वर्णमाला का दूसरा क्रम है—अ आ आ३, इ ई ई३; उ ऊ ऊ३, ऋ ॠ ॠ३, ऌ ॡ ॡ३; ए ए३, ऐ ऐ३, ओ ओ३, औ औ३, क् ख् ग् घ् ङ् च् छ् ज् झ् ञ् ट् ठ् ड् ढ् ण् त् थ् द् ध् न् प् फ् ब् भ् म् य् र् ल् व् श् ष् स् ह् अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा यम। याज्ञवल्क्यादि सभी शिक्षाओं के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि इन शिक्षाओं को वर्णमाला का यही क्रम स्वीकृत था।[4]

वर्णराशि का विभाजन

सम्पूर्ण वर्णराशि दो भागों में विभाजित की गयी है—(1) स्वर तथा (2) व्यञ्जन। पुनः इन दोनों विभागों को एकाधिक विभागों में विभक्त किया जाता है जिनका विवेचन यथास्थान किया जायेगा। ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से यह विभा-जन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जो प्राचीन ध्वनिवैज्ञानिकों के ध्वनिविषयक सूक्ष्म तथा वैज्ञानिक चिन्तन का परिणाम है।

---

1. स्वराष्टकशिक्षा–5; 119.
2. स्वराष्टकशिक्षा–6, 5.
3. वही–6.
4. द्रष्टव्य—या० शि० उत्तरार्द्ध का गद्यभाग,
   वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा–11.

वर्गीकरण का आधार

वर्णराशि के स्वर तथा व्यञ्जन—इन दो वर्गों में विभाजन का आधार है उनकी निरपेक्षता तथा सापेक्षता। "स्वर" निरपेक्ष ध्वनियाँ हैं। उनके उच्चारण में किसी अन्य वर्ण की सहायता की आवश्यकता नहीं होती, वे स्वयम् उच्चारित हो जाती हैं। इसके विपरीत "व्यञ्जन" सापेक्ष ध्वनियाँ हैं। इनके उच्चारण में स्वर वर्ण की अपेक्षा होती है। स्वर वर्ण की सहायता के विना व्यञ्जनवर्ण श्रुति-गोचर नहीं होते हैं।

स्वर, व्यञ्जन वर्णों के उच्चारण के विषय में विशेष विचार वर्णोच्चारण-प्रकरण किया जायेगा। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि सभी व्यञ्जन ध्वनियों के उच्चारण में वायु का अवरोध होता है। स्पर्शवर्णों के उच्चारण में उच्चारण स्थान पर "करण" के स्पर्श के कारण वायु पूर्णतः अवरुद्ध हो जाती है। अन्तःस्थ वर्णों के उच्चारण में वायु थोड़ी-थोड़ी निकलती रहती है ऊष्म वर्णों के उच्चारण में वायु संघर्षण करती हुई निकलती रहती है। इस प्रकार व्यञ्जन वर्णों के उच्चारण में वायु का कुछ न कुछ अवरोध अवश्य होता है। अवरोध के पश्चात् जब वायु स्फुटित होकर बाहर निकलती है तभी व्यञ्जनध्यनि सुनाई पड़ती है। अवरोध की अवस्था में व्यञ्जनध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। ज्योंहि वायु स्फुटित होकर बाहर निकलती है, त्योंहि उसी के साथ व्यञ्जन में स्वर अथवा उसका अंश आ जाता है। विना स्वरांश के व्यञ्जन के उच्चारण में अवरुद्ध हुई वायु बाहर निकल नहीं सकती। इस प्रकार व्यञ्जन के उच्चारण में स्वर का आश्रय अवश्य लेना पड़ता है। इसी कारण व्यञ्जन को सापेक्ष कहा जाता है। स्वर वर्ण के उच्चारण में वायु का अवरोध नाम मात्र का होता है क्योंकि "करण" तथा "उच्चारण स्थान"—दोनों में दूरी होती है। करण मात्र स्थान के समीप जाता है जिससे वायु में थोड़ा सा विकार होता है। अतः स्वर का उच्चारण स्वतः हो जाता है। यद्यपि वायु का थोड़ा अवरोध स्वर के उच्चारण में भी होता है तथापि वह व्यञ्जन के उच्चारण की अपेक्षा बहुत कम होता है। स्वतः उच्चरित होने के कारण स्वर वर्ण की निरपेक्षता तथा स्वरों की सहायता (–अपेक्षा) से उच्चरित होने के कारण व्यञ्जन-वर्णों की सापेक्षता स्पष्ट होती है।

स्वर की विशिष्टता प्रदर्शित करते हुए याज्ञवल्क्यशिक्षा में कहा गया है कि जिस प्रकार शक्तिशाली राजा दुर्बल राजा के राष्ट्र को अपहृत कर लेता है; उसी प्रकार बलवान् स्वर दुर्बल व्यञ्जन को हर लेता है—प्रभावित कर देता

है।[1] पतञ्जलि ने महाभाष्य में कहा है—व्यञ्जन नट की भार्या के समान होते हैं। जिस प्रकार रंगमंच पर गयी हुई नट की भार्या से जो जो पूछता है कि तुम किसकी हो ? तुम किसकी हो ? उन सभी को वह "मैं तुम्हारी हूँ", "मैं तुम्हारी हूँ" कहती है। उसी प्रकार व्यजञ्न भी जिस प्रकार के स्वर के सम्पर्क में आते हैं उस उस स्वर के स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं।[2]

या० शि० की शिक्षावल्ली में यह स्पष्ट कहा गया है कि इनके द्वारा व्यञ्जन ध्वनित होते हैं अथवा वे स्वयं उच्चारित होते हैं; अतः वे स्वर कहलाते हैं।[3] इसी शिक्षा के अनुसार जिस प्रकार माला में मणियाँ सूत्र का अनुवर्तन करतीं हैं उसी प्रकार व्यञ्जन भी स्वर का अनुगमन करते हैं अर्थात् व्यञ्जन स्वर के आश्रित रहते हैं।[4]

पाणिनीय शिक्षा के पञ्चिका भाष्य में स्पष्ट प्रतिपादित किया गया है कि इन स्वरों के द्वारा व्यञ्जन ध्वनित होते हैं, अतः ये स्वर हैं।[5]

उवट ने स्वर का निर्वचन करते हुए कहा है कि ये स्वर ध्वनित होते हैं—शब्द करते हैं, अतः स्वर हैं।[6]

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के भाष्यकार सोमयार्य के अनुस्वार व्यञ्जन अकेले उच्चरित नहीं हो सकते, अतः सापेक्ष हैं। किन्तु स्वर निरपेक्ष हैं, क्योंकि वे स्वतः उच्चरित होते हैं।[7]

---

1. दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान्नृपः।
दुर्बलं व्यञ्जनं तद्वद्धरते बलवान् स्वरः॥ ——या० शि० 1।1
2. व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद्यथा नटानां स्त्रियो रंगगताः यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति तं तन्तवेत्याहुः। एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्य च कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते। —पाणिनि 6/1/2 पर पतञ्जलि
3. स्वर्यन्ते शब्द्यन्ते व्यञ्जनान्येभिः स्वेन राजन्त इति वा।
—या० शि० शिक्षावल्ली
4. मणिवद्व्यञ्जनान्याहुः सूत्रवत्स्वरः इष्यते।
व्यञ्जनान्यनुवर्तन्ते यत्र तिष्ठति स स्वरः॥
—या० शि० 1/31 उत्तरार्द्ध 32 पूर्वार्द्ध
5. स्वर्यंते शब्द्यतेऽनेन व्यञ्जनमिति।—पा० शि० 4 (पञ्चिकाभाष्य)
6. स्वर्यन्ते शब्द्यन्ते इति स्वराः (ऋ० प्रा० 1/3, उवटभाष्य)
7. व्यञ्जनं केवलमवस्थातुं न शक्नोति किन्तु सापेक्षं स्वरास्तु निरपेक्षम्।
—तै० प्रा० 21/1 पर त्रिभाष्यरत्नभाष्य

उवट के उपर्युक्त कथन पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि व्यञ्जनों में भी जो ध्वनि निकलती है वह स्वर के कारण ही सुनाई पड़ती है।

तै० प्रा० 1/6 के भाष्य में गार्ग्य गोपालयज्वा ने भी इसी तथ्य को उद्घाटित किया है, जो स्वयं सुशोभित (व्यक्त) होते हैं किसी अन्य द्वारा नहीं, वे स्वर कहलाते हैं[1] तथा व्यञ्जन वे हैं जो दूसरे अर्थात् स्वर की सहायता से व्यक्त (उच्चरित) होते हैं इसलिए व्यञ्जन कहे जाते हैं।[2]

इसी तथ्य को पाणिनि के प्रत्याहार सूत्रों के प्रत्येक व्यञ्जन वर्ण के अकार के उच्चारण का कारण बतलाते हुए सिद्धान्तकौमुदी की वृत्ति में प्रस्तुत किया गया है कि हकारादि व्यञ्जनों में जिस अकार को सम्पृक्त करके सूत्र निर्माण किया गया है वहाँ वह अकार केवल उच्चारण के लिए ही प्रयुक्त है।[3]

पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में प्रतिपादित किया है कि जो स्वयं प्रकाशित होते हैं वे स्वर तथा जो दूसरे स्वरों के अनुगामी (आश्रित) होते हैं; वे व्यञ्जन कहलाते हैं।[4]

व्याकरण, शिक्षा तथा प्रातिशाख्य में विहित अङ्गाङ्गिभाव-विषयक विधान में स्वरों का अङ्गी तथा व्यञ्जन वर्णों का अङ्गरूप में प्रतिपादन स्वर की निरपेक्षता तथा व्यञ्जन वर्णों की सापेक्षता का संकेत करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्णराशि का स्वर तथा व्यञ्जन इन दो विभागों में वर्गीकरण का मुख्य आधार उनकी निरपेक्षता तथा सापेक्षता है। स्वर व्यञ्जन के बीच परस्पर निरपेक्ष तथा सापेक्षभाव है। स्वर स्वतः उच्चारित होते हैं। जबकि व्यञ्जन का स्वतः उच्चारण नहीं हो सकता। उच्चारण के लिए वे स्वर के आश्रित रहते हैं।

---

1. द्रष्टव्य—वर्णोच्चारण प्रकरण में स्वर वर्णों का उच्चारण।
   स्वयं राजन्ते नान्येन व्यज्यन्त इति स्वराः
   —तै० प्रा० 1/5 पर वैदिकाभरण
2. परेण स्वरेण व्यज्यतः इति व्यञ्जनम्।
   —तै० प्रा० 1/6 पर वैदिकाभरण
3. हकारादिष्वकारः उच्चारणार्थः। —पाणिनि, माहेश्वरसूत्र, वृत्ति
4. स्वयं राजन्त इति स्वराः। अन्वग् भवति व्यञ्जनमति।
   —पा० सू० 1/2/29 पर पतञ्जलि.

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों का मत

प्राचीन भाषाशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत स्वर तथा व्यञ्जनविषयक उपर्युक्त मत आधुनिक भाषावैज्ञानिकों को मान्य नहीं है। उनका कथन है कि श्, स् इत्यादि कुछ ऐसी ध्वनियाँ हैं जिनका उच्चारण स्वर की सहायता के विना भी उच्चरित हो जाता हैं। अतः स्वर और व्यञ्जन को क्रमशः निरपेक्ष तथा सापेक्ष कहना युक्तिसङ्गत नहीं है।

प्राचीन भाषाशास्त्रियों के मतों की श्रेष्ठता

आधुनिक भाषाविदों द्वारा दिया गया उपर्युक्त तर्क सम्यक् नहीं है क्योंकि (1) व्यञ्जन तथा स्वर की उच्चारण-प्रक्रिया पर सूक्ष्म निरीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वर का उच्चारण स्वतः हो जाता है तथा व्यञ्जन के उच्चारण में स्वर की अल्पाधिक मात्रा का आश्रय लेना ही पड़ता है।[1] (2) आधुनिक यन्त्रों के होते हुए भी आधुनिक भाषाशास्त्रियों द्वारा स्वर तथा व्यञ्जन की कोई सर्वांश में पूर्ण, यथार्थ, वैज्ञानिक तथा सर्वग्राह्य परिभाषा प्रस्तुत नहीं की जा सकी है। (3) स्वर वर्ण व्यञ्जन वर्णों की अपेक्षा अधिक मुखर होते हैं। स्वर वर्णों की श्रुतिगोचरता दूर तक हो सकती है किन्तु व्यञ्जन वर्णों की नहीं। (4) स्वर वर्णों का उच्चारण देर तक किया जा सकता है किन्तु व्यञ्जनों का नहीं। व्यञ्जन वर्ण क्षणिक उच्चारण वाले होते हैं (5) स्वर वर्णों का उच्चारण किसी अन्य वर्ण की सहायता के बिना सरलता से किया जा सकता है किन्तु व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण स्वर की सहायता के विना स्पष्टतया नहीं किया जा सकता। व्यञ्जन वर्णों के उच्चारण में अति सावधानी रखने पर भी स्वर की थोड़ी सी ध्वनि अवश्य ही सुनाई पड़ जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीन भाषाविदों द्वारा स्वर तथा व्यञ्जन वर्णों के विभाजन का आधार अधिक तर्कपूर्ण है।

स्वर तथा व्यञ्जन के उच्चारण में मौलिक भेद

(1) स्वर वर्णों का उच्चारण अत्यधिक मुखरता से होता है। स्वरों के उच्चारण का समय वक्ता की इच्छा के अनुसार बढ़ाया भी जा सकता है। वक्ता उसे निश्चित मात्रा के अनुसार एक अथवा एकाधिक मात्रा में उच्चारित कर सकता है। व्यञ्जन अपने निर्धारित उच्चारण-काल में ही उच्चारित हो सकते हैं; न उससे अधिक और न ही उससे कम समय में, (2) स्वरों को काफी दूर

1. द्रष्टव्य "वर्णों का उच्चारण" शीर्षक प्रकरण में व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण।

तक सुन सकते हैं। व्यञ्जनों की उतनी श्रव्यता नहीं होती। इसी कारण स्वरों में स्वराघात एवम् बलाघात वहन करने की शक्ति होती है। अधिक मुखरता होने के कारण ही स्वर वर्ण आक्षरिक हैं तथा कम मुखरता के कारण व्यञ्जन, स्वर के अङ्ग बनकर ही अक्षर की सीमा में आते हैं (3) ध्वनिवैज्ञानिकों ने "आलिसोग्राफ" इत्यादि वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से यह पता लगा लिया है कि स्वरों और प्रमुख व्यञ्जनों के उच्चारण में स्वर तन्त्रियों में होने वाले कम्पनों में न्यूनाधिक्य पाया जाता है। सभी स्वर वर्ण सघोष होते हैं परन्तु व्यञ्जन वर्णों में कुछ सघोष तथा कुछ अघोष होते हैं। जो सघोष व्यञ्जन हैं उनकी सघोषता स्वर वर्णों की अपेक्षा कम होती है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि स्वरों तथा व्यञ्जनों के वर्गीकरण का प्रमुख आधार उनकी निरपेक्षता तथा सापेक्षता है। स्वरों का उच्चारण स्वतन्त्र अर्थात् बिना अन्य ध्वनि की सहायता के होता है परन्तु व्यञ्जनों के पूर्ण उच्चारण में स्वर वर्णों की अपेक्षा होती है। स्वर, व्यञ्जन वर्णों की अपेक्षा अधिक मुखरित होते हैं। प्राचीन भारतीय ध्वनिवैज्ञानिकों द्वारा सम्पूर्ण वर्णराशि का स्वर तथा व्यञ्जन—इन दो भागों में किया गया विभाजन अत्यन्त वैज्ञानिक, तथ्यपूर्ण तथा उपयोगी है।

स्वर-वर्ण

"स्वर" शब्द ध्वन्यात्मक या उच्चारणार्थक स्वृ धातु से "अच्" प्रत्यय लग कर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है ध्वनित होने वाला, उच्चारित होने वाला। स्वर स्वयम् उच्चारित होते हैं किसी अन्य की सहायता से नहीं; अतः स्वर कहलाते हैं। शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में कुल तेइस स्वर प्राप्त होते हैं—

अ आ आ३; इ ई ई३; उ ऊ ऊ३; ऋ ॠ ॠ३; ऌ ॡ ॡ३ ए ए३; ऐ ऐ३ ओ ओ३; औ औ३।

प्रायः सभी शिक्षा ग्रन्थों में स्वरों को उपर्युक्त क्रम में ही उपदिष्ट किया गया है किन्तु स्वराष्टकशिक्षा में स्वरवर्णों को पाणिनि की वर्णराशि के क्रम से स्वीकार किया गया है उसमें एकार के बाद ओकार तत्पश्चात् ऐकार तथा औकार का ग्रहण हुआ है। इसके अतिरिक्त इस शिक्षा में स्वर वर्णों के केवल ह्रस्व या दीर्घ रूप ही निर्दिष्ट हुए हैं जैसा पाणिनि ने किया है। अन्य रूपों के विषय में कोई अलग से विधान नहीं किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय प्रचलित वर्णमाला का क्रम पाणिनि के अनुसार ही था और उनके ही विधान के

अनुसार सभी लोग स्वर वर्णों को समझ जायेंगे। इसीलिए शिक्षाकार ने स्वर वर्ण के केवल एक ही रूप को निर्दिष्ट कर दिया है। इस शिक्षा में स्वर वर्णों के अन्तर्गत ऌकार का भी ग्रहण नहीं हुआ है। इसमें व्यञ्जन वर्णों का निर्देश न होने से हम यह निश्चित करने में असमर्थ हो जाते हैं कि शिक्षाकार को ऌकार का व्यञ्जनत्व ही मन्तव्य था। स्वराष्टकशिक्षा में उपदिष्ट स्वर इस प्रकार हैं—

अ, इ, उ, ऋ, ए ओ ऐ तथा औ।[1] इनके तीनों रूपों का ग्रहण करने पर वीस स्वर वर्णों का ही निर्धारण होता है—

अ, आ, आ३; इ ई ई३; उ ऊ ऊ३; ऋ ॠ ॠ३; ए ए३; ओ औ३, ऐ ऐ३, औ औ३,।

वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में अन्य स्वर वर्णों के साथ ऌकार के केवल ह्रस्व रूप को ही स्वीकार किया गया है।[2] इस प्रकार इसमें स्वरों की इक्कीस संख्या का ही निर्देश हुआ हो।[3]

षोडशश्लोकी शिक्षा में प्लुत ऌ३, का ग्रहण न होने से स्वरों की बाइस संख्या का निर्देश किया गया है। इसका कारण यह है कि शुक्लयजुर्वेद में ऌ३कार उपलब्ध नहीं होता। अतः अपनी संहिता में उपलब्ध बाइस स्वरों को ही इस शिक्षा में स्थान प्राप्त है।[4]

स्वरों का अवान्तर विभाजन

स्वर वर्णों को दो भागों में विभाजित किया गया है—(1) समानाक्षर तथा (2) सन्ध्यक्षर। यद्यपि सभी शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में इसका स्पष्टतः उल्लेख नहीं हुआ है तथापि वर्णमाला के सम्यक् अवबोध के लिए स्वरवर्ण के इन अवान्तर भेदों को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है।

---

1. अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ इत्यष्टौ स्वराः।
—स्वराष्टक शि०, शिक्षासंग्रह पृ० 162.
2. अपर्यन्ताः स्वरास्त्रेधा ऌकारो ह्रस्व एव च।
—वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा–12, शि० सं० पृ० 118.
3. एकविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः।
(वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा–11, शि० सं० पृ० 118)
4. त्रयस्त्रिंशद्धशावर्णा स्वराः द्वाविंशतिर्यमाः।
(षोडशश्लोकी शिक्षा–शि० सं० पृ० 164)

समानाक्षर

समानाक्षर का शाब्दिक अर्थ है—समान अक्षर, समानरूप से उच्चारित होने वाले अक्षर। इनके उच्चारण में उच्चारण स्थान तथा करण समान स्थिति में विद्यमान रहते हैं। उनकी स्थिति आद्योपान्त एक जैसी रहती है। इनके उच्चारण में सर्वांश में एक प्रकार की ध्वनि कर्णगोचर होती है। समानाक्षर स्वरों का चाहे जितनी देर तक उच्चारण करें परन्तु उनके उच्चारणावयवों की स्थिति में परिवर्तन नहीं होता। इन वर्णों के उच्चारण में एक ही मूल ध्वनि होती है। अतः इन्हें मूल अक्षर भी कहा जाता है।

इस संज्ञा का विधान अथवा प्रयोग शुक्लयजुर्वेद की किसी शिक्षा में नहीं हुआ है। वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में इसके लिए "सिम्" संज्ञा का विधान किया गया है। शुक्लयजुर्वेदीयप्रातिशाख्य में भी इसके लिए "सिम्" संज्ञा का प्रयोग हुआ है। इसके अनुसार वर्णमाला में प्रारम्भ से आठ स्वर (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ) "सिम्" कहलाते हैं।[1] वर्णरत्नप्रदीकिा शिक्षा में कहा गया है कि ॠकार पर्यन्त स्वर सिम् कहलाते हैं।[2]

इस प्रकार अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ ऊ३, ऋ ॠ ॠ३, तथा ऌ ॡ ॡ३,—ये समानाक्षर वर्ण हैं। इनमैं तीन-तीन वर्ण स्थान और प्रयत्न की दृष्टि से समान होते हैं जो सवर्ण कहलाते हैं। अ आ आ३—ये परस्पर सवर्ण हैं। इ ई ई३—ये तीनों भी आपस में सवर्ण हैं। इसी प्रकार उ ऊ ऊ३, ॠ ऋॠ३, तथा ऌ ॡ ॡ३, परस्पर सवर्ण हैं। इन सवर्णों के उच्चारण में सर्वांश में समानता होती है। उल्लेखनीय है कि वाजसनेयिप्रातिशाख्य में समानाक्षर संज्ञा के अन्तर्गत स्वर वर्णो के केवल ह्रस्व तथा दीर्घ रूप का ही ग्रहण किया गया है, प्लुत रूप को नहीं। जब कि समानाक्षरत्व तो प्लुत स्वरों का भी सिद्ध होता है क्योंकि इनका उच्चारण भी सर्वांश में समान् होता है। इसका कारण है संज्ञा का प्रयोजन। यद्यपि प्लुत स्वरों का भी समानाक्षरत्व है किन्तु इस संज्ञा का प्रयोग सन्धिप्रकरण में होता है। सन्धियों में प्लुत स्वरों की सन्धि नहीं प्राप्त होती अतः प्रयोजनाभाव से उसका समानाक्षर (सिम्) संज्ञा के अन्तर्गत ग्रहण नहीं हुआ है।

इस प्रकार समानाक्षर वर्ण ये हैं—अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ ऊ३; ऋ ॠ ॠ३, ऌ ॡ ॡ३।

---

1. सिमादितोऽष्टौ स्वराणाम् (वा० प्रा० 1/44)
2. सिम्संज्ञका ॠपर्यन्ता भावी स्यात्कण्ठ्यवर्जितः।
—वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा, शि० सं० पृ० 118

सन्ध्यक्षर

सन्ध्यक्षर का शाब्दिक अर्थ है—सन्धि से निष्पन्न अक्षर। दो स्वरों के मेल से निष्पन्न होने वाले स्वर सन्ध्यक्षर कहलाते हैं। इन वर्णों का उच्चारण समान नहीं होता है। इन स्वरों के आदि वाले स्वर के भाग के बाद अन्तिम भाग दूसरे स्वर का होता है। दो स्वरों की सन्धि से उत्पन्न होने के कारण ही इन स्वरों को मिश्रित स्वर या संयुक्त स्वर भी कहा जाता है।

भाष्यकार उवट ने ऋग्वेदप्रातिशाख्य के भाष्य में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अकार की इकार, उकार, एकार तथा ओकार के साथ सन्धि से जो स्वर निष्पन्न होसे हैं वे सन्ध्यक्षर कहलाते हैं।[1]

षोडशश्लोकी शिक्षा में इस संज्ञा का विधान किया गया है। उसके अनुसार ए, ओ, ऐ तथा औ—ये चार स्वर सन्ध्यक्षर कहलाते हैं।[2]

व्यञ्जन

व्यञ्जन शब्द "वि" उपसर्गपूर्वक अञ्ज् धातु से ल्युट् (अन) प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। अञ्ज् धातु प्रकाशित होने, प्रकट होने अथवा व्यक्त होने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार व्यञ्जन शब्द का अर्थ होता है—विशेष प्रकार से प्रकाशित होने वाला, विशेष रूप से प्रकट होने वाला अथवा विशेष रूप से व्यक्त होने वाला।

व्यञ्जनवर्ण स्वर वर्णों की सहायता से विशेष रूप से प्रकाशित, प्रकट, व्यक्त अर्थात् उच्चारित होते हैं इसीलिए व्यञ्जन कहलाते हैं। जैसा कि भाष्यकार गार्ग्य गोपालयज्वा ने अपने भाष्य में कहा है कि अपने से भिन्न अर्थात् स्वर की सहायता से व्यक्त होते हैं, उच्चारित होते हैं अतः व्यञ्जन कहलाते हैं।[3] भाष्य-

---

1. अकारस्य इकारेण उकारेण एकारेण ओकारेण च सह सन्धौ यान्यक्षराणि निष्पद्यन्ते तानि तथोच्यन्ते।

   (ऋग्वेदप्रातिशाख्य 1/2 पर उवट)

2. शिक्षासंग्रह पृष्ठ 164 (षौडशश्लोकी शिक्षा)।
3. परेण स्वरेण व्यज्यत इति व्यञ्जनम्।

   (तैत्तिरीयप्रातिशाख्य 1/6 पर वैदिकाभरणभाष्य)

कार पतञ्जलि ने भी इसी आशय की पुष्टि की है—स्वर के अनुगामी होते हैं अर्थात् स्वर की सहायता से उच्चारित होते हैं इसलिए इन्हें व्यञ्जन कहा जाता है।[1]

उवट ने व्यञ्जन शब्द की निरुक्ति भिन्न प्रकार से ही है—ये वर्ण अर्थों को व्यक्त करते हैं; इसलिए व्यञ्जन कहलाते हैं।[2] अर्थात् स्वरों के अपरिवर्तित होने पर भी व्यञ्जनों का परिवर्तन हो जाने पर शब्दों का अर्थ बदल जाता है— जैसे धूप, कूप, यूप—इन शब्दों में स्वर समान हैं किन्तु व्यञ्जन परिवर्तित हो गये हैं जिससे इनका अर्थ भी अलग-अलग परिवर्तित हो गया है।

सभी शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में व्यञ्जनों का स्पष्ट उपदेश नहीं मिलता। कतिपय ग्रन्थों में उल्लिखित वर्णमाला—विषयक संज्ञाओं के आधार पर उनका निर्धारण किया जा सकता है। कतिपय शिक्षाओं में व्यञ्जन वर्णों की संख्या का निर्देश किया गया है किन्तु उनमें मतैक्य नहीं है। कतिपय शिक्षाओं में व्यञ्जनों की संख्या 42 बतलायी गयी है तो किसी में तैंतीस ही। इसका कारण यह है कि जो शिक्षाकार केवल स्पर्श, अन्तःस्थ तथा ऊष्म को ही व्यञ्जन वर्णों में समाहित करते हैं उनके अनुसार व्यञ्जनों की संख्या तैंतीस है तथा जो इन वर्णों के अतिरिक्त जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्जनीय, अनुस्वार, नासिक्य तथा चार यमों का समाहार व्यञ्जनों के अन्तर्गत करते हैं उनके अनुसार व्यञ्जनों की संख्या 42 हो जाती है। या० शि० में व्यञ्जनों की संख्या 33 बतलायी गयी है।[3] इसके अनुसार केवल स्पर्श, अन्तःस्थ तथा ऊष्म वर्ण ही व्यञ्जन हैं। इसके अतिरिक्त जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्जनीय, अनुस्वार, नासिक्य तथा चार यमों का अलग से निर्देश हुआ है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य में इन्हें अयोगवाह कहा गया है।

याज्ञवल्यशिक्षा की ही भाँति षोडशश्लोकी की शिक्षा में भी व्यञ्जनों की

---

1. अन्वग् भवति व्यञ्जनमिति।

(पाणिनि 1/2/29 पर पतञ्जलि)

2. व्यञ्जयन्ति प्रकटीकुर्वन्त्यर्थानीति व्यञ्जनानि।

(ऋग्वेदप्रातिशाख्य, 1/6 पर उवटभाष्य)

3. एम् त्रयस्त्रंशद्व्यञ्जनानि।

(या० शि० 2/97 तथा 98 के मध्य का गद्यभाग)

संख्या 33 बतलायी गयी है। इसके अतिरिक्त चार यमों, विसर्जनीय, जिह्वा-मूलीय, उपध्मानीय तथा अनुस्वार का उल्लेख हुआ है।[1]

वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में व्यञ्जनों की 42 संख्या का उल्लेख हुआ है।[2] जिसमें ककार से मकार पर्यन्त 25 स्पर्श, यकारादि चार अन्तःस्थ, श् ष् स् ह् (चार ऊष्म), चार यम, अनुस्वार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय; तथा दुःस्पृष्ट का ग्रहण किया गया है।[3]

पाराशरी शिक्षा में व्यञ्जन वर्णों का स्पष्ट निर्देश तो नहीं हुआ किन्तु उसमें घोष तथा अघोष वर्णों को गिनाया गया है।

व्यञ्जनों का अवान्तर विभाजन

व्यञ्जन वर्णों के चार अवान्तर विभाग हैं—स्पर्श, अन्तःस्थ, ऊष्म तथा अयोगवाह।

(1) स्पर्श

स्पर्श वे वर्ण (व्यञ्जन) कहलाते हैं जिनके उच्चारण में सक्रिय उच्चारणावयव (करण) निष्क्रिय उच्चारणावयव (स्थान) का पूर्णरूपेण स्पर्श कर लेता है जिसके परिणामस्वरूप वायु को मुखविवर में कुछ समय तक रुकना पड़ता है। स्पर्श शब्द का अर्थ है—सम्पर्क, संयोग। स्पर्श वर्णों का उच्चारण करते समय मुख के दो उच्चारणावयव-स्थान तथा करण के सम्पर्क के कारण वायु का अवरोध होता है।

शिक्षाग्रन्थों में ककार से मकार पर्यन्त पच्चीस वर्णों को स्पर्श संज्ञा से अभिहित किया गया है। याज्ञवल्क्यशिक्षा के अनुसार ककार से मकार तक के

---

1. त्रयस्त्रिंशद्धसावर्णाः स्वराः द्वाविंशतिर्यमाः।
चत्वारश्च विसर्गोऽनुस्वारः ᳲक, ᳲपा स्त्रिषष्टिकाः॥
(शि० सं० पृ० 164, षौडशश्लौकी क्षिक्षा)

2. एकविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः।
द्विगुणानि व्यञ्जनानि ह्येतावान् वर्णसंग्रहः॥
(वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा 11)

3. ककारादिमकारपर्यन्ताः स्पर्शा पञ्चविंशतिः, चतस्रो यादयोऽन्तस्था ऊष्माण शषसाः सहाः। स्पर्शानां पञ्चमैर्योगे चत्वारश्च यमा स्मृताः। अनुस्वारो विसर्गश्च जिह्वामूलीय एव च॥ उपध्मानीय इति च दुःस्पृष्टश्च तथापरः॥
(वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा–13, 15)

पच्चीस व्यञ्जन स्पर्श कहलाते है।[1] वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गयी है।[2] अन्य शिक्षाओं में भी स्पर्श वर्णों के अन्तर्गत इन पच्चीस वर्णों का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार स्पर्श वर्णों में समाहित वर्ण इस प्रकार प्रदर्शित किए जा सकते हैं—

क् ख् ग् घ् ङ् च् छ् ज् झ् ञ् ट् ठ् ड् ढ् ण् त् थ् द् ध् न् प् फ् ब् भ् म्।

स्पर्श वर्णों का विभाजन

स्पर्श संज्ञक वर्णों में पाँच-पाँच वर्णों की श्रेणियाँ होती हैं। जिनको उस वर्ग के प्रथम अक्षर के नाम से पुकारा जाता है। वे श्रेणियाँ निम्न प्रकार से अभिव्यक्त की जा सकती हैं—

कवर्ग—क् ख् ग् घ् ङ्।
चवर्ग—च् छ् ज् झ् ञ्।
टवर्ग—ट् ठ् ड् ढ् ण्।
तवर्ग—त् थ् द् ध् न्।
पवर्ग—प् फ् ब् भ् म्।

इन वर्गों में भी प्रत्येक वर्ग के विषय में संख्या का विधान किया गया है। वर्गस्थ प्रथम व्यञ्जन को प्रथम, द्वितीय को द्वितीय, तृतीय को तृतीय, चतुर्थ को चतुर्थ तथा पञ्चम को पञ्चम अथवा अन्तिम स्पर्श कहा जाता हैं। इन वर्णों की संख्या के अनुसार निम्नलिखित प्रकार से समझा जा सकता है—

प्रथम स्पर्श—क् च् ट् त् प्।
द्वितीय स्पर्श—ख् छ् ठ् थ् फ्।
तृतीय स्पर्श—ग् ज् ड् द् ब्।
चतुर्थ स्पर्श—घ् झ् ढ् ध् भ्।
पञ्चम स्पर्श—ङ् ञ् ण् न् म्।

इनमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ स्पर्श को अनुत्तम स्पर्श और पञ्चम स्पर्श को उत्तम स्पर्श भी कहा जाता है।

---

1. एते ककारादयो मकारावसानाः कृष्णाः पञ्चविंशतिः स्पर्शाः।
(या०शि० 2/97 तथा 98 का मध्यभाग)
2. ककारादिमकारपर्यन्ताः स्पर्शाः पञ्चविंशतिः।
(वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा 13)

अन्तःस्थ

अन्तःस्थ वर्णों के सम्बन्ध में सभी शिक्षाग्रन्थ एकमत हैं। अन्तःस्थ शब्द "अन्तः" पूर्वक तथा स्था धातु के क्विप् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है—मध्य में स्थित। गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार जिह्वामध्य इत्यादि करण के स्पर्श के बिना उत्पन्न होने के कारण य् र् ल् तथा व् वर्ण अन्तःस्थ कहलाते हैं।[1]

ऋग्वेदप्रातिशाख्य 1/9 पर भाष्यकार उवट ने कहा है कि स्पर्श वर्णों तथा ऊष्म वर्णों के मध्य होने के कारण अन्तःस्थ कहलाते हैं।[2] ये आभ्यन्तर प्रयत्न की दृष्टि से स्वर तथा व्यञ्जन के मध्यवर्ती हैं।

अन्तःस्थ वर्ण न तो स्पर्श वर्णों की भाँति पूर्णरूपेण स्वराश्रित होकर उच्चारित होते हैं और न स्वर वर्णों की भाँति स्वतन्त्र ही उच्चारित होते हैं। इनके उच्चारण में स्पर्श व्यञ्जनों की भाँति करण का उच्चारण स्थान पर न तो पूर्णतः स्पर्श होता है और न स्वर वर्णों की भाँति मुखविवर पूर्णतः उन्मुक्त ही रहता है।

इस प्रकार मध्यम अवस्था में उच्चारण होने के कारण ये अन्तःस्थ कहलाते हैं। इन वर्णों की यह विशेषता है कि इनमें से प्रत्येक वर्ण क्रमशः अपने स्थान वाले स्वर से सम्बन्धित होते हैं। स्वर तथा व्यञ्जन दोनों गुणों से युक्त होने के कारण इन्हें अर्द्धस्वर भी कहा जाता है।

सभी शिक्षाकारों के अनुसार य् र् ल् तथा व्—ये व्यञ्जन अन्तःस्थ कहे जाते हैं।[3]

ऊष्म

---

1. जिह्वामध्यप्रभृतीनां करणानामन्तर्जन्यत्वाद्यरलवा अन्तःस्था इत्याख्यायन्ते।
(तै० प्रा० 1/8 पर वैदिकाभरणभाष्य)
2. स्पर्शोष्मणामन्तर्मध्ये तिष्ठन्तीत्यन्तःस्थाः।
(ऋ० प्रा० 1/9 पर उवटभाष्य)
3. चत्वारोऽन्तःस्था यरलवाः कपिलवर्णा अग्निदेवत्याः।
(या० शि० 2/97 तथा 98 के मध्य गद्य भाग)
चतस्रो यादयोऽन्तःस्थाः··· (वर्णरत्नप्रदीपिका शि०, शि० सं० पृ० 118)।
अन्तःस्था यरलवा स्मृताः (षो० श्लो० शि०, शि० सं० पृ० 464)।

ऊष्म का अर्थ है वायु। यद्यपि वायु का उपयोग ककारादि सभी वर्णों के उच्चारण में होता है किन्तु इस संज्ञा का विधान कतिपय वर्णविशेष के लिए ही हुआ है। केवल उन वर्णों को ही ऊष्म कहने का कारण यह है कि उनके उच्चारण में ककारादि वर्णों की अपेक्षा वायु की अधिक प्रधानता होती है। ऊष्म वर्णों के उच्चारण करते समय वायु अबाध गति से बाहर निकलती है। जैसा कि उवट ने कहा है—ऊष्मा का अर्थ है वायु। उस वायु की प्रधानता जिसमें रहती है वे वर्ण ऊष्म कहलाते हैं।[1] किन्तु वैदिकाभरणकार के अनुसार ऊष्मा नामक बाह्यप्रयत्न के योग से उच्चारित होने के कारण—ये वर्ण ऊष्म कहलाते हैं।[2]

ऊष्म वर्णों के उच्चारण में वायु घर्षण करती हुई बाहर निकलती है इसलिए इन वर्णों को संघर्षी ध्वनि कहते हैं। अबाधगति से वायु के बाहर निकलने के कारण ये वर्ण "सप्रवाह" भी कहलाते हैं।

ऊष्म वर्णों की संख्या के विषय में शिक्षाकारों में मतैक्य नहीं हैं। कतिपय शिक्षाकार ऊष्मवर्णों की संख्या केवल चार मानते हैं। उनके अनुसार श्, ष्, स् तथा ह्—ये वर्ण ऊष्मसंज्ञक हैं।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य में भी इन्हीं चारों वर्णों को ऊष्म बतलाया गया है।[3]

या० शि० के अनुसार भी श्, ष्, स् तथा ह्—ऊष्म कहलाते हैं।[4]

षोडशश्लोकी शिक्षा के अनुशीलन से भी यही प्रतीत होता है कि उसके अनुसार श् ष् स् ह्—ये चार वर्ण ऊष्म हैं क्योंकि इसमें व्यञ्जनों की संख्या तैंतीस ही बतलायी गयी है। यम, विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का ग्रहण ऊष्म वर्ण में नहीं किया गया है।

वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में भी श् ष् स् तथा ह् वर्णों को ऊष्म कहा गया है।[5]

---

1. ऊष्मा वायुस्तत्प्रधानवर्णा ऊष्माणः।
(ऋ० प्रा० 1/10 पर उवट)।
2. ऊष्माख्यबाह्यप्रयत्नयोगादूष्माण इत्याख्या।
(तै० प्रा० 1/9 पर वैदिकाभरणभाष्य)।
3. अथोष्माणः। शिति षिति सिति हिति। (वा० प्रा० 8/16–17)
4. चत्वार ऊष्माणः शषसहाः अरुणवर्णा आदित्यदेवत्याः।
(या० शि० 2/97 और 98 के मध्य, गद्यभाग)
5. ...ऊष्माणः शषसाः सहाः (वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा–13)

अयोगवाह

अयोगवाह का अर्थ है—जिनका किसी के प्रयोग के बिना निर्वाह न हो, पराश्रित। अयोगवाह वर्ण अपने उच्चारण के लिए पराश्रित होते हैं। इनके उच्चारण में स्वरों की आकांक्षा होती है। भाष्यकार उवट के अनुसार ये वर्ण अकारादि वर्ण के साथ मिलकर अपना निर्वाह करते हैं—आत्मलाभ प्राप्त करते हैं (उच्चारित होते हैं) इसलिए इन्हें अयोगवाह कहा जाता है।[1] भाष्यकार अनन्त ने इन वर्णों के लिए "योगवाह" संज्ञा का प्रयोग किया है। इनके अनुसार ये वर्ण अकारादि वर्ण समुदाय के साथ मिल कर अपना निर्वाह करते हैं इसलिए योगवाह कहलाते हैं।[2]

वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में इन वर्णों के लिए संयोगवाह संज्ञा का विधान किया गया है। संयोगवाह शब्द की अयोगवाह या "योगवाह" के अर्थ का द्योतक है, अर्थात् वे वर्ण संयोगवाह कहलाते हैं जिनका निर्वाह अकारादि वर्णों के संयोग से होता है।

वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा के अनुसार, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, नासिक्य एवं चतुर्विध यम, संयोगवाह कहलाते हैं।[3]

याज्ञवल्क्य, षोडशश्लोकी इत्यादि शिक्षाओं में इस संज्ञा का विधान या प्रयोग तो नहीं हुआ है किन्तु वर्णों का निर्देश या प्रयोग अवश्य उपलब्ध होता है।

अनुस्वार

अनुस्वार शब्द अनु उपसर्गपूर्वक स्वृ धातु से घ प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है—वह वर्णविशेष जिसका उच्चारण अन्य वर्ण के पश्चात् होता

---

1. अकारादिना वर्णसमाम्नायेन सहिताः सन्तः एते वहन्त्यात्मलाभं प्राप्नुवन्त्ययोगवाहाः। (वा० प्रा० 8।25 पर उवटभाष्य)।
2. अकारादिवर्णसमुदायेन सहिताः सन्तः आत्मानं च वहन्तः इत्ययोगवाहाः। (वा० प्रा० 8।25 पर अनन्तभाष्य)
3. अनुस्वारो विसर्गश्च नासिक्योऽथ यमास्तथा।
जिह्वामूलमुपध्मा च नवैते स्युः पराश्रयाः।
संयोगवाहाः एवैते जिनस्वरविवर्जिताः।
(वर्णरत्नप्रदीपिका शि०, शि० सं० पृ० 121)

है। गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार अनुस्वर्यते पश्चार्धे स्वरवदुच्चार्यते इत्यनुस्वार:[1] अर्थात् अनुस्वार वह है जिसका बाद वाला भाग स्वर के समान उच्चारित होता है। किन्तु पाणिनिशिक्षा पर पञ्चिकाभाष्य के अनुसार वह ध्वनि जो किसी स्वर के बाद में आती है अनुस्वार कहलाती है।[2] यही कारण है कि अनुस्वार को अनुगामीध्वनि कहा जाता है। अनुस्वार अपने पूर्ववर्ती स्वर के बिना स्थित नहीं हो सकता है अतः इसे पराश्रितध्वनि भी कह सकते हैं।

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में अनुस्वार संज्ञा का प्रयोग हुआ है किन्तु यह कौन सी ध्वनि है? इसका प्रतिपादन नहीं किया गया है। वैसे इसके उच्चारण के विषय में वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में अनुस्वार को नासिक्य ध्वनि कहा गया है।[3] वस्तुतः अनुस्वार एक वर्णविशेष का नाम है। इसको (ं) चिह्न द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

विसर्जनीय

यह शब्द "वि" उपसर्गपूर्वक "सृज्" धातु से अनीयर् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। वैदिकाभरणकार के अनुसार वायु के विसर्जन से उत्पन्न होने के कारण (अः) विसर्जनीय कहलाता है।[4] तात्पर्य यह है कि इसके उच्चारण में फेफड़ा वायु को शीघ्रता से फेंक देता है।

जिह्वामूलीय

जब विसर्जनीय के बाद ककार अथवा खकार आता है तो वह विसर्जनीय जिह्वामूलीय कहलाता है। इसे (ᳵक) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। जिह्वामूलीय का अर्थ है—जिह्वा के मूल से उच्चारित होने वाला (वर्ण)। जिह्वामूल स्थान से उच्चारित होने के कारण इस वर्णविशेष को जिह्वामूलीय कहा जाता है। वास्तव में जिह्वामूलीय कोई स्वतन्त्र वर्ण नहीं है। वह परवर्ती ककार अथवा खकार से प्रभावित विसर्जनीय ही है। सभी शिक्षाग्रन्थों में इसका प्रयोग हुआ है।

---

1. द्रष्टव्य (तै० प्रा० 1।18 पर वैदिकाभरणभाष्य)
2. स्वरमनुभवतीत्यनुस्वारः। (पाणिनिशिक्षा 5 पर पञ्चिकाभाष्य)
3. यमानुस्वारनासिक्या नासामूलभवा दश। (वर्णरत्नप्रदीपिका शि०, शि० सं० पृ० 120)
4. वायोः विसर्जनेन जन्यत्वात्। (तै० प्रा० 1।18 पर वैदिकाभरण)

उपध्मानीय

यह शब्द उप उपसर्गपूर्वक फूंक मारना अर्थवाली "ध्मा" धातु से अनीयर् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। उपध्मान से निष्पन्न होने के कारण इस वर्ण को उपध्मानीय कहा जाता है। उपध्मान का अर्थ है—फूंक मारना। जिस प्रकार फूंक मारकर दीपक को बुझाया जाता है उसी प्रकार का प्रयत्न उपध्मानीय के उच्चारण में किया जाता है।

उपध्मानीय कोई स्वतन्त्र ध्वनि नहीं है। यह परवर्ती पकार अथवा फकार से प्रभावित विसर्जनीय ही होता है। पकार, फकार बाद में होने पर पूर्ववर्ती विसर्जनीय उपध्मानीय होता है, जिसे (≍प) द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है। शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में इसका प्रयोग उपलब्ध होता है। उल्लेखनीय है कि विसर्जनीय का उच्चारण अपने पूर्ववर्ती स्वर के समान-स्थान से होता है; जैसा कि लघुमाध्यन्दिनशिक्षा में प्रतिपादित किया गया है। किन्तु ककार, खकार अथवा पकार, फकार बाद में होने पर वह परवर्ती वर्ण के समान उच्चारण स्थान से उच्चारित होता है जिसे क्रमशः जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय कहा जाता है। ये दोनों वर्ण (जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय) स्वतन्त्र वर्ण नहीं होते।

नासिक्य

केवल नासिका से उच्चारित होने के कारण इस वर्ण को नासिक्य कहा जाता हैं। इस संज्ञा का प्रयोग शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं में उपलब्ध होता है।

यम

शुक्लयजुर्वेदीय सभी शिक्षाग्रन्थों में इस संज्ञा का प्रयोग हुआ है। या० शि० के अनुसार कुं खुं गुं घुं—ये चार यम हैं।[1] वर्णरत्नप्रदीपिका तथा षोडशश्लोकी शिक्षा में यमों की संख्या चार बतलायी गयी है।[2] किन्तु उनका निर्देश नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि इसमें भी कुं खुं गुं घुं—ये चार यम मान्य थे।

---

1. चत्वारो यमाः कुं खुं गुं घुं इति।
(या०शि० 2/97 तथा 98 के मध्य, गद्यभाग)।
2. त्रयस्त्रिंशद्धसावर्णा स्वराः द्वाविंशतिर्यमाः।
चत्वारश्च विसर्गोऽनुस्वार≍क≍पास्त्रिषष्टिकाः॥
(षोडशश्लोकीशिक्षा, शि०सं० पृ० 164)
..........चत्वारश्च यमाः स्मृता। (व० प्र० शि० 14)

वर्णों के रङ्ग

शिक्षाग्रन्थों में वर्णों के रङ्ग का निर्देश किया गया है जो निम्न प्रकार से है—

स्वर वर्णों का रङ्ग

या०शि० के अनुसार स्वर वर्णों का रङ्ग शुक्ल होता है।[1] अ, आ आ३; इ ई ई३; उ ऊ ऊ३; ऋ ॠ ॠ३; ऌ ॡ ॡ३; ए ए३; ऐ ऐ३; ओ ओ३; औ औ३ ये स्वर वर्ण हैं। इन वर्णों का रङ्ग सफेद होता है।

स्पर्श वर्णों का रङ्ग

या० शि० में कहा गया है कि स्पर्श वर्ण काले (कृष्ण) रङ्ग वाले है।[2] ककार से मकार पर्यन्त वर्ण स्पर्श हैं। इनका रंग काला होता है।

अन्तःस्थ वर्णों का रङ्ग

या०शि० के अनुसार अन्तःस्थ वर्ण कपिल (रङ्ग) वाले हैं।[3] य्, र्, ल् तथा व् वर्ण अन्तःस्थ हैं। इन वर्णों का रङ्ग भूरा होता है।

ऊष्म वर्णों का रङ्ग

या०शि० के अनुसार ऊष्म वर्णों का रङ्ग लाल होता है।[4] श्, ष् स् तथा ह्—ये ऊष्म हैं। इन वर्णों का रङ्ग लाल होता है।

यम का रङ्ग

या०शि० के अनुसार यम नीले रङ्ग वाले हैं।[5] कुं, खुं, गुं तथा घुं—ये चार यम हैं। इनका रङ्ग नीला होता है

अनुस्वार का रङ्ग

या०शि० के अनुसार अनुस्वार पीले रङ्ग वाले हैं।[6] "अं"—यह अनुस्वार है। इसका रङ्ग पीला होता है।

---

1. तत्र स्वराः शुक्लाः। (या० शि० 2/3.)
2. स्पर्शाः कृष्णाः। (या० शि० 2/3.)
3. अन्तःस्थाः कपिलाः। (या० शि० 2/3.)
4. ऊष्माणोऽरुणाः। (या० शि० 2/3.)
5. यमाः नीलाः। (या० शि० 2/3.)
6. अनुस्वारः पीतः (या०शि० 2/3)

विसर्जनीय का रङ्ग

याज्ञ॰शि॰ के अनुस्वार विसर्जनीय श्वेत रंग वाला होता है।[1] "अः"—यह विसर्जनीय है। इसका रंग शुभ्र होता है।

जिह्वामूलीय का रंग

या॰शि॰ के अनुसार जिह्वामूलीय, लाल वर्ण वाला होता है।[2] ≍क—यह जिह्वामूलीय है। इसका रंग लाल होता है।

उपध्मानीय का रंग

या॰शि॰ के अनुसार उपध्मानीय, पीले रंग वाला होता है।[3] ≍प—यह उपध्मानीय है। इसका रंग पीला होता है।

नासिक्य का रंग

या॰शि॰ में नासिक्य को हरे रंग वाला बतलाया गया है।[4] हुं—यह नासिक्य है। इपका रंग हरा होता है।

आनुनासिक्य का रंग

था॰शि॰ के अनुसार आनुनासिक्य वर्ण गाढ़े नीले रंग वाले होते हैं।[5] ङ् ञ् ण् न् तथा म्—ये अनुनासिक हैं। इनका रंग अत्यन्त नीला (गाढ़ा नीला) होता है।

रंग संज्ञक वर्णों का रंग

या॰शि॰ में रङ्संज्ञक वर्ण को चित्र वर्ण वाला कहा गया है।[6] नकार तथा मकार के विकार के परिणामस्वरूप रंग होता है। उनका रंग चित्र (चितकबरा) होता है।

वर्णों के देवता

याज्ञवल्क्यशिक्षा तथा वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में वर्णों के देवताओं का

1. विसर्जनीयः श्वेतः (या॰शि॰ 2/3)
2. जिह्वामूलीयः रक्तः (या॰शि॰ 2/3)
3. उपध्मानीयः पीतः (या॰शि॰ 2/3)
4. नासिक्यो हरितः (या॰/शि॰ 2/3)
5. अतिनीला नासिक्याः (या॰शि॰ 2/3.)
6. चित्रो रंग··· ··· (या॰शि॰ 2/3.)

निर्देश किया गया है। वर्णरत्नप्रदीपिका के अनुसार वर्णों के देवताओं का यह निर्धारण आचार्य कात्यायन ने किया है।[1] वर्णों के देवता इस प्रकार हैं—

कण्ठ्य वर्णों के देवता

या०शि० के अनुसार कण्ठ्य वर्ण आग्नेय हैं।[2] अर्थात् कण्ठस्थानीय वर्णों के देवता अग्नि हैं। कण्ठ्य वर्ण—अ आ आ३, तथा विसर्जनीय हैं। अतः इनके देवता अग्नि हैं। व० प्र० शि० में कण्ठ्यवर्णों को अग्नि देवता से सम्बन्धित बतलाया गया है।[3]

जिह्वामूलीय वर्णों के देवता

या० शि० में जिह्वामूलीय वर्णों को नैर्ऋत्य कहा गया है[4] अर्थात् जिह्वामूलीय वर्णों के देवता निर्ऋति हैं। जिह्वामूलीय वर्ण, ऋ ॠ ॠ३; क् ख् ग् ङ् है। अतः इन वर्णों के देवता निर्ऋति है। व० प्र० शि० में भी जिह्वामूलीय वर्णों को निर्ऋति देवता वाला कहा गया है।[5]

तालव्य वर्णों के देवता

या० शि० के अनुसार चकार इत्यादि सोम्य अर्थात् इनके देवता सोम हैं।[6] च् छ् ज् झ् ञ् इ य् श्—ये तालव्य वर्ण हैं। अतः इनके देवता सोम हैं। व० प्र० शि० में तालव्य वर्णों को सोमदेवता से सम्बन्धित बतलाया गया है।[7]

मूर्धन्य वर्णों के देवता

या० शि० के अनुसार मूर्धन्य वर्ण वायव्य है[8] अर्थात् इन वर्णों के देवता वायु हैं। व० प्र० शि० के अनुसार भी मूर्धन्य वर्णों के देवता वायु हैं।[9]

---

1. कात्यायनोऽब्रवीत्। (व०प्र०शि० 2/6 उ०.)
2. कण्ठ्या आग्नेयाः अकारादय : (या०शि० 2/4.)
3. कण्ठ्या अग्निदेवत्याः। (व०प्र०शि० 2/5 पू०.)
4. जिह्वामूलीयाः नैर्ऋत्याः (या० शि० 2/4).
5. व० प्र० शि० 215 उ०.
6. तालव्याः सौम्याश्चकारादयः। (या० शि० 2/4).
7. तालव्याः सोमदेवव्याः। (व० प्र० शि० 215 पृ०).
8. मूर्धन्या वायव्याष्टकारादयः। (या० शि० 2/4).
9. वायव्या मूर्धसम्भवाः। (व० प्र० शि० 216 पृ०).

दन्त्य वर्णों के देवता

या० शि० के अनुसार तकारादि दन्त्य वर्ण रौद्र हैं।[1] अर्थात् दन्त्य वर्णों के देवता रुद्र हैं। त् थ् द् ध् न् लृ लॄ लृ३; दन्त्य वर्ण हैं। अतः इनके देवता रुद्र हैं। वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में भी इन वर्णों का देवता रुद्र बतलाया गया है।[2]

ओष्ठ्य वर्णों के देवता

या० शि० में पकारादि ओष्ठ्य वर्णों को आश्विन् कहा गया है।[3] अर्थात् इन वर्णों के देवता अश्विन् हैं। व० प्र० शि० के अनुसार भी ये वर्ण अश्विन् देवता वाले हैं।[4]

अवशिष्ट वर्णों के देवता

उपर्युक्त देवतानिर्दिष्ट वर्णों से अन्य यमादि वर्ण को या० शि० में वैश्वदेव कहा गया है।[5] अर्थात् अवशिष्ट वर्णों के देवता विश्वेदेवा हैं। अवशिष्ट वर्ण हैं—दन्तमूलीय, रेफ, चार यम, विसर्जनीय, नासिक्य, आनुनासिक्य, तथा रंग। इनके देवता विश्वेदेवा हैं। व० प्र० शि० में भी इन अवशिष्टि वर्णों को विश्वेदेवा से सम्बन्धित बतलाया गया है।[6]

वर्णों के वर्ण (जातियाँ)

या० शि० तथा व० प्र० शि० में वर्णों के वर्ण (जाति) का उल्लेख किया गया है। जो इस प्रकार है—

ब्राह्मण

या० शि० के अनुसार स्वर वर्ण ब्राह्मण वर्ण वाले हैं।[7] अ आ आ३; इ

---

1. दन्त्या रौद्रास्तकारादयः। (या० शि० 2/4).
2. रौद्रा दन्त्या प्रकीर्तिता। (व० प्र० शि० 215 उ०)
3. औष्ठ्या आश्विना पकारादयः। (या० शि० 2/4)
4. ओष्ठ्याश्चैवाश्विना ज्ञेयाः। (व० प्र० शि० 216 पू०)
5. शेषा वैश्वदेवा यमादयः। (या० शि० 2/4)
6. शेषास्तु वैश्वदेवास्स्युः। (व० प्र० शि० 216 उ०)
7. स्वरास्तु ब्राह्मणा ज्ञेयाः……।
   (या० शि० 2/1); (व० प्र० शि० 220 पू०)

ई ई३; उ ऊ ऊ३; ऋ ॠ ॠ३; ऌ ॡ ॡ३; ए ए३; ऐ ऐ३; ओ ओ३; औ औ३; ये स्वर वर्ण हैं; अतः ये ब्राह्मण हैं।

क्षत्रिय

वर्गों के प्रथम स्पर्श (क् च् ट् त् तथा प्), द्वितीय स्पर्श ख् छ् ठ् थ् फ्), तृतीय स्पर्श (ग् ज् ड् द् ब्) तथा चतुर्थ स्पर्श क्षत्रिय होते हैं। या० शि० तथा व० प्र० शि० में इस बात का उल्लेख हुआ है।[1]

वैश्य

या० शि० के अनुसार वर्गों के पञ्चम स्पर्श तथा अन्तःस्थ वर्ण वैश्य होते हैं।[2] व० प्र० शि० में वैश्य तथा शूद्र वर्ण वाले वर्णों का निर्देश नहीं हुआ है। इसमें केवल ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जाति वाले वर्णों का निर्देश हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि उसमें भी वर्णों के वैश्य तथा शूद्र जाति का उल्लेख हुआ होगा, जो सम्पादक, प्रकाशक या अन्य किसी अनवधानता के कारण छूट गया है। इसमें या० शि० के समान ही ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जाति वाले वर्णों का निर्देश है। इससे स्पष्ट है कि वर्णों के वैश्यत्व एवम् शूद्रत्व के विषय में भी व० प्र० शि० के कर्त्ता का मत या० शि० के अनुरूप ही रहा होगा।

शूद्र

या० शि० के अनुसार ऊष्म वर्ण शूद्र होते हैं।[3] श्, ष्, स् तथा ह्—ये वर्ण ऊष्म हैं। अतः ये शूद्र जाति के हैं।

---

1. ·················वर्गाणां प्रथमाश्च ये।
   द्वितीयाश्च तृतीयाश्च चतुर्थश्चापि भूमिपाः॥
   (या० शि० 1/1, व० प्र० शि० 220)
2. वर्गाणां पञ्चमा वैश्या अन्तःस्था तथैव च। (या० शि० 1/2 पूर्वार्द्ध)
3. ऊष्माणश्च हकारश्च शूद्रा एव प्रकीर्तिताः। (या० शि० 1/2 उ०)

द्वितीय अध्याय

स्वर प्रकरण

* स्वर
* स्वर का महत्त्व एवं प्रयोजन
* पदार्थ-निर्णय में स्वर की उपयोगिता
* स्वर के भेद
* शुक्लयजुर्वेद में स्वरांकन प्रकार
* हस्तचालन द्वारा स्वर प्रदर्शन
* स्वरों की सन्धि
* स्वर की दृष्टि से पदों के प्रकार

स्वर

"स्वर" शब्द "स्वृ" धातु से अच् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। स्वर शब्द अनेक अर्थों का वाचक है। शिक्षाग्रन्थों में स्वर शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है—(1) वर्णविशेष के लिए, (2) स्वरवर्णों के उदात्तादि धर्म के लिए तथा (3) क्रुष्टादि स्वरों के लिए।

प्रस्तुत स्थल पर स्वर शब्द का प्रयोग स्वर वर्णों के उदात्तादि धर्म के लिए किया गया है। इन उदात्तादि स्वरों को स्वर कहने कारण यह है कि ये उदात्तादि स्वर वेदार्थ ज्ञान में सहायक होते हैं। इसके आधार पर स्वर का निर्वचन इस प्रकार होगा—'स्वर्यन्तेऽर्था एभिः' अर्थात् इन (उदात्तादि स्वरों) के (द्वारा पदों के) अर्थ प्राप्त किये जाते हैं (जाने जाते हैं) अतः ये स्वर कहलाते हैं।

स्वर का महत्त्व एवम् प्रयोजन

मन्त्रों के अर्थ-बोध के लिए स्वरों का बड़ा महत्त्व है। जब तक स्वर का ज्ञान नहीं होगा तब तक मन्त्रार्थ का ज्ञान नहीं सकता। प्राचीन आचार्यों ने वेदार्थ-ज्ञान में स्वर-ज्ञान की उपयोगिता को देखकर ही "शिक्षा" नामक वेदाङ्ग का प्रणयन किया था और वेदाङ्गों में इसका स्थान सर्वोपरि माना गया।

व० प्र० शि० के अनुसार स्वर तथा वर्ण से हीन मन्त्र अशुभ का सूचक होता है।[1] वहीं पर विधान किया गया है कि वेद के मन्त्र के प्रयोग के लिए स्वर, वर्ण, अक्षर, मात्रा का ज्ञान अत्यावश्यक है।[2] वस्तुतः वैदिक-मन्त्रों का अशुद्ध उच्चारण करने से इष्टफल की प्राप्ति के स्थान पर अनिष्ट फल प्राप्त हो जाता है जैसा कि मल्लशर्मकृतशिक्षा तथा पाणिनीयशिक्षा में स्पष्ट कहा गया है कि स्वर या वर्ण से हीन मन्त्रों का मिथ्यारूप से प्रयोग होने के कारण वे यजमान के अभीष्ट अर्थ का कथन नहीं करते हैं अपितु वे वाणी रूपी वज्र बनकर यजमान का (ही) नाश कर डालते हैं जैसे—इन्द्रशत्रु (वृत्र) स्वर के अपराध (अशुद्ध उच्चा-

---

1. मन्त्रो यः स्वरतो हीनो वर्णतो वापि कुत्रचित्।
   निष्फलं तं विजानीयात्तथैवाशुभसूचकम्॥ (व० प्र० शि० 6)
2. स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा तत्प्रयोगार्थ एव च।
   मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे॥ (व० प्र० शि० 8)

रण) के कारण मारा गया।[1] "इन्द्रशत्रु" पद अन्तोदात्त होने पर तत्पुरुष समास होता है और आद्युदात्त होने पर बहुव्रीहि।

"इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व"—इस मन्त्र में "तत्पुरुष" समास का अन्तोदात्त—"इन्द्रशत्रुः" पद अभिप्रेत था; जिसका अर्थ था—"इन्द्र का शत्रु"। किन्तु उच्चारणकर्ता की असावधानी से आद्युदात्त "इन्द्रशत्रुः" पद का (अशुद्ध) उच्चारण हो गया; जिसका अर्थ हुआ—इन्द्र जिसको सताने वाला है। अतः स्वर ज्ञान अभीष्ट अर्थ के लिए अत्यन्त अपेक्षित है।

मीमांसासूत्रभाष्य में शबरस्वामी ने उल्लेख किया है कि मन्त्रों में उदात्तादि-त्रैस्वर्य के उच्चारण की जो व्यवस्था है—वह मन्त्रों के अर्थ-ज्ञान के लिए (ही) है।[2]

स्वर-शास्त्र के परम वेत्ता आचार्य वेंकट माधव ने लिखा है कि जिस प्रकार अन्धकार में मशालों की सहायता से चलता हुआ मनुष्य कभी मार्ग में ठोकर खाकर नहीं गिरता, उसी प्रकार स्वरों की सहायता से किया गया मन्त्रार्थ स्पष्ट तथा सन्देह-रहित होता है।[3] आचार्य वेंकट माधव ने इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि जहाँ कहीं एक शब्द का अर्थ समान होगा, उस शब्द का स्वर अवश्य समान होगा और जहाँ स्वर में भेद होगा वहाँ अर्थ बदल जायेगा।[4]

स्वामी दयानन्द सरस्वती भी वेदार्थज्ञान के लिए स्वरों की उपयोगिता को स्वीकार करने से अपने को रोक नहीं सके।[5]

---

1. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा,
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति,
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ (मल्लशर्मकृत शि० 6, पा० शि० 52)
2. अथ त्रैस्वर्यादीनां कथं समाम्नातमिति ? उच्यते, अथविबोधनार्थं भविष्यति।
शबरस्वामी जै० मी० सू० भाष्य (9/2/31)
3. अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति॥
—स्वरानुक्रमणी 1/8
4. अर्थभेदे तु शब्दस्य सर्वत्र सदृशः स्वरः।
यदा न तं स्वरं पश्येदन्यथार्थं तदा नयेत्॥—स्वरानुक्रमणी 1/8/1
5. वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते।
—ऋ० भा० भू० तृतीय संस्करण, पृ० 374

उदात्तादि स्वर पदार्थ-निर्णय में तीन प्रकार की सहायता करते हैं—

(1) पद के स्वरूप का ज्ञान
(2) पदगत अर्थ का ज्ञान और
(3) वाक्यार्थ का ज्ञान

(1) उदात्तादि स्वर द्वारा पद के स्वरूप का ज्ञान

पद चार प्रकार के होते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात। कतिपय शब्द ऐसे होते हैं जिनके स्वरूप के विषय में सन्देह बना रहता है कि वे नाम पद हैं या आख्यात पद, निपात हैं या उपसर्ग। इन चार प्रकार के पदों के स्वरूप के ज्ञान के लिए स्वर निर्णायक का काम करते हैं। ऋग्वेदानुक्रमणी के अनुसार नाम और आख्यात का विभाग स्वर से ही जाना जा सकता है।[1] उदाहरण स्वरूप "किम्" शब्द के पुलिङ्ग प्रथमा विभक्ति एकवचन में "कः" पद बनता है। "कृ" धातु से लुङ् लकार में "अकः" पद बनता है और 'अट्" के अभाव में "कः" पद ही शेष रह जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि यह "कः" किम् सर्वनाम का रूप है या कृ धातु का रूप ? इसका निर्णय स्वर के द्वारा ही किया जा सकता है यदि "कः" उदात्त-युक्त होगा तो वह सर्वनाम पद होगा और अनुदात्त होगा तो क्रिया पद।

(2) विभक्ति के स्वरूपज्ञान में सहायक

उदात्त स्वर विभक्ति के स्वरूप का भी सहायक होता है। "एकाच्" व्यञ्जनान्त प्रातिपदिकों के द्वितीया बहुवचन तथा पञ्चमी और षष्ठी एकवचन के रूप समान होते हैं। यहाँ स्वर से इनके विभक्तिरूप का निर्णय किया जाता है। यदि पद आद्युदात्त है तो वह द्वितीया बहुवचन का रूप होगा और यदि उदात्त प्रत्ययांश पर है तो वह पञ्चमी या षष्ठी विभक्ति के एक वचन का रूप होगा। उदाहरण के स्वरूप—वाचः, वाचः इत्यादि।

प्रथमा और सम्बोधन के रूपों में समानता होती है। दोनों का विभाग स्वर द्वारा किया जाता है। यदि आद्युदात्त है तो वह सम्बोधन पद होगा।[2] और

---

1. नामाख्यातविभागश्च स्वरादेर्वागम्यते।
—ऋग्वेदानुक्रमणी, परिशिष्ट 4, पंक्ति 8
2. आमन्त्रितस्य च। पा० व्या० 6/1/189

यदि अन्तोदात्त है तो वह प्रथमा विभक्ति का रूप होगा।[1] उदाहरण स्वरूप जनासः (=मनुष्य), जनासः (=हे मनुष्यों), देवाः (=देव), देवाः (=हे देवो) इत्यादि।

(3) लिङ्-निर्धारण में स्वरों की भूमिका

शब्द के लिङ्ग-निर्धारण में भी स्वर हपायक होता है। कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका पुलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग—दोनों ही लिङ्गों में समान रूप होता है। ऐसे पदों में जो आद्युदात्त होता है वह नपुंसक होता है और जो अन्तोदात्त होता है वह पुलिङ्ग होता है। उदाहरण के लिए—रक्षः (नपुंसक लिङ्ग), रक्षः (पुलिङ्ग)। इसी प्रकार नपुंसक भावपद तथा पुलिङ्ग कर्त्तापद का भी अन्तर स्वर के द्वारा माना जा सकता है जैसे—ब्रह्मन् (नपुंसक) (=प्रार्थना); ब्रह्मन् (पुलिङ्ग) (=प्रार्थना करने वाला); यशस् (नपुं०) (कीर्ति); यशस् (पुं०) (=यशस्वी); अपस् (नपुं०) (=कार्य); अपस् (पुं०) (=कार्य करने वाला) इत्यादि।

(4) समस्त-पदों के निश्चय में स्वरों की भूमिका

समास युक्त पदों के निर्धारण के लिए स्वरों की सर्वाधिक उपयोगिता है। स्वर के आधार पर ही यह निश्चय होता है कि अमुक पद में अमुक समास है। शिक्षाग्रन्थों में "इन्द्रशत्रुः" पद स्वरपरिवर्तन के कारण समास-परिवर्तन अतएव अर्थ-परिवर्तन का उल्लेख किया गया है।[2] यदि यह पद आद्युदात्त है तो बहुब्रीहि समास होगा और यदि अन्तोदात्त है तो तत्पुरुष समास होगा। इस प्रकार आद्युदात्त "इन्द्रशत्रु" पद का अर्थ है—इन्द्रः शत्रुः यस्य सः (वृत्रः) अर्थात् इन्द्र है सताने वाला जिसका। अन्तोदात्त होने पर "इन्द्रशत्रु" पद का अर्थ होगा—इन्द्रस्य शत्रुः (इन्द्र का शातयिता=वृत्र)। स्वर समास के निर्धारण में किस प्रकार सहायक होता है? इसके उदाहरण में पतञ्जलि ने "स्थूलपृषती" पद को उद्धृत किया है। यज्ञकाण्ड में एक वाक्य है—"स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत" अर्थात् स्थूलपृषती (बड़े-बड़े धब्बे, चकत्ते वाली), अग्नि और वरुण देवता वाली गाय का आलम्भन करना चाहिए। इसके विषय में यहाँ सन्देह होता है कि "स्थूलपृषती" पद का "स्थूला चासौ पृषती"—इस प्रकार कर्मधारय समास मानकर

---

1. फिषोऽन्तः उदात्तः। (फि० सू० 1/1)
2. द्रष्टव्य, मल्लशर्मकृत शि० 6, पा० शि० 52

अर्थ किया जाय अथवा स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा—ऐसा बहुव्रीहि समास मानकर अर्थ किया जाय ।

भाष्यकार का कथन है कि यहाँ निर्णय स्वर के आधार पर ही सम्भव है । यदि पूर्ववर्ती पद का स्वर उदात्त है तो वह बहुव्रीहि समास होगा और यदि समस्त पद अन्तोदात्त है तो वह तत्पुरुष समास होगा ।[1]

पदार्थ-निर्णय में स्वर की उपयोगिता

पदों का स्वरूप-निर्णय पदार्थ की भिन्नता के कारण होता है। अर्थ की दृष्टि से भिन्न होने पर ही पद का स्वरूप भिन्न होता है और अर्थ की भिन्नता स्वर की भिन्नता के कारण होती है। जब वक्ता किसी शब्द का कथन करता है तो उसका शब्द के किसी न किसी एक अंश पर बल होता है। प्रत्येक नाम पद आख्यातज हैं और किसी न किसी धातु से प्रत्यय लगाकर बनते हैं। वक्ता कभी धात्वंश पर बल देता है तो कभी प्रत्ययांश पर। शब्द एक ही होता है किन्तु धात्वंश पर बल देने से उसका अर्थ दूसरा हो जाता है और प्रत्ययांश पर बल देने से दूसरा ही। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित में उदात्त ही बलवान् होता है अतएव बलाघात का सम्बन्ध इसी के साथ है। शब्द के जिस अंश पर वक्ता बल देता है, उसी अंश पर उदात्त होता है; और जिस अंश पर बल नहीं दिया जाता वह अनुदात्त होता है।

यास्क ने इसी तथ्य की ओर संकेत यह कहकर किया है कि उदात्त का अर्थ तीव्रतर अर्थात् मुख्य होता है और अनुदात्त का अर्थ अल्प अर्थात् गौण होता है।[2] स्वर-परिवार में उदात्त प्रधान होता है अनुदात्तादि उसके सहायक होते हैं; उसके अधीन होते हैं।

"तृन्" प्रत्ययान्त प्रातिपदिक आद्युदात्त होता है और "तृच्" प्रत्ययान्त प्रातिपदिक "चित्" स्वर से अन्तोदात्त होता है। दोनों प्रत्ययों के योग से एक ही शब्द बनता है किन्तु स्वरभेद के कारण अर्थभेद हो जाता है। वेंकट माधव

---

1. याज्ञिकाः पठन्ति—'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत्" इति तस्यां सन्देहस्स्थूला चासौ पृषती च । स्थूलानि वा पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषतीति । तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति । यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः; अथ अन्तोदात्तत्वं तत्ततस्तत्पुरुषः इति ।

(पातञ्जलमहाभाष्य, पस्पशाह्निक)

2. तीव्रार्थतरमुदात्तम् अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम् । (निरुक्त, 4/25).

ने इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया है कि "तृन्" प्रत्यय में धात्वंश की प्रधानता होती है और "तृच्" प्रत्यय में प्रत्ययार्थ की।[1] "तृन्" प्रत्ययान्त आद्युदात्त होता पद का अर्थ है—"अच्छे ढंग से आह्वान करने वाला" और तृच् प्रत्ययान्त अन्तोदात्त होता पद का अर्थ है—"आह्वान करने वाला।" प्रथम में क्रिया की प्रधानता है और दूसरे में कर्त्ता की प्रधानता है। इसी प्रकार जहाँ रूप-साम्य हो किन्तु स्वरभेद हो वहाँ स्वर के अनुसार अर्थ करना चाहिए।[2]

निपातों में कुछ उदात्त युक्त होते हैं और कुछ सर्वानुदात्त होते हैं इसका कारण अर्थभेद ही है। नूनम्, हि, एव, किल आदि जो निपात हैं वे अर्थ पर बल देने वाले हैं। इसीलिए वे उदात्तयुक्त होते हैं किन्तु च, वा, इव, उ, घ, ह, चिद् आदि निपात अर्थ पर बल देने वाले नहीं होते, इसलिए सर्वानुदात्त होते हैं। उपसर्ग उदात्तयुक्त इसलिए होते हैं कि क्रिया के ऊपर उनका आधिपत्य होता है। जब किसी क्रियापद के साथ इनका समास होता है तो इनके अर्थ की प्रधानता समाप्त हो जाती है क्रियापद की ही प्रधानता होती है।[3]

इसीलिए जब किसी क्रियापद के साथ उपसर्ग का समास होता है तो उपसर्ग पद सर्वानुदात्त हो जाता है; उदात्त स्वर क्रियापद पर होता है।

वाक्यार्थ-निर्णय में स्वर की उपयोगिता

वाक्य में कहीं कोई पद उदात्तयुक्त होता है तो कहीं सर्वानुदात्त; यह सब अर्थ-भेद के ही कारण होता है। वाक्यार्थ एक हो और स्वर भिन्न-भिन्न हों, ऐसा कभी सम्भव ही नहीं है।

(1) इदम्, एतत् के जो रूप अन्वादेश में सर्वानुदात्त होते हैं उसका कारण यह है कि वक्ता का उस पर जोर नहीं होता। पाद के प्रारम्भ में जब ये पद आते हैं तब ये मुख्य होते हैं, वक्ता का उस पर बल होता है, अतएव उदात्तयुक्त

---

1. तृन्तृचोश्चार्थभेदोऽयं प्रकृत्यर्थः स्फुटस्तृनि।
   तृचि स्फुटः प्रत्ययार्थः प्रकृत्यर्थोपसर्जनः॥
   वेंकटमाधव (स्वरा० 1/8/7)
2. सर्वत्रैवं समानेषु स्वरेणार्थो व्यवस्थितः।
   —वेंकटमाधव (1|8/ ;).
3. उदात्तेषूपसर्गेसु तदर्थः स्फुटो भवेत्।
   समस्तेष्वनुदात्तानां नीचैरर्थं प्रदर्शयेत्॥
   —वेंकट० स्वरा० (1/6/8).

होते हैं। इसी प्रकार जब ये संकेत वाचक विशेषण के रूप में विशेष्य पद के साथ आते हैं तब भी इनके अर्थ की प्रधानता होती है; क्योंकि विशेषण-विशेष्य का निर्धारण करने वाला होता है, अतएव उदात्तयुक्त होता है।

(2) जब सम्बोधन पद वाक्य के प्रारम्भ में आता है तब उसमें प्रथम वर्ण के ऊपर वक्ता का जोर होता है। इसलिए यहाँ उदात्त स्वर हमेशा प्रथम वर्ण पर ही होता है। पाद के मध्य में जो सम्बोधन पद आता है उसके ऊपर वक्ता का बल नहीं होता। अतएव वह सर्वानुदात्त होता है।[1] इसी प्रकार कहीं पाद के प्रारम्भ में भी सर्वानुदात्त और पाद के मध्य में भी उदात्तयुक्त सम्बोधन पद देखा जाता है। वहाँ भी अर्थ के अनुसार ही स्वर होता है।[2]

(3) वाक्य में क्रियापद आदि में स्थित होने पर उदात्तयुक्त होता है तथा मध्य या अन्त में आने पर कभी सर्वानुदात्त और कभी उदात्तयुक्त होता है। वाक्य में कभी उदात्तयुक्त होना और कभी सर्वानुदात्त होना अर्थ के ऊपर आधारित है। यदि पाद के मध्य में या पादान्त में क्रियापद सर्वानुदात्त है तो उसके अर्थ की प्रधानता नहीं होती। वाक्य के अन्त में उस क्रिया के अर्थ के साथ वाक्य का पर्यवसान करना चाहिए।

वेंकट माधव ने स्पष्टरूप से इस बात का उल्लेख किया है कि वाक्य के प्रारम्भ में क्रियापद जो उदात्तयुक्त होता है और अन्यत्र सर्वानुदात्त होता है उसका कारण केवल अर्थ-भेद ही है। श्रोता जिस प्रकार से अभिमुख हो, इसी अभिप्राय से क्रियापद को प्रारम्भ में उदात्तयुक्त करते हैं। प्रत्येक पाद पर रुक-रुक कर ऋषि अपना प्रयोजन बतलाते हैं। इसीलिए बार-बार उद्बोधन करने के लिए अर्थात् अर्थ पर बल देने के लिए पादादि में क्रियापद को उदात्तयुक्त करते हैं।

पादादि में सम्बोधन पद के बाद में आने वाला क्रियापद इसलिए उदात्त होता है कि पूर्व सम्बोधन पद अविद्यमानवत् समझा ज़ाता है। वेंकटमाधव का कथन है कि सम्बोधनपद के द्वारा उद्बुद्ध करने पर भी वाक्यार्थ का उद्बोधन

---

1. आमन्त्रिताद्युदात्तत्वमुच्चैरामन्त्रणे भवेत्।
नीचैरामन्त्रणे कार्ये पदं सर्वं निहन्यते॥ —स्वरा० 1/2/1.
2. अर्थस्वभावाद्वाक्यस्य मध्यस्थं तन्निहन्यते।
अर्थस्वभावादुच्चैस्त्वं क्वचिन्मध्येऽपि दृश्यते॥
तत्रैव नीचैरुत्वमपि...................।
--स्वरा० (1/2/2,3)

करने के लिए "तिङ्" पद को उदात्तयुक्त किया जाता है।[1] "लुट्" लकार का क्रियापद पाद के मध्य में भी जो उदात्तयुक्त होता है इसका भी कारण अर्थभेद ही है। वहाँ पर वक्र (काकु) उक्ति के कारण अर्थ पर बल देना होता है इसलिए क्रियापद उदात्तयुक्त होता है।[2]

इस प्रकार सर्वत्र पद में, समास में या वाक्य में जहाँ भी उदात्त की स्थिति हो उस अंश में काकु होता है।[3] अर्थात् उस अंश पर वक्ता का बल होता है। किस पद में किस अंश पर काकु है इसका पता लगाना कठिन है। वेंकट माधव ने लिखा है कि किस पद पर काकु है? इसका पता केवल देवताओं को है। समास में कहाँ काकु है? इसे सूक्ष्मविद् ही जानते हैं तथा तिङ्पदों में कहाँ काकु है; इसे प्राकृत लोग भी जानते हैं।[4] इस कथन से स्पष्ट होता है कि "तिङ्" में काकु स्पष्ट दिखलाई पड़ता है; समास में उससे सूक्ष्म और पद में उससे भी सूक्ष्म होता है। वेंकटमाधव का कहना है कि पद में तथा वाक्य में जो काकु की व्यवस्था है वह स्वर के द्वारा ही है।[5] इसीलिए पदार्थ या वाक्यार्थ के लिए स्वरज्ञान अत्यावश्यक है। जिनको स्वरों का ज्ञान नहीं वे वेदार्थ नहीं कर सकते।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि पदों के स्वरूप के ज्ञान, पदगत अर्थ के निर्णय तथा वाक्यार्थ के ज्ञान—हेतु स्वरज्ञान की महती आवश्यकता है।

---

1. तत्र सम्बोधन पदैर्नरः सम्बोधितोऽपि सन्।
वाक्यार्थोद्बोधनं कर्तुं पुनराहन्यन्ते तिङा॥ —स्वरानुक्रमणी (1/1/12)
2. यथा तिङ्क्षु हि युक्तेषु ह्यर्थे वाक्यस्य संस्थितिः।
एवं लुट्यपि संस्थानं तस्मिन्काकाविति स्थितिः॥—स्वरा० 1/1/17
3. एवं पदे समासे च यत्रोदात्तो व्यवस्थितः।
वर्णे पदे वा तत्रापि काकुरस्तीति निर्णयः॥—स्वरा० 1/1/21.
4. तत्रैकस्मिन्पदे काकु देवैरेवावगम्यते।
सूक्ष्मविद्भिः समासस्थः प्राकृतैरपि तिङ्स्वरः॥—स्वरा० 1/1/22.
5. वाक्यवृत्तिप्रकारो यं सदृशो लौकिकेष्वपि।
मन्यन्ते पण्डितास्त्वन्ये यथा व्याकरणं स्वरम्॥
व्यवस्थितो व्यवस्थायां हेतुस्तत्र न विद्यते।
माधवस्य त्वयं पक्षः स्वरेणैव व्यवस्थितः॥
—वेंकटमाधव (1/123,25).

स्वर के भेद

शिक्षाग्रन्थों में स्वर के विभिन्न भेद बतलाये गये हैं। शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं के अनुसार उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित—ये तीन मुख्य स्वर माने गये हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य स्वर का भी विधान किया गया है जिसे "प्रचय" कहा जाता है। इनका विवेचन इस प्रकार है—

उदात्त

उदात्त का शाब्दिक अर्थ है "ऊपर से उठाकर ग्रहण किया हुआ।" "उच्चैरादीयते इति उदात्तः" अर्थात् वह ध्वनि जिसके उच्चारण में ध्वनि का ग्रहण उच्च सुर से होता है वह उदात्त कहलाता है। वा० प्रा० तथा प्रा० प्र० शि० के अनुसार ऊँची ध्वनि से उच्चारित होने वाला स्वर उदात्त कहलाता है।[1] तै० प्रा० के अनुसार भी उदात्त के सम्बन्ध में इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। इसके अनुसार गात्रों की दीर्घता, स्वर की कठिनता तथा कण्ठ-विवर की संवृतता ही ध्वनि की उच्चता का कारण है।[2] इससे स्पष्ट होता है उदात्त के उच्चारण में उच्चारणाङ्गों को ऊपर खींचा जाता है, ध्वनि को कठोर बनाया जाता है तथा कण्ठविवर को संवृत अवस्था में लाया जाता है।

भाष्यकार उवट ने वायु के कारण उच्चारणावयवों के ऊपर जाने को आयाम कहा है; उस आयाम से जो स्वर उच्चारित होता है वह उदात्त कहलाता है।[3] वा० प्रा० में आयाम को उदात्त स्वर का कारण बतलाया गया है।[4] वैदिकाभरणभाष्य के अनुसार समानध्वनि में सिर (मूर्धा) के समीपवर्ती उच्च-भाग में उत्पन्न प्रयत्न से उच्चारित किया जाने वाला स्वर उच्च गुणों से समन्वित होने के कारण उदात्त होता है जैसे शुक्ल गुण से युक्त शुक्लपट।[5]

---

1. उच्चैरुदात्तः। (वा० प्रा० 1/108, तै० प्रा० 1/38, प्रा० प्र० शि० 1)
2. आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैः कराणि शब्दस्य।
(तै० प्रा० 22/9)
3. आयामों नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वंगमनं गात्राणां तेन य उच्यते स उदात्त।।
(ऋग्वेद प्रा० 3/1 पर उवटभाष्य)
4. आयामः……। (वा० प्रा 1/31)
5. समानस्थाने मूर्ध्व आसन्ने उपरिभागे जातेन प्रयत्नेन उच्चार्यमाणस्स्वरः उदात्तगुणकत्वादुदात्तसंज्ञो भवति। यथा शुक्लगुणयोगाच्छुक्लपटः।
(तै० प्रा० 1/38 वै० आ० भाष्य)

गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार उदात्त के उच्चारण में उदादान क्रिया होती है और उदादान का अर्थ है—उत्क्षेप।[1] महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है कि उदात्त तथा अनुदात्त शब्द किसी स्थिर तत्व का निर्देश नहीं करते अर्थात् ये शब्द सापेक्ष हैं। एक ही स्वर किसी के लिए उच्च तथा किसी के लिए नीच हो हो सकता है। इसलिए जो स्वर किसी के लिए नीच भी हो सकता है, उसे उच्च कैसे कहा जा सकता है? उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति के पढ़ते या सुनते समय श्रोता कह सकता है कि इतनी ऊँची ध्वनि से क्यों चिल्ला रहे हो? धीरे से बोलो। जब कि अन्य व्यक्ति उसी पाठक से कह सकता है कि क्यों बुदबुदा रहे हो? थोड़ा जोर से बोलो। इसलिए जो स्वर नीचे है उसे किसी के लिए उच्च भी कहा जा सकता है। उसकी उच्चता सबके लिए एवम् सदैव होनी चाहिए।[2] महाभाष्यकार का कथन है कि कमजोर व्यक्ति जिस तीव्र ध्वनि का परिश्रमपूर्वक उच्चारण करेगा, बलवान् व्यक्ति उसी को सरलतापूर्वक उच्चारित कर सकता है।[3] उन्होंने उच्च तथा नीच का अर्थ उच्चारणाङ्गों के उच्च तथा निम्न भाग से बतलाया है।[4] भाष्यकार के अनुसार नीच का तात्पर्य ध्वनि की नीचता न मानकर उच्चारणावयवों का निचला भाग माना है।[5] महर्षि यास्क के अनुसार उदात्त तीव्रतर उच्चारित होता है।[6]

उदात्त के उच्चारण में ऊर्ध्वमुखी क्रियाओं के होने के कारण इसे उच्च स्वर कहा जाता है। उदात्त स्वर के लिए उत्, उच्च, शुद्ध स्वर, आद्य स्वर

1. उदादानमुत्क्षेपः।
(तै० प्रा० 1/38 पर वै० आ०)
2. इदमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम् तदेव हि किञ्चित् प्रत्युच्चैर्भवति किञ्चित् प्रतिनीचैः।
(पा० सू० 1/2/29–30 पर महाभाष्य)
3. एतदप्येन कान्तिकम्। यत् हि अल्पप्राणस्य सर्वोच्चैस्तद्विध महाप्राणस्य सर्वनीचैः। (पा० सू० 1/2/29–30 पर महाभाष्य)
4. तथाहि महाप्राणो नीचैरप्युच्चारन्स्वरेण महान्तं देशं व्याप्नोति। अल्पप्राणस्तूच्चैरपि वदन्नल्पं व्याप्नोति। ऊर्ध्वभागेनोच्चार्यमाण उदात्तः अधरभागे निष्पन्नोऽनुदात्तः।
(पा० सू० 1/2/29–30 पर महाभाष्य)
5. ऊर्ध्वभागावच्छिन्नवायुसंयोगेनेत्यर्थः।
(वहीं महाभाष्यप्रदीप)
6. तीव्रार्थतरमुदात्तम् (नि० 4/25)

इत्यादि शब्दों का प्रयोग हुआ है। यजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में उदात्त स्वर के लक्षण को नहीं प्रस्तुत किया गया है, किन्तु इसका विधान विस्तार से किया गया है।

उदात्त के उच्चारण में उच्चारणावयवों की स्थिति

तै० प्रा० में उदात्त के उच्चारण में उच्चारणावयवों की स्थिति को बतलाते हुए कहा गया है कि उच्चारणावयवों की दीर्घता, स्वर की कठोरता तथा कण्ठविवर का संकोच—ये ध्वनि को ऊँचा करने वाले हैं।[1] तात्पर्य यह है कि उदात्त स्वर के उच्चारण में उच्चारणावयवों का विस्तार होता है अथवा ऊपर खींचा जाता है। ध्वनि को कठोर बनाया जाता है तथा कण्ठ को दबा कर उच्चारण किया जाता है। वैदिकाभरणकार के अनुसार आयाम का अर्थ हैं—उच्चारणावयवों का खींचना। दारुण्य का अर्थ है—ध्वनि की कठोरता और अणुता का अर्थ है—कण्ठविवरण संवृतता। ये साधन शब्द को ऊँचा करते हैं।[2] वा० प्रा० में आयाम स्वर का कारण बतलाया गया है।[3] भाष्यकार उवट ने आयाम का अर्थ उच्चारणावयवों का ऊर्ध्वगमन बतलाया है।[4]

अनुदात्त

अनुदात्त का शाब्दिक अर्थ है—उदात्तरहित; जो उदात्त नहीं। उदात्त का अभाव ही अनुदात्त कहा जाता है। तै० प्रा० के अनुसार निम्नध्वनि से उच्चारित होने वाला स्वर अनुदात्त कहलाता है।[5] गार्ग्यगोपालयज्वा का कथन है कि समान सुर में हृदय के समीपवर्ती नीचे वाले भाग से उच्चारित होने वाला स्वर अनुदात्त के गुणों से समन्वित होने के कारण अनुदात्त कहलाता है। उदात्त से विरुद्ध गुणवाला अनुदात्त होता है।[6] अनुदात्त स्वर के उच्चारण में उच्चारणा-

1. आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैः कराणि शब्दस्य। (तै० प्रा० 22/9)
2. आयामो गात्राणामाकर्षणम्। दारुण्यम् परुषता ध्वनेः। अणुता संवृतता कण्ठाकाशस्य। एतानि करणानि शब्दमुच्चैः कुर्वन्ति, उत्क्षेपणं (उत्क्षिप्तं) कुर्वन्ति।
(तै० प्रा० 22/9, वै० आ०)
3. आयाम……। (वा० प्रा० 1/31)
4. आयामो नाम ऊर्ध्वगमनं शरीरस्य। (वा० प्रा० 1/31 पर उवट)
5. नीचैरनुदात्तः। (तै० प्रा० 1 39)
6. समाने स्थाने हृदयासन्ने अधोभागे जातेन प्रयत्नेन उच्चार्यमाण स्वरोऽनुदात्तगुणकत्वादनुदात्तसंज्ञो भवति। उदात्तविरुद्धगुणोऽनुदात्तः।
(तै० प्रा० 1/39 पर वै० आ०)

वयवों की स्थिति बतलाते हुए तै० प्रा० में कहा गया है कि उच्चारणावयवों का ढीलापन स्वर की मृदुता और कण्ठविवर का विकास—ये साधन ध्वनि को नीचा करते हैं।[1] तात्पर्य यह है कि गात्रों (उच्चारणावयवों) को नीचे की ओर ले जाकर स्निग्धस्वर से कण्ठ को विस्तारित करके अनुदात्त स्वर का उच्चारण किया जाता है इस विषय में वैदिकाभरणकार का कथन है कि गात्रों का ढीलापन, ध्वनि की स्निग्धता, कण्ठविवर की विस्तृतता—ये करण (साधन) ध्वनि को नीचा करते हैं[2], अवक्षिप्त करते हैं, थोड़ा नीचे फेंका हुआ अर्थात् निम्नध्वनि से उच्चारित (स्वर) चतुर्थ नामक स्वर है। उससे नीचे फेंका हुआ अर्थात् निम्नतर ध्वनि से उच्चारित (स्वर) "मन्द्र" नामक स्वर है। सबसे नीचे फेंका हुआ अर्थात् निम्नतम ध्वनि से उच्चारित स्वर "अतिस्वार्थ" संज्ञक है। इस प्रकार हृदयप्रदेश से उत्पन्न होने के कारण ये स्वर निम्नध्वनि के वाचक होते हैं। इसीलिए कहा गया है कि नीचैरनुदात्तः।[3] वा० प्रा० में नीची ध्वनि से उच्चारित होने वाले स्वर को अनुदात्त कहा गया है।[4] भाष्यकार उवट के अनुसार उच्चारणावयवों के अधोगमन से जो स्वर निष्पन्न होता है वह अनुदात्त-संज्ञक कहलाता है।[5]

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने नीच का तात्पर्य ध्वनि की नीचता को न मानकर उच्चारणावयवों का निचला भाग स्वीकार किया है।[6] कैयट के अनुसार "उच्चैः" का अर्थ है—उच्चारणावयवों का उच्च भाग, तथा नीचैः का अर्थ

1. अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः कराणि। (तै० प्रा० 22/10)
2. अन्ववसर्गो गात्राणां संसनम् मार्दवं ध्वनेः ऊरुता विस्तीर्णता कण्ठविवरस्य इति एतानि करणानि शब्दं नीचैः कुर्वन्ति अवक्षिप्तं कुर्वन्ति। अत्रेषदवक्षिप्तश्चतुर्थाख्यस्वरः। अवक्षिप्ततरो मन्द्राख्यो अवक्षिप्ततमो त्रिस्वार्यसंज्ञः। एवमेते हृदयप्रदेशे जायन्त इति नीचैश्शब्दवाच्या भवन्ति। अत एवोक्तं नीचैरनुदात्तः।
(वै० प्रा० 1/39, 22/10 पर वै० आ०)
3. नीचैरनुदात्तः। (वा० प्रा० 1/109, प्रा० प्र० शि० 3)
4. वही.
5. मार्दवो नामाधोगमनं गात्राणां वायुनिमित्तिनः।
(वा० प्रा० 1/31 पर उवटभाष्य)
6. द्रष्टव्य (पा० सू० 1/2/30 पर महाभाष्य).

है—उच्चारणावयवों का निम्नभाग। कैयट के अनुसार इस प्रकार के स्वर-विशेष अभ्यास से सीखे जा सकते हैं तथा इन्हें संगीत में षड्जादि तीनों के समान समझना चाहिए।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि निम्नध्वनि से उच्चारित होने वाला स्वर अनुदात्त कहलाता है। वास्तव में अनुदात्त ऐसा स्वर है जिसका उच्चारण अवरोही स्वर के रूप में होता है। इसके उच्चारण में क्रमशः ध्वनि नीची होती जाती है।

अनुदात्त के उच्चारण में उच्चारणावयवों की स्थिति

अनुदात्त के उच्चारण में उच्चारणावयवों की स्थिति का विवेचन करते हुए वै० प्रा० में कहा गया है कि गात्रों (उच्चारणावयवों) का ढीलापन स्वर की मृदुता और कण्ठविवर का विकास—ये ध्वनि को नीचा करने के साधन हैं।[2] तात्पर्य यह है कि उच्चारणावयवों को नीचे ले जाकर स्निग्ध स्वर से कण्ठविवर को विस्तारित करके अनुदात्त स्वर का उच्चारण किया जाता है। वा० प्रा० के अनुसार मार्दव अनुदात्त का कारण है।[3] मार्दव शब्द को स्पष्ट करते हुए भाष्य-कार उवट का कथन है कि वायुनिमित्तक उच्चारणावयवों का अधोभाग विश्रम्भ या मार्दव है।[4] तात्पर्य यह है कि उचारणावयवों को नीचे ले जाकर कण्ठविवर को विस्तृत करके अनुदात्त का उच्चारग होता है।

स्वरित

जिस स्वर में उदात्त तथा अनुदात्त दोनों स्वरधर्मों का समावेश होता है, वह स्वरित कहलाता है। तै० प्रा० के अनुसार उदात्त तथा अनुदात्त धर्मों का समाहार (मिश्रण) स्वरित कहलाता है।[5] अर्थात् जिस वर्ण में उदात्त और

---

1. एवं चोच्चैरित्यनेनोर्ध्वभागो गृह्यते नीचैरित्यधरभागः अभ्यासमधिगम्यश्चायं स्वरविशेषः षड्जादिविज्ञेयः।
(पा० सू० 1/2/30 पर महाभाष्य तथा कैयट)
2. अन्ववसर्गो मार्दवमुरता खस्येति नीचैः कराणि शब्दस्य। (ते० प्रा० 22/10)
3. मार्दवेण अधोगमनेन गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यते सोऽनुदात्तसंज्ञः भवति।
(वा० प्रा० 1/109 पर उवटभाष्य)
4. मार्दवो नामाधोगमनं गात्राणां वायुनिमित्तिनः।
(वा० प्रा० 1/31 उवट भाष्य)
5. समाहारस्स्वरितः। (तै० प्रा० 1/04)

अनुदात्त दोनों धर्मों का सम्मिश्रण होता है उसे स्वरित कहते हैं। स्वरित के विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है। आचार्य शौनक के अनुसार स्वरित का उच्चारण आक्षेप से होता है।[1] उवट के अनुसार आक्षेप का अर्थ है—वायु के कारण उच्चारणावयवों का तिर्यग्गमन।[2] तात्पर्य यह है कि वायु के आघात के कारण जब उच्चारणावयवों का तिर्यग्गमन (तिरछे जाना) होता है; तभी स्वरित स्वर की निष्पत्ति हो जाती है। वा० प्रा० तथा प्रा० प्र० शि० के अनुसार उदात्त तथा अनुदात्त—इन दोनों के धर्म वाला स्वर स्वरित कहलाता है।[3] वा० प्रा० के भाष्यकार ने सूत्र में प्रयुक्त उभयवान् पद की व्याख्या करते हुए कहा है कि उदात्त का प्रयत्न उच्चारणावयवों का ऊर्ध्वगमन है तथा अनुदात्त का प्रयत्न उच्चारणावयवों का अधोगमन है। इन दोनों—ऊर्ध्वगमन तथा अधोगमन प्रयत्नों के समाहार से उच्चारित होने वाला स्वर स्वरितसंज्ञक होता है।[4]

दो स्वरों (उदात्त तथा अनुदात्त) के मेल से निष्पन्न होने के कारण तै० प्रा० 19/2 में स्वरित स्वर के लिए द्वियम संज्ञा का प्रयोग किया गया है। गार्ग्य-गोपालयज्वा ने द्वियम शब्द का अर्थ बतलाते हुए कहा है कि यम शब्द स्वर का पर्यायवाची है, जिसमें दो यम (स्वर) बिना किसी व्यवधान के रहते हैं। वह स्वरित द्वियम कहलाता है।[5] इसलिए दो स्वरों का समाहार होने के कारण तै० प्रा० में स्वरित के लिए द्वियम संज्ञा का प्रयोग किया गया है। उसी में अन्यत्र इसके लिए "प्रणव" संज्ञा का प्रयोग एवं विधान भी किया गया है। सोमयार्य के अनुसार प्रणव स्वरित का पर्यायवाची है। वैदिकाभरणकार ने प्रणव शब्द का

---

1. उदात्तानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः।
आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते। (ऋग्वेद प्रा० 3/1 उवट)
2. आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्।
(ऋ० प्रा० 3/1 पर उवटभाष्य)
3. उभयवान्स्वरितः। (वा० प्रा० 1/110, प्रा० प्र० शि० 6)
4. उदात्तस्योर्ध्वगमनं गात्राणां प्रयत्नः। अनुदात्तस्याधोगमनं गात्राणां प्रयत्नः। आभ्यां प्रयत्नाभ्यां समाहारीभूताभ्यां यः स्वरः उच्चार्यते स स्वरितसंज्ञो भवति। (वा० प्रा० 1/110 पर उवटभाष्य)
5. यमः स्वर पर्यायवाची। द्वौ यमौ समाहृतो यस्मिन्स खलु स्वरितस्वरो द्वियम इत्युच्यते। (तै० प्रा० 19/3 वै० आ०)
6. प्रणवशब्द स्वरितपर्यायः। (तै० प्रा० 1/47 त्रिभाष्यरत्न)

निर्वचन करते हुए कहा है कि जो प्रकृष्ट रूप से आक्रान्त किया जाता है, फेंका जाता है; वह प्रणव है।[1]

वा० प्रा० में स्वरित का प्रयत्न अभिघात बतलाया गया है।[2] भाष्यकार उवट के अनुसार अभिघात का अर्थ है—उच्चारणावयवों का तिर्यग्गमन।[3] वा० प्रा० में सूत्रकार ने स्वयं स्वरित को स्पष्ट करते हुए कहा है कि उच्चारणावयवों के ऊर्ध्वगमन और अधोगमन प्रयत्न से विशिष्ट प्रयत्नजन्य स्वरित होता है।[4] उवट के अनुसार जो अभिघात स्वरित है वह उच्च एवं नीच प्रयत्न विशिष्ट है अर्थात् उच्चारणायवों के ऊर्ध्वगमन एवं अधोगमन से सिद्ध होता है।[5]

उदात्तादि स्वरों के उच्चारण के विषय में उपर्युक्त सामान्य नियमों से यह ज्ञात होता है कि उदात्त स्वर का उच्चारण ध्वनि के आरोह के साथ होता है इसके उच्चारण में उच्चारणावयव ऊपर की ओर खिच जाते हैं। अनुदात्त स्वर का उच्चारण ध्वनि के अवरोह के साथ होता है। इसमें उच्चारणवयव नीचे की ओर शिथिल पड़ जाते हैं। स्वरित के उदात्तांश में ध्वनि का आरोह होता है तथा अनुदात्तांश में ध्वनि का अवरोह होता है।

स्वरित के स्वरूप के विषय में विशेष विचार

स्वरित के स्वरूप के विषय में सभी प्रातिशाख्यों में विधान किया गया है। ऋ० प्रा० के अनुसार स्वरित की आधी अथवा सम्पूर्ण स्वरित का आधा भाग उदात्त से उदात्ततर उच्चारित होता है और परवर्ती अवशिष्ट अंश अनुदात्त के समान सुना जाता है।[6] अर्थात् स्वरित यदि एकमात्राकाल वाला ह्रस्व है तो आधी मात्रा उदात्ततर उच्चारित होती है तथा आधी मात्रा अनुदात्त के समान। यदि दो मात्राकाल वाला दीर्घ है तो पूर्ववर्ती आधा भाग एकमात्रा उदात्त से उच्च-

---

1. प्रकर्षेण जन्यते व्युत्क्षिप्यत इति प्रणवः।
(तै० प्रा० 1/47 पर वै० आ० भाष्य)
2. …अभिघाताः… (वा० प्रा० 1/31)
3. अभिघातस्तिर्यग्गमनं गात्राणाम्। (वा० प्रा० 1/31 पर उवट)
4. उच्चनीचविशेषः। (वा० प्रा० 1/32)
5. यो यन्नामाभिघातः स्वरितः स उच्चनीचविशेषः उच्चनीचाभ्यामभिनिवर्त्यते। (वा० प्रा० 1/32 पर उवट भाष्य)
6. तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा।
अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः। (ऋ० प्रा० 3/4–5)

तर तथा एकमात्रा अनुदात्त के समान उच्चारित होता है। तै० प्रा० के अनुसार उदात्तपूर्व-स्वरित के आदि में आधी मात्रा उदात्त से उदात्ततर उच्चरित होती है[1] तथा शेष आधी मात्रा उदात्तसम होती है।[2] अर्थात् उदात्तपूर्व स्वरित के आदि की आधी मात्रा उदात्ततर तथा परवर्ती अवशिष्ट मात्रा उदात्तसम होती है। इस प्रकार ह्रस्वस्वर में परवर्ती आधी मात्रा तथा दीर्घ स्वर में परवर्ती डेढ़ ($1\frac{1}{2}$) मात्रा अनुदात्तसम उच्चारित होती है तथा दोनों में पूर्ववर्ती आधी मात्रा उदात्ततर उच्चारित होती है। त्रिभाष्यरत्नकार के अनुसार स्वरित का परवर्ती अंश उदात्त के समान उच्चारित होता है न कि उदात्त ही। उदात्त से कुछ न्यून उच्चारित होता है अंन्यथा स्वरित का अभाव हो जाएगा।[3] स्वरित स्वर में उदात्त तथा अनुदात्त का समाहार होता है।[4] इस विधान से स्पष्ट होता है कि स्वरित की अर्धमात्रा उदात्त तथा परवर्ती अंश उदात्त से नीची ध्वनि (अनुदात्त) से उच्चारित होता है। इस विषय में तै० प्रा० में विकल्प भी प्रस्तुत किया गया है कि स्वरित का परवर्ती अंश विकल्प से अनुदात्ततर होता है।[5] कतिपय आचार्यों के मत में स्वरित का आदि वाला भाग उदात्त के समान तथा परवर्ती अंश अनुदात्त के समान उच्चारित होता है।[6] वा० प्रा० में विधान किया गया है कि स्वरित के प्रारम्भ का अर्धभाग उदात्त तथा शेष अर्धभाग अनुदात्त होता है।[7]

भाष्यकार उवट ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि स्वरित एकमात्राकाल वाला हो, दो मात्राकाल वाला हो या तीन मात्राकाल वाला हो, उसका प्रारम्भ वाला आधाभाग सर्वत्र उदात्त होता है तथा बाद वाला आधाभाग अनुदात्त होता है।[8] च० अ० के अनुसार भी स्वरित की आधी मात्रा उदात्त होती है।[9]

---

1. तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धम्। (तै० प्रा० 1/41)
2. उदात्तसमश्शेषः। (तै० प्रा० 1/42)
3. ह्रस्वार्धकालाच्छेष उदात्तसमो भवति न तूदात्त एव। समसब्दप्रयोगात् किञ्चिन्न्यूनत्वं प्रतीयते। अन्यथा स्वरिताभावात्। (तै० प्रा० 1/42 पर त्रि० र०)
4. समाहारः स्वरितः। (तै० प्रा० 1/40, पा० व्या० 1/2/31)
5. अनन्तरो वा नीचैस्तराम्। (तै० प्रा० 1/44)
6. आदिरस्योदात्तसमो शेषोऽनुदात्तमम इत्याचार्याः (तै० प्रा० 1/46)
7. तस्यादितः उदात्तं स्वरस्यार्धमात्रम्। (वा० प्रा० (1/126)
8. द्रष्टव्य—वा० प्रा० 1/126 पर उवटभाष्य।
9. स्वरितस्यादितो मात्रार्धमुदात्तम्। (च० अ० 1/17)

स्वरित-विषयक उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि उदात्तर तथा अनुदात्त धर्मों के सम्मिश्रण से स्वरित स्वर निष्पन्न होता है। स्वरित में उदात्त तथा अनुदात्त का यह मिश्रण तिल-तण्डुल अथवा काष्ठ-जतु के मिश्रण के समान होता है। तात्पर्य यह है कि स्वरित में उदात्त तथा अनुदात्त धर्मों का मिश्रण सभी अवयवों में समान रूप से नहीं होता। स्वरित के आदि वाला भाग उदात्त तथा बाद वाला भाग अनुदात्त धर्म वाला होता है। भाष्यकार उवट ने स्वरित में उदात्त तथा अनुदात्त के इस मिश्रण को त्रपु (सीसा) तथा ताम्र (ताँबा) के मिश्रण से उत्पन्न कासे के समान बतलाया है। जिस प्रकार त्रपु तथा ताम्र—इन दो धातुओं के संयोग से तीसरी धातु काँसे की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार उदात्त तथा अनुदात्त के संयोग से स्वरित ताम्र वाला एक तीसरा स्वर निष्पन्न होता है।[1] किन्तु भाष्यकार का यह दृष्टान्त पूर्णतः ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि काँसे में त्रपु और ताम्र का संयोग उसके प्रत्येक अवयव में होता है किन्तु स्वरित में उदात्त तथा अनुदात्त धर्मों का मिश्रण समान रूप से अविभाज्य नहीं होता है। स्वरित के आदि वाले अंग में उदात्त तथा परवर्ती भाग में अनुदात्त अंश स्पष्ट प्रकार से रहता है। काँसे में त्रपु तथा ताम्र का सम्मिश्रण दुग्ध तथा जल के मिश्रण के सदृश होता है जबकि स्वरित में उदात्त तथा अनुदात्त धर्मों का मिश्रण तिल-तण्डुल अथवा काष्ठ-जतु के मिश्रण के सदृश होता है।

स्वरित के भेद

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षा-ग्रन्थों में स्वरित के आठ भेदों का उल्लेख हुआ है—(1) जात्यस्वरित, (2) क्षैप्रस्वरित, (3) अभिनिहितस्वरित, (4) प्रश्लिष्ट-स्वरित (5) तैरोव्यन्जनस्वरित, (6) पादवृत्तस्वरित, (7) तैरोविराम तथा (8) ताथाभाव्यस्वरित।

स्वराङ्कुशशिक्षा में केवल सात ही स्वरितों को स्वीकार किया गया है। ताथाभाव्यस्वरित को कम्प माना गया है।[2] स्वरभक्तिलक्षण परिशिष्ट में भी

---

1. यथा त्रपुताम्रयोः संयोगे सति काँस्यस्य धात्वन्तरस्योत्पत्तिरेवमिहापि द्रष्टव्या।
(ऋ० प्रा० 3/5 उवटभाष्य)

2. जात्योऽभिनिहितः क्षैप्रस्तैरोव्यञ्जन एव च।
तैरोविरामः प्रश्लिष्टः पादवृत्तस्तु सप्तमः॥
स्वराङ्कुशशिक्षा–15

आठ ही स्वरितों को स्वीकार किया गया है।[1] शुक्लयजुर्वेद की शिक्षाओं में ताथाभाव्य स्वरित को भी स्वरित माना गया है।[2]

इन स्वरों को मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(1) नित्यस्वरित, (2) सन्धिजस्वरित नथा (3) उदात्तपूर्वस्वरित। नित्यस्वरित के अन्तर्गत जात्यस्वरित, सन्धिजस्वरित के अन्तर्गत क्षैप्रस्वरिंत, अभिनिहितस्वरित प्रश्लिष्टस्वरित तथा उदात्तपूर्वस्वरित के अन्तर्गत तैरोव्यञ्जन, पादवृत्त, तैरो विराम और ताथाभाव्थ स्वरित आते हैं।

नित्यस्वरित

इसे जात्यस्वरित भी कहते हैं। नित्य शब्द का अर्थ है—शाश्वत, स्थिर अथवा अपरिवर्तनीय। जो स्वरित किसी भी परिस्थिति में परिवर्तित नहीं होता वह नित्य स्वरित कहलाता है। जात्यस्वरित का अर्थ है—जन्म से उत्पन्न, स्वभाव से उत्पन्न स्वरित। यह स्वरित न तो किसी पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से उत्पन्न होता है और न ही सन्धि के परिणाम से। किसी अवस्था-विशेष से उत्पन्न न होने के कारण अर्थात् पहले से ही रहने के कारण यह जात्यस्वरित भी कहा जाता है। इसके पूर्व में या तो कोई स्वर नहीं होता अथवा अनुदात्त होता है।

---

1. तैरोविरामः क्षैप्रश्च तैरोव्यञ्जनकस्तथा।
भाव्योऽभिनिहितो जात्यः पादवृत्तश्च सप्तमः॥
प्रश्लिष्टः इति विज्ञेयाः प्रोच्यते लक्षणान्यथ॥
(स्व०भ०ल०प०शि० 2, 3)

2. अष्टो स्वरान् प्रवक्ष्यामि तेषामेव तु लक्षणम्।
जात्योऽभिनिहितः क्षैप्रः प्रश्लिष्टश्च तथापरः॥
तैरोव्यञ्जनसंज्ञश्च तथा तैरोविरामकः।
पादवृत्तो भवेतत्तद्वत् ताथाभाव्य इति स्वराः॥ (या०शि० 76, 77)
जात्योऽभिनिहितः क्षैप्रः प्रश्लिष्टो व्यञ्जनस्वरः।
तैरोविरामः पादवृत्तस्ताथाभाव्यस्तथाष्टमः॥ (केशवी शि० 4)
अष्टो स्वरान् प्रवक्ष्यामि तेषामेव च लक्षणम्।
जात्योऽभिनिहितः क्षैप्रः प्रश्लिष्टस्तदनन्तरम्॥
तैरोव्यञ्जन एवाथ तैरोविराम एव च।
पादवृत्तस्ततस्तंत्ताथाभाव्यस्तथाष्टम ॥ (व०प्र०शि० 53,54)

याज्ञवल्क्यशिक्षा में जात्यस्वरित का विधान करते हुए कहा गया है कि एक ही पद में स्थित अनुदात्तपूर्व अथवा यकार तथा वकार से युक्त अक्षर जब स्वरित होता है तो वह जात्यस्वरित कहलाता है।[1]

व०प्र०शि० के अनुसार भी एक पद में निपूर्व (नीच अर्थात् अनुदात्त पूर्व में होने पर) यकार अथवा वकार से युक्त अक्षर जहाँ स्वरित होता है वह जात्य स्वरित कहलाता है। अपूर्व (जिसके पूर्व में कोई स्वर नहीं है) भी यकार अथवा वकार से युक्त अक्षर जहाँ स्वरित हो वह जात्यस्वरित होता है।[2]

वा०प्रा० के अनुसार एकपद में अनुदात्तपूर्व तथा यकार अथवा वकार सहित स्वरित जात्यस्वरित कहलाता है।[3] भाष्यकार उवट के अनुसार नीचपूर्व विशेषण सम्भावना के लिए है। अतः कोई स्वर पूर्व में न होने पर भी जात्यस्वरित होता है।[4] प्रा०प्र०शि० में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।[5] प्रा०प्र०शि० में उद्घृत उपर्युक्त विधान भाष्यकार उवट के मत को पुष्ट करता है।[6]

स्वरांकुशशिक्षा में कहा गया है कि यकार तथा वकार सहित अपूर्व अथवा नीच (अनुदात्त) पूर्व स्वरित जात्यस्वरित कहलाता है।[7]

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि एकपद में जिस स्वरित अक्षर से पूर्व अनुदात्त हो अथवा कोई भी स्वर न हो तथा अक्षर यकार अथवा वकार वर्ण से युक्त हो तो वह जात्यस्वरित कहलाता है। यह स्वरित दो प्रकार का होता है—(1) अनुदात्तपूर्वस्वरित या नीचपूर्व तथा (2) अपूर्व। जिस स्वरित के पूर्व में अनुदात्त स्वर होता है वह अनुदात्तपूर्व या नीचपूर्व जात्यस्वरित कहलाता है तथा जिस स्वरित के पूर्ण में कोई भी स्वर नहीं होता वह अपूर्व जात्यस्वरित कहलाता

---

1. एकपदे नीचपूर्वः सयवो जात्य इष्यते।
   अपुर्वोऽपि परस्तद्वत् धान्य सुष्वा स्वरित्यपि॥ (या०शि० 1/78)
2. एकपदे निपूर्वस्तु सयवो जात्य इष्यते।
   अपूर्वोऽपि परस्तद्वद्धान्यं कन्या स्वरित्यपि।। (व०प्र०शि० 55)
3. एकपदे नीचपूर्वः सयवो जात्यः। (वा० प्रा० 1/111)
4. द्रष्टव्य—वा०प्रा० 1/111 पर उवटभाष्य।
5. द्रष्टव्य—प्रा०प्र०शि० 7.
6. नीचपूर्वो इति सम्भवविशेषणम्। (प्रा०प्र०शि० 7, व्याख्या)
7. व्यञ्जनैस्तु सयवो यत्र प्रयुच्येते ततः परम्।
   अपूर्वो नीचपूर्वो जात्यः स्वारः स उच्यते॥ (स्वरांकुशशिक्षा 3)

है। जैसे—अनुदात्तपूर्व (1) कन्या॑ (वा०सं० 17।97)। यहाँ अनुदात्त के बाद में यकार युक्त अक्षर आकार स्वरित है जो अनुदात्तपूर्व नित्यस्वरित है। (2) स्व॑ (वा०सं० 18/64)। यहाँ वकारयुक्त अक्षर अकार स्वरित है, जिसके पूर्व में कोई भी स्वर नहीं है अतः यह अपूर्व जात्यस्वरित है।

आधुनिक विद्वानों के अनुसार कन्या आदि स्थल मौलिकरूप से सन्धि के स्थल हैं। यद्यपि अब यहाँ सन्धि नहीं मानी जाती है—यथा—कनी + आ = कन्या। क्षैप्रस्वरित की भाँति यहाँ भी उदात्त और अनुदात्त के मिलने से ही स्वरित स्वर निष्पन्न होता है। इस प्रकार यहाँ क्षैप्र की सम्भावना होती है, क्योंकि क्षैप्र स्वरित भी इकार तथा उकार के क्रमशः यकार तथा वकार होने पर ही होता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के भाष्यकार गार्ग्य गोपालयज्वा ने यहाँ क्षैप्र स्वरित होने का निराकरण करते हुए कहा है कि न्यङ् इत्यादि पदों में क्षैप्रता की सम्भावना होती है किन्तु हमारे शास्त्र (तै० प्रा०) में तो पदपाठ से किये गये विभाग से ही सिद्ध पदों की सन्धि होने पर जहाँ यकार और वकार होता है वहाँ क्षैप्र का लक्षण अभीष्ट है अर्थात् वहाँ क्षैप्रस्वरित होता हैं। कन्या इत्यादि स्थल पदपाठ में भी इसी रूप में रहते हैं। इसलिए कन्या इत्यादि में नित्यस्वरित ही है, क्षैप्रस्वरित नहीं।[1] वस्तुतः प्रातिशाख्यग्रन्थ पदों को सिद्ध मानते हैं। उनके अनुसार सन्धि-कार्य दो पदों के मध्य होता है। एक ही पद में नहीं। इसीलिए नित्यस्वरित विषयक विधान करते हुए कहा गया है कि एक ही पद में उक्त परिस्थितियों के होने पर जात्यस्वरित होता है क्योंकि इनके अनुसार कन्या इत्यादि पद सन्धि से जायमान नहीं है।

जात्यस्वरित की मुख्य विशेषता यह है कि यह सभी परिस्थितियों में स्वरित ही रहता है। उदात्तपूर्वस्वरित की भाँति यह कभी भी अनुदात्त रूप में नहीं दिखलाई पड़ता। इसी कारण इसे नित्यस्वरित कहा जाता है। यह स्वरित संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ आदि सभी स्थलों पर मिलता है। यह स्वरित सर्वदा यकार तथा वकार से परवर्ती स्वर पर ही आता है। उदात्तपूर्व-

---

1. न्यङ् व्युप्तकेशाय न्यञ्चम् कुहवे इत्यादौ क्षैप्रतामवधारयति। तत्र हि मूलशास्त्रोक्तादवयवाविभागात् क्षैप्रता सम्भाव्यते। अस्मच्छास्त्रे तु पदकालपरिकल्पितविभागसिद्धानामेव पदानां सन्धौ यवकारभावः क्षैप्रलक्षणमिष्यते। तस्मात् न्यङ् न्यञ्चम् इत्यादि स्वरिता अपि नित्या एव।

(तै० प्रा० 20/2 पर वैदिकाभरणभाष्य)

स्वरित पदच्छेद हो जाने पर अपने मूलरूप (अनुदात्त) में परिवर्तित हो जाता है जबकि नित्यस्वरित में कोई परिवर्तन नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि नित्यस्वरित किसी अन्य स्वर पर आश्रित नहीं होता तथा अपरिवर्तनशील होता है।

सन्धिजस्वरित

सन्धिज शब्द का अर्थ है—सन्धि से उत्पन्न। जो स्वरित सन्धि के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है, वह सन्धिजस्वरित कहलाता है। सन्धि के परिणामस्वरूप क्षैप्र, प्रश्लिष्ट तथा अभिनिहित—ये तीन स्वरित निष्पन्न होते हैं। इनमें दो स्वरवर्णों की सन्धि होती है और दो स्वरों के स्थान पर एक नवीन स्वर आ जाता है। स्वरवर्णों की सन्धि के साथ-साथ उदात्तादि स्वरधर्मों की भी सन्धि होती है। स्वरों के धर्मभूत उदात्तादि स्वरों की सन्धि से जो स्वरित स्वर निष्पन्न होता है उसे सन्धिज स्वरित कहा जाता है।

क्षैप्रस्वरित

या० शि० के अनुसार उदात्त इकार अथवा उदात्त उकार के बाद में अनुदात्त स्वरधर्मी असमान स्वर वर्ण होने पर जब उदात्त इकार अथवा उदात्त उकार का क्रमशः यकार तथा वकार होता है तो सन्धिज स्वरित क्षैप्र होता है।[1] उल्लेखनीय है कि इकार अथवा उकार के बाद में असवर्ण स्वर होने पर सन्धि के परिणामस्वरूप इकार का यकार तथा उकार का वकार हो जाता है। प्रातिशाख्य तथा शिक्षाग्रन्थों में इस सन्धि को क्षैप्र कहा जाता है। इस सन्धि में यदि पूर्ववर्ती इकार अथवा उकार उदात्त होता है तो सन्धि के फलस्वरूप क्रमशः यकार तथा वकार हो जाने पर उस पूर्ववर्ती स्वर उदात्त की सत्ता समाप्त हो जाती है क्योंकि उदात्तादि स्वर स्वरवर्णों के धर्म हैं; व्यञ्जन के नहीं। सन्धि होने पर स्वर इकार तथा उकार के स्थान पर व्यञ्जन क्रमशः यकार तथा वकार हो जाता है। अतः पूर्ववर्ती उदात्त स्वर का धर्मी स्वर समाप्त हो जाने से धर्म (उदात्त) भी समाप्त हो जाता है। परवर्ती असवर्ण अनुदात्त स्वर अपनी अविकृत अवस्था में ही रहता है। पूर्ववर्ती उदात्त-स्वर की सत्ता समाप्त हो जाने पर परवर्ती अनुदात्त स्वर के स्थान पर स्वरित स्वर हो जाता है। यह स्वरित स्वर क्षैप्रस्वरित कहलाता है। क्षैप्र नामक सन्धि के परिणामस्वरूप निष्पन्न होने के कारण ही इस स्वरित को क्षैप्र स्वरित कहा जाता है। जैसे—त्रि +

---

1. इउवर्णौ यदोदात्तावापद्येते यवौ क्वचित्।

अम्बकम् = त्र्यम्बकम् (वा० सं० 3/60), द्रु + अन्नः = द्र्वन्नः सं० 11/70)। इन दोनों उदाहरणों में क्रमशः पूर्ववर्ती उदात्त इकार तथा उदात्त उकार के स्थान पर यकार तथा वकार हो गया और परवर्ती अनुदात्त अकार का स्वरित हो गया है। यह स्वरित क्षैप्रस्वरित है। व० प्र० शि० के अनुसार भी उदात्त इ तथा उ वर्ण के बाद में अनुदात्त स्वर होने पर पूर्ववर्ती इकार तथा उकार के स्थान पर हुए यकार तथा वकार से संयुक्त होने पर निष्पन्न स्वरित क्षैप्र होता है।[1]

प्रातिशाख्यों में भी इस स्वरित का विधान किया गया है। उनके अध्ययन से भी प्रतीत होता है कि क्षैप्रसन्धि में जहाँ पदान्त इवर्ण अथवा उवर्ण उदात्त हो तथा पदादि असवर्ण स्वर अनुदात्त हो तो वह अनुदात्त स्वर वाला स्वर वर्ण ही स्वरित हो जाता है। वही स्वरित क्षैप्रस्वरित कहलाता है।[2] इसी तथ्य का स्पष्टीकरण पाणिनिव्याकरण में भी हुआ है।[3] वा० प्रा० के क्षैप्रस्वरितविषयक विधान को प्रा० प्र० शि० में निर्दिष्ट करके उस विधान की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।[4] उस व्याख्या के अनुसार भी क्षैप्रस्वरितविषयक इसी तथ्य की पुष्टि होती है।[5]

स्वराङ्कुशशिक्षा के अनुसार भी उदात्त इकार तथा उकार का जहाँ क्रमशः यकार तथा वकार होता है वहाँ परवर्ती अनुदात्त स्वर स्वरित हो जाता है।[6]

---

1. इउवर्णावुदात्तौ चेदनुदात्तस्वरोदयौ।
यवाभ्यां चैव संयुक्तौ तदा क्षैप्रः स्वरो भवेत् ॥
(व० प्र० शि० 61 उ०, 62 पृ०)
2. इवर्णोकारयोर्यवकारभावे क्षैप्र उदात्तयोः। (तै० प्रा० 20/1)
युवर्णो यवौ क्षैप्रः। (वा० प्रा० 1/115; प्रा० प्र० शि० 11)
अन्तःस्थापत्तावुदात्तस्यानुदात्ते क्षैप्रः। (च० अ० 3/58)
3 उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितो वानुदात्तस्य। (पा० व्या० 8/2/4)
अनुदात्ते परे नित्यं विद्यात् क्षैप्रस्य लक्षणम् ॥ (या० शि० 1/80)
4. युवर्णो यवौ क्षैप्रः। (वा० प्रा० 1/115, प्रा० प्र० शि० 11)
5. इश्च उश्च युवर्णौ उदात्तौ अनुदात्ते स्वरोदये यवकाराभ्यां यथासंख्येन युक्तौ यदा तदा क्षैप्रस्वरो भवति। (प्रा० प्र० शि० 11, व्याख्या)
6 इउवर्णौ यदोदात्तावापद्येते यवौ क्वचित्।
अनुदात्ते स्वरे नित्यं विद्यात्क्षैप्रस्य लक्षणम् ॥
(स्वराङ्कुशशिक्षा–5)

अभिनिहितस्वरित

अभिनिहितसन्धि के परिणाम स्वरूप निष्पन्न स्वरित को अभिनिहित-स्वरित कहा जाता है। पदान्तीय एकार अथवा ओकार से परवर्ती अकार का पूर्वरूप हो जाना ही अभिनिहित सन्धि है। इस स्वरित का विधान शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं में उपलब्ध होता है। या० शि० के अनुसार जहाँ उदात्त एकार अथवा ओकार के बाद में स्थित अनुदात्त अकार का लोप होता है, वहाँ स्वरित को अभिनिहित स्वरित जानना चाहिए।[1] तात्पर्य यह है कि एकार अथवा ओकार से परवर्ती अकार का लोप हो जाता है। इस स्थल पर यदि पूर्ववर्ती एकार अथवा ओकार उदात्त हो तथा परवर्ती अकार अनुदात्त हो तो अकार के लुप्त होने पर परवर्ती अनुदात्त की सत्ता समाप्त हो जाती है क्योंकि उसका धर्मी स्वर वर्ण अकार लुप्त हो जाता है। उसके लुप्त हो जाने पर पूर्ववर्ती उदात्त के स्थान पर स्वरित हो जाता है। यही स्वरित अभिनिहितस्वरित कहलाता है। व० प्र० शि० में भी अभिनिहितस्वरित का विधान किया गया है। उसके अनुसार भी उदात्त एकार अथवा ओकार से परवर्ती अनुदात्त अकार का लोप होने पर सन्धि के परिणाम-स्वरूप निष्पन्न स्वरित अभिनिहितस्वरित कहलाता है।[2] जैसे—(1) ते+अ॒प्सर-साम्=तेॅऽप्सरसाम् (वा० सं० 24/37)। यहाँ पूर्ववर्ती एकार उदात्त है। उससे परवर्ती अकार का लोप हो गया है; जो अनुदात्त है। पूर्ववर्ती उदात्त के स्थान पर स्वरित हो गया है। अतः यह स्वरित अभिनिहितस्वरित कहलाता है, (2) वे॒दः+असि=वेदोॅऽसि। यहाँ पूर्ववर्ती उदात्त ओकार के बाद में स्थित (परवर्ती) अनुदात्त अकार का लोप हो गया है जिससे पूर्ववर्ती उदात्त ओकार स्वरित हो गया है जो अभिनिहित स्वरित है।

प्रातिशाख्यग्रन्थों में भी अभिनिहितस्वरित का विधान किया गया है। ऋ० प्रा० के अनुसार अभिनिहितस्वरित में, उदात्त पूर्व में होने तथा अनुदात्त बाद में होने पर सन्धि के बाद निष्पन्न स्वरित को अभिनिहित स्वरित कहना चाहिए।[3] तै० प्रा० में भी इसी तथ्य का उद्घाटन किया गया है।[4] वा० प्रा०

1. एओ आभ्यामुदात्ताभ्यामकारो निहतश्च यः।
स च यत्र प्रलुप्यते तमभिनिहितं विदुः॥ (या० शि० 1/79)
2. एओ आभ्यामुदात्ताभ्यामकारो नीच एव च।
लुप्यते सन्धिकार्ये यत्तं चाभिनिहितं विदुः॥ —व० प्र० शि० 57
3. इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च।
उदात्तपूर्वरूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत्॥ (ऋ० प्रा० 3/13)
4. तस्मादकारलोपेऽभिनिहितः। (तै० प्रा० 20/4)

के अनुसार भी उदात्त एकार तथा ओकार के बाद में स्थित अनुदात्त अकार क लोप होने पर निष्पन्न स्वरित अभिनिहित कहलाता है।[1]

प्रा० प्र० शि० में भी वा० प्रा० के इस विभाग को उद्धृत किया गया है तथा उसकी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। उसके अनुसार भी उदात्त एकार तथा ओकार से परवर्ती अनुदात्त अकार का जहाँ लोप होता है वहाँ पूर्ववर्ती उदात्त स्वर स्वरित हो जाता है। वह स्वरित अभिनिहितस्वरित कहलाता है।[2] इसमें अभिनिहितस्वरित का अपवाद भी प्रस्तुत किया गया है। जिसका विधान वा० प्रा० में भी हुआ है। इसके अनुसार "देश" के एकार से परवर्ती "अभवत्" के अकार का लोप होने पर अभिनिहित स्वरित नहीं होता है।[3]

स्वराङ्कुशशिक्षा के अनुसार उदात्त एकार तथा ओकार से परवर्ती अनुदात्त अकार का लोप होने पर पूर्ववर्ती उदात्त स्वरित हो जाता है। वह स्वरित अभिनिहित कहलाता है।[4]

च० अ० में भी अभिनिहितस्वरित के विषय में ऐसा ही विधात किया गया है।[5] कात्यायनी शिक्षा में अभिनिहितस्वरित का प्रयोग तो नहीं किया गया है किन्तु विधान अवश्य हुआ है कि उदात्त के साथ एकीभाव (सन्धि) में उदात्त होता है परन्तु उदात्त एकार अथवा ओकार से स्वर (अकार) का संयोग (सन्धि) होने पर स्वरित होता है। उसी स्वरित के लिए अन्यत्र अभिनिहित संज्ञा का प्रयोग किया गया है।[6] भाष्यकार ने अन्य उदाहरणों के साथ ते+अप्सरसाम्= तेँऽप्सरसाम्"। यह अभिनिहित स्वरित का उदाहरण है।

प्रश्लिष्टस्वरित

प्रश्लिष्टसन्धि के परिणाम स्वरूप निष्पन्न स्वरित को प्रश्लिष्टस्वरित कहा जाता है। पाणिनीय व्याकरण में जिन सन्धियों के लिए दीर्घ, गुण और

1. एदोद्भ्यामकारो लुगभिनिहितः। (वा० प्रा० 1/114)
2. एकारौकाराभ्यामुदात्ताभ्याम्परोऽकारोऽनुदात्तो यत्र लुक् लुप्यते तत्राभिनिहित-स्वरो भवति। (प्रा० प्र० शि० 9, व्याख्या)
3. न देशे भवति। (प्रा० प्र० शि० 10)
4. एदोतोरुच्चयोर्यत्र नीचोऽकारपरो यदि।
एकीभावे भवेत्तत्र स्वरोऽभिनिहितस्तदा॥ (स्वराङ्कुशशिक्षा 4)
5. एकारौकारौ पदान्तौ परतोऽकारं सोऽभिनिहितः। (च० अ० 3/55)
6. पदकाले य एकार उदात्तः संहितोद्भवः।
ओकारस्वरसयुक्तो यं न च स्वार्यं एव सः॥ (कात्यायनी शि० 4)

वृद्धि संज्ञा का प्रयोग हुआ है, ऋ० प्रा० में उन्हीं सन्धियों के लिए प्रश्लिष्ट संज्ञा विहित है। अन्य प्रातिशाख्यों में इन सन्धियों का विधान किया गया है किन्तु इन सन्धियों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होने वाले स्वरित के लिए प्रश्लिष्ट संज्ञा का प्रयोग किया गया है। प्रश्लिष्ट सन्धि तो कई प्रकार के स्थलों पर होती है; किन्तु सभी स्थलों पर स्वरित नहीं होता।

या० शि० के अनुसार जहाँ उदात्त इकार की अनुदात्त इकार से सन्धि होती है वहाँ प्रश्लिष्ट नामक स्वरित होता है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि इस शिक्षा के मत में केवल दीर्घ सन्धि के परिणाम स्वरूप ही प्रश्लिष्टस्वरित निष्पन्न होता है, वह भी केवल इकार के दीर्घ होने पर। जब पदान्त उदात्त इकार तथा पदादि अनुदात्त इकार की सन्धि के परिणामस्वरूप दोनों के स्थान पर दीर्घभाव ईकार होता है तो उन स्वरों—पूर्ववर्ती उदात्त तथा परवर्ती अनुदात्त के स्थान पर एकादेश स्वरित होता है। यही स्वरित प्रश्लिष्ट कहलाता है, जैसे—(1) स्रु॒चि + इ॒व = सुची॒व (2) अ॒भि + इ॒न्ध॒ता॒म् = अभी न्धताम्। इन दोनों उदाहरणों में पूर्ववर्ती उदात्त इकार तथा परवर्ती अनुदात्त इकार की दीर्घभाव सन्धि में दीर्घ स्वरित ईकार हो गया है। यह स्वरित प्रश्लिष्ट स्वरित है।

व० प्र० शि० में भी विधान किया गया है कि पूर्ववर्ती उदात्त इकार तथा परवर्ती अनुदात्त इकार की परस्पर सन्धि होने पर निष्पन्न स्वरित प्रश्लिष्ट कहलाता है।[1] कात्यायनी शिक्षा में भी प्रश्लिष्ट स्वरित-विषयक इसी तथ्य का उद्घाटन किया गया है।[2]

प्रातिशाख्यों में भी इस स्वरित का विधान उपलब्ध होता है। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में प्रश्लिष्टस्वरित के विषय में आचार्य शाकल्य का मत प्रस्तुत किया गया है। उनके अनुसार भी उदात्त इकार तथा अनुदात्त इकार की प्रश्लिष्ट सन्धि के परिणाम स्वरूप दीर्घ ईकार होने पर स्वरित होता है; यही स्वरित प्रश्लिष्ट-स्वरित कहलाता है।[3] तै० प्रा० के अनुसार ह्रस्व उकारों के स्थान पर दीर्घभाव

---

1. उच्चः पूर्वो परो नीचः एकारोऽन्योऽन्यसङ्गतः।
प्रश्लिष्टः स स्वरो ज्ञेयः स्रुचीवाभीन्धतां यथा ॥ (व० प्र० शि० 63)
2. एकीभूताविकारौ वेदुदात्तस्वरितौ पदे।
एकस्मिन्नेव तौ स्वार्यौ दीर्घपूर्वे तयोः परम् ॥ (कात्यायनी शि० 6)
3. इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च।
उदात्तपूर्वरूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत् ॥ (ऋ० प्रा० 3/13)

ऊकार होने पर निष्पन्न स्वरित प्रश्लिष्ट कहलाता है।[1] तात्पर्य यह है कि पदान्त उदात्त उकार तथा पदादि अनुदात्त उकार की दीर्घभाव सन्धि के परिणाम-स्वरूप ऊकार हो जाने पर दोनों (पूर्ववर्ती उदात्त तथा परवर्ती अनुदात्त) स्वरों के स्थान पर स्दरित हो जाता है वह स्वरित प्रश्लिष्टस्वरित कहलाता है, जैसे—सु+उद्गाता=सूद्गाता। वा० प्रा० तथा च० अ० के अनुसार दो ह्रस्व इकारों का दीर्घत्व (ईकारभाव) होने पर निष्पन्न स्वरित प्रश्लिष्टस्वरित कहलाता है।[2]

प्रा०प्रा०शि० में भी वा० प्रा० के विधान को उद्धृत किया गया है[3] तथा उसकी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। उसके अनुसार उदात्त ह्रस्व इकार के बाद में अनुदात्त ह्रस्व इकार की प्रश्लिष्ट सन्धि होने पर आदिष्ट दीर्घ स्वर स्वरित हो जाता है। वह स्वरित प्रश्लिष्टस्वरित कहलाता हैं।[4] स्वराङ्कुशशिक्षा में भी इसी तथ्य का निरूपण किया गया है।[5]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रश्लिष्टस्वरित वह स्वरित है जो पूर्ववर्ती उदात्त इकार तथा परवर्ती अनुदात्त इकार की दीर्घभाव सन्धि के परिणामस्वरूब प्राप्त दोनों स्वरों के स्थान पर होता है, किन्तु तै० प्रा० का विधान इससे पृथक् है उमके अनुसार दो ह्रस्व उदात्त तथा अनुदात्त स्वरों की दीर्घभाव सन्धि के परिणामस्वरूप निष्पन्न स्वरित प्रश्लिष्ट होता है। शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में उदात्त तथा अनुदात्त दो इकारों की दीर्घभाव सन्धि के परिणामस्वरूप निष्पन्न स्वरित को ही प्रश्लिष्टस्वरित कहा गया है।

उदात्तपूर्वस्वरित

एकपद में अथवा पृथक्-पृथक् पदों में जब पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है तो उस स्वरित को उदात्तपूर्वस्वरित कहा

1. ऊभावे प्रश्लिष्टः। (तै०प्रा० 20/5)
2. इवर्णं उभयतो ह्रस्वः प्रश्लिष्टः। (वा०/प्रा० 1/116)
3. इवर्णं उभयतो ह्रस्वः प्रश्लिष्टः। (प्रा०प्र०शि० 12)
4. ह्रस्व इकार उदात्तः परश्च ह्रस्व इकारोऽनुदात्तस्तयोः प्रश्लिष्टे प्रश्लिष्टस्वरो भवति। (प्रा०प्र०शि० 12 पर व्याख्या)
5. इकारः उच्चः पूर्वस्मिन्परस्मिन्निति यतः सः च।
प्रश्लिष्टमाहुराचार्याः स्वरवर्णविदस्तया॥
(स्वराङ्कुशशिक्षा 6)

जाता है। इसे सामान्य स्वरित भी कहा जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसे आश्रित या परतन्त्र स्वरित भी कहा है क्योंकि इसका स्वरित पूर्ववती तथा परवर्ती उदात्त पर आश्रित होता हैं तथा उसी के अनुसार अपना रूप धारण करता है। जिस प्रकार राजा का नौकर उसके अधीन रहता है और उसी की इच्छानुसार कार्य करता है। उसी प्रकार यह स्वरित पूर्ववर्ती उदात्त के अधीन रहता है। यदि इस स्वरित से पूर्व में उदात्त न हो तो इसकी भी सत्ता नहीं होती है। जैसे – सः+इधानः=स इंधानः। यहाँ इ का जो स्वरितत्त्व है वह पूर्वर्यर्ती "स" के उदात्त पर आश्रित हैं। यदि "सः" उदात्त नहीं होता तो "इ" स्वरित न होकर अनुदात्त ही रहता। जिस प्रकार किसी नये राजा के आने पर पूर्ववर्ती राजा के नौकर उस आने वाले राजा के सामने अपना मूलरूप ही प्रस्तुत करते हैं उसी प्रकार यह स्वरित भी बाद में उदात्त होने पर अपना पूर्वरूप स्वरितत्त्व धर्म को छोड़कर मूलरूप (अनुदात्त) में ही रहता है।

वस्तुतः उदात्तपूर्वस्वरित मूलतः अनुदात्त ही होता है। वह पूर्ववर्ती अनुदात्त के प्रभाव से स्वरित हो जाता है। ऋ०प्रा० में कहा गया है कि उदात्तपूर्व (उदात्त है पूर्व में जिसके ऐसा) अनुदात्त स्वरित हो जाता है।[1] तै०प्रा० के अनुसार उदात्त से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है।[2] वा०प्रा० में भी इसी तथ्य का उद्घाटन किया गया है।[3] पाणिनीय व्याकरण में भी उदात्त से परवर्ती अनुदात्त के स्वरित होने का विधान किया गया है।[4] उदात्तपूर्वस्वरित का स्वरूप बतलाते हुए गार्ग्यगोपालयज्वा का कथन है कि उदात्त गुण वाले स्वर से परवर्ती अनुदात्त गुणवाला स्वर स्वरित गुण वाले आदेश को प्राप्त करता है। जैसे—(1) अनमीवा। अयक्ष्माः (प०पा०)=अनमीवा अंयक्ष्माः (सं०पा०)। यहाँ उदात्त आकार से परवर्ती अनुदात्त अकार स्वरित हो गया है। (2) प्र उगंम् (प०पा०) =प्रउंगम् (सं०पा०)। यहाँ भी उदात्त अकार से परवर्ती अनुदात्त उकार स्वरित हो गया है। यहाँ सन्देह होता है कि प्रउगम् में जो स्वरित है वह सामान्य स्वरित नहीं है अपितु स्वाभाविक स्वरित है।[5] क्योंकि यह स्वरित पदपाठ में भी विद्यमान

1. उदात्तपूर्वस्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम्। (ऋ०प्रा० 3/7)
2. उदात्तात्परोऽनुदात्तः स्वरितम्। (तै०प्रा० 14/29)
3. उदात्ताच्चानुदात्तं स्वरितम्। (वा०प्रा० 4/35)
4. उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितम्। (पा०व्या० 8/4/66)
5. उदात्तगुणात्स्वरात्परोऽनुदात्तगुणः स्वरितगुणमादेशमनुते यथा अनमीवा अयक्ष्मा प्रउगमुक्थम्। ननु प्रउगमुक्थमित्यादौ स्वाभाविक स्वरितः। (तै०प्रा० 14/29 पर वै०आ०)

है। इस सन्देह का निराकरण करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि नित्यस्वरित ही स्वाभाविक स्वरित होता है, अन्य स्वरित नैमित्तिक स्वरित होता है। जिस प्रकार अनमीवा अयक्ष्मा में उदात्त स्वर स्वरित का निमित्त है और जिस प्रकार पितृणाम्। सदनम् (पदपाठ)=पितृणां सदनम् (सं०पा०) इत्यादि में नकार णकार की प्रकृति है। ऋकार उसका निमित्त है, वह विधि से ही ज्ञात होता है उसी प्रकार यहाँ भी वर्णसंहिता के अधिकार में विधान होने से समानपद में स्थित भी उदात्त से परवर्ती स्वरित प्रकृति से अनुदात्त है तथा उसके स्वरितत्त्व का निमित्त पूर्ववर्ती अनुदात्त है। मूलशास्त्र (व्याकरण) में कहा गया है कि एकपद में एक वर्ण को छोड़कर शेष वर्ण अनुदात्त होते हैं। स्वरसम्पत् नामक ग्रन्थ में इसका अर्थ बतलाते हुए वैदिकाभरणकार ने कहा है कि उदात्तयुक्त पद में उदात्त से अन्य सभी अक्षर प्रकृति से अनुदात्त होते हैं। निरुदात्त पद में तो स्वरित से अन्य सभी अक्षर प्रकृति से अनुदात्त होते हैं।[1]

कात्यायनी शिक्षा में विधान किया गया है कि संहितापाठ तथा पदपाठ में उदात्त के बाद में आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है यदि उस अनुदात्त के बाद में उदात्त अथवा स्वरित न हो। तात्पर्य यह है कि उदात्त के बाद में विद्यमान अनुदात्त स्वरित हो जाता है किन्तु उस अनुदात्त के बाद में यदि उदात्त अथवा स्वरित हो तो वह अनुदात्त स्वरित नहीं होता है। स्वरित-विषयक यह विधान पदपाठ तथा संहितापाठ दोनों में होता है।

इस प्रकार उदात्तपूर्व स्वरित मूलतः अनुदात्त ही होता है। पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से अनुदात्त स्वरित में परिवर्तित हो जाता है। पूर्ववर्ती उदात्त का प्रभाव

---

1. नित्य एव स्वाभाविकस्वरितः अन्ये स्वरिताः नैमित्तिकाः। यथा अनमीवा अयक्ष्मा इत्यत्र पूर्वं उदात्तो निमित्तं स्वरितस्य। एवं प्रउगमुक्थम् इत्यत्रापि अनुदात्तस्तु प्रकृत्या तथा पितृणां सदनम् इत्यादिषु नकारः प्रकृति तस्य ऋकारादिनिमित्तकं णत्वमिति विधित एवावगम्यते, एवमिहापि वर्णसंहिताधिकारे विधानात् समानपदस्थादपि उदात्तात्परस्वरितः प्रकृत्यानुदात्तः तस्यपूर्वोदात्तनिमित्तकं स्वरितत्वमिति वेदितव्यम्। तदुक्तं मूलशास्त्रे अनुदात्तं पदमेकवर्जम् इति। अस्यार्थोऽस्माभिरः स्वरसम्पदि विवृतः—

नीचं प्रकृत्या सकलमुदात्तादन्यदक्षरम्।
सोदात्ते निरुदात्ते तु पदे यत्स्वरितस्तथा इति॥
(तै०प्रा० 14/29 पर वै० भा०)

परिस्थितिवशात् समाप्त हो जाने पर वह स्वरित अपने मूलभूत अनुदात्त में ही रह जाता है। इसके अन्तर्गत तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, पादवृत्त तथा ताथाभाव्य—इन चार स्वरितों का अध्याहार होता है। इतका विवेचन इस प्रकार है—

तैरोव्यञ्जनस्वरित

"तिर: अन्तर्धानम् तस्य भाव: तैरम्"। तैरं व्यञ्जनं यस्य स: तैरोव्यञ्जन: स्वरित:"—इस व्युत्पत्ति के अनुसार दो स्वरों के अन्तर्धायक व्यञ्जन को तैरो-व्यञ्जन कहा जाता है। इस अन्तर्धायक व्यञ्जन के रहते हुए भी पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त स्वर स्वरित हो जाता है। इस प्रकार के स्वरित को तैरोव्यञ्जनस्वरित कहा जाता है। तैरोव्यञ्जन की व्याख्या करते हुए भाष्यकार उवट का कथन है कि जिसमें व्यञ्जन का अन्तर्धान हो वह तैरोव्यञ्जन कहा जाता है।[1] वैदिकाभरणकार के अनुसार तैरोव्यञ्जन-अन्वर्थ संज्ञा है।[2] इससे स्पष्ट है कि जहाँ व्यञ्जन तिरोहित हो जाते हैं, छिप जाते हैं, अन्तर्हित हो जाते हैं—वहाँ तैरोव्यञ्जन होता है। वस्तुत: व्यञ्जन विद्यमान होते हैं किन्तु स्वर की दृष्टि से उनका व्यवधान नहीं माना जाता है। उनकी विद्यमानता का उदात्तादि स्वरधर्मों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

सोमयार्य के अनुसार एकपद में उदात्त के बाद में अनुदात्त स्वरित हो जाता है जो तैरोव्यञ्जन कहलाता है।[3] उन्होंने तैरोव्यञ्जन स्वरित के उदाहरण में प्रउगम् को निर्दिष्ट किया है। इससे स्पष्ट होता है कि इनके मत में व्यञ्जन का व्यवधान हो या न हो एकपद में विद्यमान उदात्तपूर्व स्वरित तैरोव्यञ्जन कहलाता है। वा० प्रा० के अनुसार एकपद या अलग पद में व्यञ्जन का व्यवधान होने पर पूर्ववर्ती उदात्त के कारण परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है।[4] यह स्वरित तैरोव्यञ्जन कहलाता है। इसी विधान को प्रा० प्र० शि० में भी उद्धृत करके उसकी व्याख्या की गयी है जिससे यही तथ्य स्पष्ट होता है।[5] स्वराङ्-

---

1. तिरोऽन्तर्धानं यस्येति तैरोव्यञ्जन:।
(ऋ० प्रा० 3/18 पर उवट भाष्य)
2. तैरोव्यञ्जन इत्यन्वर्थसंज्ञा। (तै० प्रा० 20/7 पर वै० आ० भाष्य)
3. तस्मादेकपदस्थोदात्तपूर्वो य: स्वरित: स तैरोव्यञ्जनो वेदितव्य:।.........
प्रउगम् तं त्वष्ट्रा धत्त। तै० प्रा० 20/7 पर त्रिभाष्यरत्न)
4. स्वरो व्यञ्जनयुतस्तैरोव्यञ्जन:। (वा० प्रा० 1/117, प्रा० प्र० शि० 13)
5. उदात्तपूर्वस्मात् परो य: स्वरो व्यञ्जनयुत: स तैरोव्यञ्जनसंज्ञकस्वरो भवति।
(प्रा० प्र० शि० 13 व्याख्या)

कुशशिक्षा में भी कहा गया है कि संहिता में उदात्तपूर्व में होने पर जब व्यञ्जन व्यवहित परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है तो वह स्वरित तैरोव्यञ्जन कहलाता है।[1]

तैरोव्यञ्जनस्वरित का विधान करते हुए या० शि० में कहा गया है कि एकपद में अथवा अलग-अलग पदों में विद्यमान उदात्तस्वरवर्ण से परवर्ती अनुदात्तस्वरवर्ण व्यञ्जन से युक्त होने पर भी स्वरित हो जाता है। वह स्वरित तैरोव्यञ्जन कहलाता है।[2] तात्पर्य यह है कि यदि पूर्ववर्ती स्वरवर्ण उदात्त हो तथा उसके बाद में व्यञ्जनव्यवहित स्वरवर्ण अनुदात्तस्वरित हो जाता है। वह स्वरित तैरोव्यञ्जनस्वरित कहलाता है। तैरोव्यञ्जनस्वरित एकपद में उदात्त के प्रभाव से होता है तथा अलग-अलग पदों में भी। यदि एक ही पद में उदात्त के बाद व्यञ्जनव्यवहित अनुदात्त है तो वह स्वरित हो जाता है अथवा अलग-अलग पदों में से पूर्ववर्ती पद का अन्तिम स्वर वर्ण (= पदान्त स्वर वर्ण) के उदात्त होने तथा परवर्ती पद का व्यञ्जन-व्यवहित आदि स्वरवर्ण (= व्यञ्जन व्यवहित पदादि स्वरवर्ण) अनुदात्त हो तो वह भी अनुदात्त स्वरित हो जाता है। जैसे—(1) एकपद में—ईळे (वा० सं० 8/33)। यहाँ एक पद ईळे में पूर्ववर्ती ईकार उदात्त है तथा इस उदात्त स्वर के बाद ळकार से व्यवहित एकार अनुदात्त है जो पूर्ववर्ती उदात्त स्वर के प्रभाव से व्यञ्जन का व्यवधान होने पर भी स्वरित हो गया है। (2) अलग-अलग पदों में—देवः (पा० पा०) = देवो वः (वा० सं० 1/1) यहाँ दो पद देवः तथा वः अलग-अलग है। जिसमें देवः का अन्तिम स्वर वर्ण अकार उदात्त है तथा उससे परवर्ती पद "वः" का वकारव्यवहित अकार अनुदात्त है जो स्वरित हो गया है।

स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्टशिक्षा में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि संहिता में व्यञ्जनव्यवहित उदात्तपूर्वस्वरित तैरोव्यञ्जन कहलाता है।[3] व० प्र० शि० के अनुसार उदात्तपूर्व में होने पर व्यञ्जन से युक्त

---

1. उदात्तपूर्वे यत्किञ्चिच्छन्दसि स्वरितं भवेत्।
एष सर्वं बहुस्वारस्तैरोव्यञ्जन एव च॥ (स्वराङ्कुशशिक्षा–10)
2. उदात्तपूर्वः स्वरितो व्यञ्जनेन युतो यदि।
एष सर्वो बहुस्वारः तैरोव्यञ्जन उच्यते॥ (या० शि० 1/82)
3. स्वरितं छन्दसि पदं यत्किञ्चिदपि दृश्यते।
उदात्तपूर्वः तत्सर्वन्तैरोव्यञ्जन उच्यते॥ (स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्ट शि०)

अनुदात्त स्वर वर्ण होने पर वह अनुदात्त स्वरित हो जाता है। यह स्वरित तैरोव्यञ्जन कहा जाता है।[1]

इस प्रकार तैरोव्यञ्जनस्वरित वह स्वरित है जो पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से व्यञ्जन का व्यवधान होने पर परवर्ती अनुदात्त के स्थान पर प्राप्त होता है। तैरोव्यञ्जनस्वरित एक ही पद में होता है अथवा अलग-अलग पदों में भी, इसका विवेचन प्रातिशाख्य तथा शिक्षाग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता है। किन्तु भाष्यकार उवट ने ऋ॰ प्रा॰ तथा वा॰ प्रा॰ दोनों के भाष्यों में जो उदाहरण दिया है उससे स्पष्ट होता है कि तैरोव्यञ्जनस्वरित उदात्त से परवर्ती व्यञ्जनव्यवहित स्थान पर होता है। वह अनुदात्त उसी पद में हो या परवर्ती पद में। गार्ग्यगोपालयज्वा तथा सोमयार्य ने अपने भाष्य में स्पष्ट निर्देश किया है कि यह स्वरित एक पद में ही होता है।[2] यहाँ उल्लेखनीय है कि तै॰ प्रा॰ में प्रातिहतस्वरित का विधान किया गया है। उसके अनुसार दो स्वतन्त्र पदों में जब पूर्ववर्ती पद अन्तोदात्त तथा परवर्ती पद आद्युदात्त हो तथा उस अनुदात्त के बाद में उदात्त अथवा स्वरित न हो तो वह पदादि अनुदात्त पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से स्वरित हो जाता है। वह स्वरित प्रातिहतस्वरित कहलाता है।[3] इसीलिए इसके भाष्यकारों ने तैरोव्यञ्जन की सत्ता एक ही पद में स्वीकार की है, अलग-अलग पदों में प्रातिहत स्वरित होता है यदि दो पदों में भी तैरोव्यञ्जन स्वरित की सत्ता मान लें तो प्रातिहत स्वरित का विधान व्यर्थ हो जायेगा।

ऋ॰ प्रा॰ तथा वा॰ प्रा॰ में प्रातिहतस्वरित का विधान न होने से उवट ने एकपद तथा नानापद—दोनों में तैरोव्यञ्जनस्वरित की सत्ता स्वीकार की है। शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं में भी प्रातिहतस्वरित का विधान नहीं हुआ है।

1. उदात्तपूर्वो यत्र स्यान्नीचो व्यञ्जनसंयुतः।
स तैरोव्यञ्जन इति स्वरो भवति तद्यथा ।। (व॰ प्र॰ शि॰ 64)
2. तैरोव्यञ्जन इत्यन्वर्थसंज्ञा। पदशब्दोऽत्रानुवर्तते। पदे समानपदे उदात्तपूर्वको व्यञ्जनव्यवहितो यस्स्वरितः स तैरौव्यञ्जनसंज्ञो भवति।
(तै॰ प्रा॰ 20/7 वै॰ आ॰ भा॰)
उदात्तपूर्वाधिकारे सति पुनरत्रकत्थनादेकपदस्थोदात्तविशेषावगम्यते। तस्मादेकपदस्थोदात्तपूर्वो यः स्वरितः स तैंरोव्यञ्जनो वेदितव्यः।
(तै॰ प्रा॰ 20/7 त्रि॰ र॰)
3. अपि चेन्नानापदस्थमुदात्तमथ चेत्सांहितेन स्वर्यते सः प्रातिहतः।
(तै॰ प्रा॰ 20/3)

अतः स्पष्ट है कि शुक्लयजुर्वेद के शिक्षाकारों को भी तैरोव्यञ्जनस्वरित की सत्ता एकपद तथा नानापद में मान्य है। इस प्रकार एकपदस्थ अथवा नानापदस्थ पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से व्यञ्जनव्यवहित परवर्ती अनुदात्त के स्थान पर प्राप्त स्वरित तैरोव्यञ्जन कहलाता है।

तैरोविराम

इस स्वरित का विवेचन केवल शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं एवं प्रातिशाख्य में उपलब्ध होता है। वा० प्रा० के अनुसार अवगृह्य पद का पूर्वपद (अवग्रह) यदि अन्तोदात्त हो तो उसके प्रभाव से परवर्ती पद का पदादि अनुदात्त स्वरित हो जाता है। इस स्वरित को तैरोविरामस्वरित कहा जाता है।[1] अर्थात् समस्त-पद में अब पूर्वपद का पदान्त उदात्त हो और उत्तरवर्ती पद का पदादि अनुदात्त हो तो संहिता में वह पदादि अनुदात्त स्वरित हो जाता है। वह स्वरित तैरो-विराम स्वरित होता है। वा० प्रा० के इसी विधान को प्रा० प्र० शिक्षा में उद्धृत करके उसकी व्याख्या की गयी है।[2] इस विषय में वहाँ या० शि० के भी मत का उल्लेख हुआ है। या० शि० के अनुसार अवग्रह से परवर्ती अक्षर स्वरित हो तो वह अवग्रह से परवर्ती स्वरित तैरोविराम कहलाता है।

तैरोविराम का शाब्दिक अर्थ है—विराम (=अवग्रह) का व्यवधान। वस्तुतः संहितापाठ के कतिपय पदों को पदपाठ में अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है। ऐसे पदों का विवेचन पदपाठ के सन्दर्भ में किया गया है। पदपाठ में पृथक्कृत पदों के उच्चारण के मध्य में थोड़ा विराम होता है। इस विराम को प्रदर्शित करने हेतु पदपाठ (ऽ) चिह्न का प्रयोग किया जाता है। पदपाठ में विभाजित होने वाले ऐसे पदों को अवगृह्य पद कहा जाता है। जब अवगृह्य पद का पृथक्करण होता है तो वह पद दो विभागों में बँट जाता है। इस प्रकार उस पद के दो विभाग हो जाते हैं—पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती पद।

यह अवग्रहरूप व्यवधान स्वर के विषय में बाधक नहीं होता। जैसा कि वा० प्रा० में कहा गया है कि स्वरविधि के विषय में अवग्रह संहिता के समान होता है यदि परवर्ती पद के सभी स्वर अनुदात्त हों। इतिकरण में अवग्रह द्वारा

---

1. उदवग्रहस्तैरोविरामः। (वा० प्रा० 1/118, प्रा० प्र० शि०)
2. अवग्रहात्परो यस्तु स्वरितः स्यादनन्तरम्।
   तैरोविरामं तं विद्यादुदात्तो यद्यवग्रहः॥
   अवग्रहात्परं यत्र स्वरितं स्यादनन्तरम्।
   तैरोविरामं जानीयात् प्रजापतेर्निदर्शनम्॥ (या० शि० 1/83, 1/9)

पदों के विभक्त हो जाने पर भी उनका स्वर संहिता के समान ही होता है।[1] इसी तथ्य की पुष्टिकरण भाष्यकार उवट ने भी किया है।[2] इस विभक्त पद का पूर्ववर्ती भाग पदान्त में उदात्त स्वर वाला होता है तथा उत्तरवर्ती भाग पदादि में अनुदात्त स्वर वाला होता है तो पूर्ववर्ती उदात्त स्वर के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है। इस प्रकार पूर्ववर्ती उदात्त परवर्ती स्वरित का निमित्त होता है। इस पूर्ववर्ती निमित्त तथा परवर्ती निमित्तिन् के मध्य विराम (उच्चारण काल, अवग्रह) का व्यवधान होता है। इस व्यवधान के होने पर भी पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है। अतः इस विराम के व्यवधान के कारण इस स्वरित को तैरोविरामस्वरित कहा जाता है।

उल्लेखनीय है कि यह अवग्रहरूप विराम पदपाठ में ही होता है। संहिता-पाठ में यह विराम नहीं होता। इसलिए इस स्वरित की सत्ता पदपाठ में ही होती है। संहितापाठ में इस स्वरित का अन्तर्भाव तैरोव्यञ्जनस्वरित में ही हो जाता है। इस बात का स्पष्ट उल्लेख व० प्र० शि० में किया गया है। इसके अनुसार जहाँ अवगृह्य पद के पूर्वपद (अवग्रह) के उदात्त होने पर परवर्ती अनुदात्त स्वरित होता है, वह तैरोविरामस्वरित कहलाता है। यह स्वरित पदपाठ में होता है। संहितापाठ में वह तैरोव्यञ्जन ही होता है।[3] वा० प्रा० के अनुसार यदि अवगृह्य पद का पूर्वपद अन्तोदात्त हो तो उसके प्रभाव से उत्तरपद का पदादि अनुदात्त स्वरित हो जाता है। उस स्वरित को तैरोविरामस्वरित कहा जाता है।[4] वा० प्रा० के विधान को प्रा० प्र० शि० में उद्धृत करके उसकी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। उससे भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।[5] स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्ट-

---

1. संहितावदवग्रहः स्वरविधौ परं च सर्वं चेदनुदात्तम्। (वा० प्रा० 1/148)
2. अवग्रहः स्वरविधौ स्वरचिन्तायां संहितावत्स्वरं लभते। इतिकरणेन सह संधौ तस्मिन् च सावग्रहे पदे द्वे भवतः। तत्र पूर्वपदं तावदितिकरणेन सह संधौ संहितावत्स्वरं लभते। परं च अवग्रहात्परं पदं संहितावत्स्वरं लभते।
(वा० प्रा० 1/148 पर उवट)
3. उदात्तोऽवग्रहो यत्र स तु तैरोविरामकः।
स्वरो ज्ञेयः पदेऽन्यत्र तैरोव्यञ्जनमेव तु। (व०प्रा०शि० 63 उत्तरार्द्ध 66 पू०)
4. उदवग्रहस्तैरोविरामः। (वा० प्रा० 1/118, प्रा० प्र० शि० 14)
5. उदात्तावग्रहस्तैरोविरामसंज्ञकः स्यात्। (प्रा० प्र० शि० 14, व्याख्या)

शिक्षा में इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।[1] स्वराङ्कुश शिक्षा के अनुसार भी अवग्रह के बाद में जो स्वरित होता है वह तैरोविराम कहलाता है।[2]

इससे स्पष्ट होता है कि तैरोविरामस्वरित वह स्वरित है जो पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से होता है तथा उन दोनों (उदात्त एवम् स्वरित) के बीच में अवग्रह का व्यवधान होता है। यह व्यवधान उदात्त के प्रभाव से होने वाले स्वरित का बाधक नहीं होता। यह स्वरित पदपाठ में ही होता है। संहितपाठ में तैरोव्यञ्जन ही रहता है, जैसे—गोपताविति गौ-पतौ (प० पा०)=गोपतौ (वा० सं० /1)। यहाँ गोपतौ पद का पदपाठ में पृथक्करण होता है। इस प्रकार इसके बीच में अवग्रह का व्यवधान होता है। अर्थात् गो तथा पतौ का उच्चारण व्यवधान (अवग्रह) सहित किया जाता है। गोपतौ में गो उदात्त युक्त तथा प अनुदात्त युक्त स्वर है। संहिता होते पर पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है। पदपाठ में अवग्रह द्वारा पृथक्करण होने पर भी पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से परवर्ती जनुदात्त स्वरित हो जाता है। अतः पदपाठ में यह स्वरित तैरोविरामस्वरित होता है।

पादवृत्तस्वरित

पादवृत्तस्वरित में निमित्त तथा निमित्तिन् के बीच विवृति का व्यवधान होता है। वस्तुतः कहीं-कहीं दो स्वरों के विद्यमान होने पर भी सन्धिविषयक कार्य नहीं होता। वे दोनों प्रकृतिभाव से रहते हैं। इस अवस्था में दोनों का उच्चारण करते समय बीच में थोड़ा रुकना पड़ता है। इस प्रकार दोनों के मध्य में उच्चारणकाल का थोड़ा सा व्यवधान होता है। यह उच्चारणकाल विवृत्ति कहलाता है। इस विवृत्ति से व्यवधान होने पर भी पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है। इस स्वरित को पादवृत्तस्वरित कहा जाता है।

या० शि० के अनुसार उदात्त स्वर तथा स्वरित के बीच में जहाँ विवृत्ति दिखलायी पड़ती है वह स्वरित पादवृत्तस्वरित होता है।[3] तात्पर्य यह है कि

1. अवग्रह उदात्तश्चेत्स्वरितः स्यात्ततः परम् ॥
   अवग्रहात्परं यस्तु तं विद्यात्प्रथमं स्वरम् ।
   (स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्ट शि०, 31 उ०, 40 पू०)
2. अवग्रहात्परं यत्र स्वरितस्यादनन्तरः ।
   तैरोविरामं तं विद्यादुदात्तौ यद्यवग्रहः ॥ (स्वराङ्कुश शि० 11)
3. स्वरे च स्वरिते चैव विवृत्तिर्यत्र दृश्यते ।
   पादवृत्तौ भवेत्स्वारः स्वित्र आदित्य दर्शनम् ॥ (या० शि० 1/88)

विवृत्ति के स्थल पर यदि विवृत्ति से पूर्व स्वर उदात्त तथा परवर्ती स्वर अनुदात्त हो तो पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है। यही स्वरित पादवृत्तस्वरित कहलाता है। जैसे—श्विुत्र आदित्य यहाँ पदान्त अकार तथा पदादि आकार के होने पर दोनों के बीच सन्धि के परि- णामस्वरूप आकार की प्राप्ति होनी चाहिए किन्तु सन्धि न होकर दोनों प्रकृतिभाव से विद्यमान हैं। अतः दोनों स्वरों के बीच विवृत्ति है। इस विवृत्ति के स्थल पर विवृत्ति से पूर्ववर्ती अकार उदात्त तथा परवर्ती आकार अनुदात्त है। यहाँ पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो गया है। अतः यह स्वरित पादवृत्तस्वरित है। वा० प्रा० के अनुसार विवृत्ति के लक्षण से युक्त स्वरित पादवृत्त कहलाता है।[1] वा० प्रा० के इस विधान को प्रा० प्र० शि० में उद्धृत किया गया है तथा इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि स्वरों के बीच के अन्तर (व्यवधान) को विवृत्ति कहते हैं। उसके लक्ष्य से युक्त अर्थात् विवृत्तिलक्षण वाला स्वरित पादवृत्तस्वरित होता है।[2] तात्पर्य यह है कि विवृत्ति का व्यवधान होने पर भी पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त के स्थान पर प्राप्त स्वरित पादवृत्तस्वरित होता है। व० प्र० शि० के अनुसार दो स्वरों के मध्य में जहाँ विवृत्ति होती हैं वहाँ स्वरित पादवृत्त कहलाता है।[3] स्व० भ०ल० प० शि० के अनुसार भी विवृत्ति के व्यवधान होने पर पूर्व उदात्त के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त के स्थान पर होने वाला स्वरित पादवृत्त कहलाता है।[4] स्वराङ्कुश शि० में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया हैं।[5]

ऋ० प्रा० में पादवृत्त स्वरित के लिए वैवृत संज्ञा प्रयुक्त है। उसके अनुसार उदात्तपूर्व अनुदात्त विवृत्ति या व्यञ्जन से व्यवहित होने पर स्वरित हो

---

1. विवृत्तिलक्षणः पादवृत्तः। (वा० प्र० 1/119, प्रा० प्र० शि० 15)
2. स्वरयोरनन्तरं विवृत्तिरुच्यते। तथा लक्ष्यत इति विवृत्तिलक्षणः स पादवृत्त-संज्ञो भवति। विवृत्या व्यवहितः इत्यर्थः (प्रा० प्र० शि० 15, व्याख्या)
3. स्वरयोरन्तरे यत्र विवृत्तिर्यदि दृश्यते।
   स पादवृत्त इत्याख्यकः ईमरे निदर्शनम् ॥ (व० प्र० शि० 67)
4. विवृत्या दृश्यते यत्र स्वरं च स्वरिते पदे।
   स स्वरः पादवृत्तः स्यात्पुत्र इधे निदर्शनम् ॥ (स्व० भ०ल०प० शि० 9)
5. स्वरे चेत्स्वरितं यत्र विवृत्या तत्र संयुतम्।
   एतत्तु पादवृत्तस्य लक्षणं शास्त्रनिश्चितम् ॥ (स्वराङ्कुश शि० 12)

जाता है। यदि उस अनुदात्त के बाद में उदात्त अथवा स्वरित न हो।[1] तै० प्रा० के अनुसार दो पदों के मध्य होने वाली विवृत्ति में पादवृत्त स्वरित होता है।[2]

उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट होता है कि पादवृत्तस्वरित वह स्वरित है जो विवृत्ति के पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त के स्थान पर होता है। इस स्वरित में निमित्त तथा निमित्तिन् के बीच में विवृत्ति का व्यवधान होता है। यह विवृत्ति उदात्त के बाद में आने वाले अनुदात्त के स्थान पर होने वाले स्वरित के लिए बाधक नहीं होता है।

ताथाभाव्यस्वरित

इस स्वरित का विधान केवल शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्य में उपलब्ध होता है। या० शि० के अनुसार दो उदात्तों वाले अवग्रह्य (समस्त) पद में दो उदात्तों के मध्य में यदि पूर्वपदान्तीय अनुदात्त हो तो वह स्वरित हो जाता है, जो ताथाभाव्यसंज्ञक होता है।[3] यह स्वरित पदपाठ में होता है क्योंकि पदपाठ में अवगृह्य पद का पृथक्करण होता है। इसलिए पूर्वपदान्तीय अनुदात्त पर उत्तरपदाद्युदात्त का प्रभाव नहीं पड़ता जिससे पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से वह अनुदात्त स्वरित हो जाता है। संहिता में उत्तरपदाद्युदात्त का प्रभाव पूर्वपदान्तीय अनुदात्त पर पड़ता है जिससे वह अनुदात्त स्वरित नहीं होता अपितु अपने मूलरूप में अनुदात्त ही रह जाता है। जैसे—तनूनप्त्र इति तनूऽनप्त्रे (प०पा०) = तनूनप्त्रे (वा० सं० 5/5) यहाँ तनूनप्त्रे—इस अवगृह्य पद में तकार तथा नकार का स्वर उदात्त है, मध्य में पूर्वपदान्तीय नू का उकार अनुदात्त है। पदपाठ में तनू पद से नप्त्रे पद का पृथक्करण होता है जिससे पूर्वपदान्तीय नू का अनुदात्त पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से स्वरित हो गया है। यह ताथाभाव्यस्वरित है किन्तु संहितापाठ में वह मूलरूप अनुदात्त ही रहता है क्योंकि उसके बाद में उदात्त रहता है जिसका प्रभाव उस पर पड़ता है। वा० प्रा० के अनुसार भी दो

---

1. उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्या व्यञ्जनेन वा।
   स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्॥
   वैवृततैरोव्यञ्जनौ…स्वारानाचक्षते पृथक्॥ ऋ० प्रा० 3/17, 18
2. द्रष्टव्य—तै० प्रा० 14/29
3. उदात्ताक्षरयोर्मध्ये भवेन्नीचस्त्ववग्रहः।
   ताथाभाव्यों भवेत्स्वारस्तनूनप्त्रे निदर्शनम्॥
   (या० शि० 1/85)

उदात्तों के बीच में विद्यमान अनुदात्त स्वरित हो जाता है यदि वह अनुदात्त सावग्रह पद के पूर्वपद के अन्त में हो।[1] प्रा० प्र० शि० में भी वा० प्रा० के ताथाभाव्य स्वरित विषयक इस सूत्र को उद्धृत करके उसकी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।[2] उसमें भी कहा गया है कि पहले तथा बाद में उदात्त होने पर समस्तपद के पूर्वपद के अन्त में विद्यमान अनुदात्त स्वरित हो जाता है जो ताथाभाव्य कहलाता है।[3] व० प्र० शि० के अनुसार भी जब अवग्रह (सावग्रहपद का पूर्वपद) के अन्त में विद्यमान अनुदात्त दो उदात्तों के मध्य में होता है तो वह स्वरित हो जाता है, यह ताथाभाव्य संज्ञक कम्प (होता है), स्वरित नहीं।[4]

या० शि० के अनुसार माध्यन्दिनसंहिता में ताथाभाव्यस्वरित उपलब्ध नहीं होता। इसी बात का समर्थन करते हुए भाष्यकार उवट ने भी कहा है कि स्वरितविषयक विधानों के अन्तर्गत जो ताथाभाव्य का विधान किया गया है वह अन्य आचार्यों के मतानुसार है,[5] माध्यन्दिन तथा काण्व संहिता के विषय में नहीं यह स्वरित केवल पदपाठ में होता है।

स्वरित स्वरों का बलाबल

व० प्र० शि० में उपर्युक्त स्वरित स्वरों के बलाबल का विवेचन किया गया है। इसके अनुसार अभिनिहितस्वरित सर्वाधिक तीक्ष्ण होता है। प्रश्लिष्टस्वरित अभिनिहित से थोड़ा कम तीक्ष्ण होता है। तत्पश्चात् जात्य तथा क्षैप्र मृदुतर स्वरित

---

1. उदाद्यन्तोऽन्यवग्रहस्ताथाभाव्यः। (वा० प्रा० 1/120, प्रा० प्र० शि० 16)
2. उदात्तादिरुदात्तान्तो नीचावग्रहस्ताथाभाव्यसंज्ञकः स्वरो भवति।
(प्रा० प्र० शि० 16 व्या०)
3. माध्यन्दिनविरोधी स्यात् ताथाभाव्यस्तु यः स्वरः।
स्वरो नैवात्र दृश्यते भिन्नोदात्तानुदात्तको॥ (या० शि० 1/86)
4. अवग्रहो यदा नीच उच्चयोर्मध्यतः क्वचित्।
ताथाभाव्यो भवेत्कम्पस्तनूनप्त्रे निदर्शनम्॥
(व० प्र० शि० 71)
5. यस्तु ताथाभाव्यः स्वरितानाम्मध्येपाठः, अयमन्येषामाचार्याणां मतेन।
तेषां हि मते न तनूशब्दः संहितावद्भवति। अतोऽसौ स्वरितो भवति।
तदभिप्रायेण स्वरितानां मध्येपाठः। (वा०प्रा० 1/120 पर उवटभाष्य)

है। जात्य तथा क्षैप्र से मृदुतर तैरोव्यञ्जन होता है।[1] पादवृत्तस्वरित सर्वाधिक मृदुतम होता है।[2]

स्वरित का स्वरूप

स्वरित स्वर में उदात्त तथा अनुदात्त—इन दो स्वरों का समाहार होता है। इसमें उदात्त तथा अनुदात्त के अंश का विधान करते हुए वा० प्रा० में कहा गया है कि उस स्वरित में आदि वाला अंश उदात्त होता है और वह आधी मात्रा काल वाला होता है।[3] तात्पर्य यह है कि स्वरित स्वर में आदि वाला आधी मात्रा उदात्त की तथा शेष परवर्ती मात्रा अनुदात्त की होती है। स्वराङ्कुशशिक्षा में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है किन्तु उसमें पूर्ववर्ती अर्धमात्रक उदात्त के स्थान पर उदात्ततर होने का विधान किया गया है। उसके अनुसार एकाक्षर में समाविष्ट स्वरित की पूर्ववर्ती आधी मात्रा उदात्ततर होती है।[4] परन्तु परवर्ती शेष मात्रा अनुदात्त होती है अथवा अनुदात्ततर—इसका उल्लेख नहीं मिलता।

तै० प्रा० में उदात्त तथा अनुदात्त के सम्मिश्रण स्वरित स्वर के स्वरूप के विषय में विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार उदात्त से परवर्ती स्वरित की पूर्ववर्ती आधी मात्रा उदात्ततर सुनी जाती है।[5] तात्पर्य यह है कि उदात्तपूर्व स्वरित की आदि वाली आधी मात्रा का उच्चारण उदात्त से भी ऊँचा होता है; जैसे—स इधा॒नः। यहाँ उदात्तपूर्व स्वरित की आधी मात्रा उदात्ततर उच्चारित होती है। इसके अनुसार परवर्ती शेष आधी मात्रा उदात्तसम उच्चारित होती है।[6] अर्थात् उदात्तपूर्व स्वरित का ह्रस्वार्ध काल से परवर्ती अवशिष्ट अंश उदात्त के समान उच्चारित होता है। त्रिभाष्यरत्नकार के अनुसार स्वरित का ह्रस्वार्ध काल से अवशिष्ट अंश उदात्त के समान सुनाई पड़ता है न कि उदात्त

---

1. सर्वं तीक्ष्णोऽभिनिहितः प्रश्लिष्टस्तदनन्तरम्।
ततो मृदुतरौ स्वारौ जात्यक्षैप्रावुभौ स्मृतौ॥
ततो मृदुतरो स्वारः तैरोव्यञ्जन उच्यते।
पादवृत्तो मृदुतमस्त्वेतत्स्वारबलाबलम्॥ (व० प्र० शि० 102, 103)
2. पादवृत्तो मृदुतमस्त्वेतत्स्वारबलाबलम्। (व० प्र० शि० 103, उ०)
3. तस्यादित उदात्तस्वरार्धमात्रम्। (वा० प्रा० 1|126)
4. तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा। (स्वराङ्कुशशिक्षा 17 उ०)
5. तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धमात्रं ह्रस्वम्। (तै० प्रा० 1/41)
6. उदात्तसमश्शेषः। (तै० प्रा० 1/42)

ही। सूत्र में प्रयुक्त सम से कुछ न्यूनता प्रकट होती है अन्यथा स्वरित का अभाव हो जायेगा।[1] इस प्रकार स्वरित की पूर्व आधी मात्रा उदात्ततर तथा अवशिष्ट परवर्ती अंश उदात्त से नीची ध्वनि में उच्चरित होता है। इसके अनुसार उदात्त-पूर्वस्वरित का व्यञ्जन के साथ भी पूर्ववर्ती भाग उदात्ततर तथा परवर्ती भाग उदात्तसम उच्चारित होता है।[2] स्वरित के पूर्ववर्ती आधी मात्रा को उदात्ततर उच्चारित करने तथा परवर्ती अवशिष्ट अंश के उदात्तसम उच्चारण के विषय में उनमें मतैक्य नहीं है। कतिपय आचार्यों के अनुसार स्वरित का परवर्ती अंश अनुदात्ततर उच्चारित होता है।[3] तात्पर्य यह है कि स्वरित का पूर्ववर्ती अर्धमात्राकाल उदात्ततर तथा परवर्ती अंश अनुदात्ततर उच्चारित होता है। कतिपय आचार्य परवर्ती अंश का उच्चरण अनुदात्त के समान करने के पक्षधर है।[4] कतिपय आचार्य स्वरित के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती अंश के उपर्युक्त उच्चारण की विधि से सहमत नहीं है। उनका कथन है कि स्वरित का पूर्ववर्ती अंश उदात्त तथा परवर्ती अंश अनुदात्त के समान उच्चारित होता है।[5] कतिपय आचार्यों का मत है कि सम्पूर्ण स्वरित स्वर प्रणव होता है।[6] सोमयार्य के अनुसार प्रणव शब्द स्वरित का पर्यायवाची है। स्वरित स्वर व्यञ्जन सहित प्रारम्भ से लेकर अन्त तक (सम्पूर्ण) स्वरित ही होता है।[7] तात्पर्य यह है कि स्वरित में उदात्त तथा अनुदात्त का समाहार दुग्ध जल की भाँति सभी अंशों में समान होता है। इसी तथ्य की पुष्टिकरण गार्ग्यगोपालयज्वा ने भी किया है।[8]

---

1. ह्रस्वार्धकालाच्छेष उदात्तसमो भवति न तूदात्त एव। समशब्दप्रयोगात् किञ्चिन्न्यूनत्वं प्रतीयते, अन्यथा स्वरिताभावः।
(तै० प्रा० 1/42 पर त्रि० र०)
2. सव्यञ्जनोऽपि। (तै० प्रा० 1/43)
3. अनन्तरो वा नीचैस्तराम्। (तै० प्रा० 1/44)
4. अनुदात्तसमो वा। (तै० प्रा० 1/45)
5. आदिरस्योदात्तसमश्शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः। (तै० प्रा० 1/46)
6. सर्वः प्रणवः इत्येके। (तै० प्रा० 1/47)
7. प्रणव शब्दः स्वरितपर्यायः। सव्यञ्जन एव स्वरित आदितः आरभ्य सर्वः प्रणवो भवति। (तै० प्रा० 1/47 पर वैदिकाभरण)
8. स्वरितस्वरो यं सर्वः कृत्स्न एव स्वरितो भवति। न त्वस्य आदितः कश्चिदंश उदात्तसमोऽस्तीत्येके आचार्या उपदिशन्ति।
(तै० प्रा० 1/47 पर वैदिकाभरणभाष्य)

ऋ० प्रा० में स्वरित का विधान करते हुए कहा गया है कि स्वरित की आधी मात्रा अथवा सम्पूर्ण स्वरित का आधा भाग उदात्त से उदात्ततर तथा परवर्ती अंश अनुदात्त के समान सुना जाता है।[1] अर्थात् यदि स्वरित स्वर एक मात्रिक है तो उसकी आधी मात्रा उदात्ततर तथा परवर्ती आधी मात्रा अनुदात्त के समान उच्चारित होती है। यदि वह स्वरित दो मात्राकाल वाला स्वर है तो पूर्ववर्ती एक मात्रा उदात्ततर तथा परवर्ती एकमात्रा अनुदात्त के समान उच्चारित होती है।

वा० प्रा० के भाष्यकार उवट ने भी स्वरित में आधा उदात्त तथा आधा अनुदात्त का समाहार माना है। उनका कथन है कि स्वरार्धमात्रम् का अर्थ है उस स्वरित स्वर का आधा भाग। चाहें स्वरित एक मात्राकाल वाला हो चाहे दो मात्राकाल वाला अथवा तीन मात्राकाल वाला हो— सर्वत्र उसका आधा भाग उदात्त और परवर्ती आधा भाग अनुदात्त होता है। उन्होंने स्वरित के इस पूर्ववर्ती आधे भाग उदात्त तथा परवर्ती आधे भाग अनुदात्त के समाहार को त्रपु और ताम्र के संयोग से काँस्य नामक नवीन धातु के समान माना है। जिस प्रकार त्रपु और ताम्र के संयोग से काँस्य तथा दधि और गुड़ के योग से मार्जिका नामक अन्य वस्तु की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार उदात्त और अनुदात्त के संयोग होने से स्वरित नामक भिन्न स्वर की उत्पत्ति होती है।[2]

या० शि० में भी स्वरित के स्वरूप का विधान किया गया है। उसके अनुसार संहितापाठ में एकमात्रिक अथवा द्विमात्रिक स्वरित हो तो उसका पूर्ववर्ती आधा भाग उदात्त एवम् उत्तरवर्ती आधा भाग अनुदात्त होता है।[3] इस प्रकार इस

---

1. द्रष्टव्य (ऋ० प्रा० 3/4–5)
2. स्वरितस्य स्वरस्य आदौ उदात्तं ज्ञातव्यम्। तच्च स्वरार्धमात्राकालम्। यद्येकमात्रो यदि द्विमात्रो यदि त्रिमात्रः स्वरस्तथाप्यर्धमुदात्तं परमनुदात्तम्। अयं तु स्वरिते उदात्तानुदात्तप्रविभागो द्रष्टव्यः स्वरितशब्देनोदात्तानुदात्तं निर्वर्त्यं पृथक्श्रुतिः स्वरान्तरमभिधीयते। यथा त्रपुताम्रयोः संयोगे धात्वन्तरस्य कांस्यस्योत्पत्तिः यथा च गुडदध्नोरेकीभावे मार्जिकोत्पत्तिः एवमुदात्तानुदात्तसंयोगे स्वरितोत्पत्तिः। (वा० प्रा० 1/126 पर उवटभाष्य)
3. मात्रिकं वा द्विमात्रिकं वा स्वरितं यदिहाक्षरम्।
तस्यादितोऽर्धमात्रा वै शेषं च परतो भवेत्॥
(या० शि० 1/91)

शिक्षाकार के मत में भी स्वरित का पूर्ववर्ती आधाभाग उदात्त तथा परवर्ती आधाभाग अनुदात्त होता है।

प्रचय

उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित से व्यतिरिक्त प्रचय नामक स्वर का भी उल्लेख शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षा में हुआ है। वा० प्रा० में इसके लिए प्रचय संज्ञा के स्थान पर उदात्तमय नाम का प्रयोग हुआ है। चि धातु से प्र उपसर्गपूर्वक निष्पन्न प्रचय शब्द का अर्थ है—आधिक्य। स्वरित के बाद में आने वाले एक अथवा अनेक अनुदात्त स्वर प्रचय हो जाते हैं। प्रचय मूलतः अनुदात्त होता है। जब पूर्ववर्ती स्वरित के प्रभाव से अनुदात्त का उच्चारण अनुदात्त के समान न होकर उदात्त के समान होने लगता है तब वह प्रचय कहलाता है। इस प्रकार प्रचय कोई स्वतंत्र स्वर नहीं है प्रत्युत परिस्थिति विशेष में अनुदात्त ही प्रचय हो जाता है। अनुदात्त एक परिवर्तनशील स्वर है वह उदात्तपूर्व में होने पर स्वरित हो जाता है तथा स्वरित पूर्व में होने पर प्रचय हो जाता है किन्तु पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से एक ही अनुदात्त स्वरित होता है जबकि पूर्ववर्ती स्वरित के प्रभाव से एकाधिक अनुदात्त भी प्रचय हो जाते हैं।

प्रचय के स्थल

स्वराङ्कुश शि० के अनुसार उदात्त से परवर्ती अनुदात्त स्वरित तथा स्वरित से परवर्ती अनुदात्त प्रचय हो जाता है।[1] वा० प्रा० के अनुसार स्वरित से परवर्ती एक अथवा अनेक अनुदात्त उदात्तमय हो जाते हैं।[2] अर्थात् स्वरित से परवर्ती एक अथवा अनेक अनुदात्त उदात्तश्रुति से उच्चारित होते हैं।

या० शि० के अनुसार भी स्वरित से परवर्ती अनुदात्त प्रचय हो जाता है यदि उसके बाद उदात्त अथवा स्वरित न हो।[3] वा० प्रा० के विधान को प्रा० प्र० शि० में उद्धृत करके उसकी व्याख्या की गयी है। उसके अनुसार भी प्रचय विषयक यही तथ्य स्पष्ट होता है।[4] कात्यायनी शि० में भी विहित

---

1 उदात्तान्निहतः स्वारः स्वरितात्प्रचयो भवेत्।
(स्वराङ्कुश शि० 220)

2 स्वरितात्परमुदात्तमयम्। अनेकमपपि। (वा० प्रा० 1/141–142)

3. या० शि० (1/89–90)

4. द्रष्टव्य—वा० प्रा० (4/142) पर उवट।

है कि स्वरित से परवर्ती अनुदात्त प्रचय हो जाता है।[1] जैसे—त्वाम्। अद्य। ऋषे। आर्षेय। ऋषीणाम्। नपात्। अवृणीत् (प० पा०)=त्वामद्य ऋष आर्षेय ऋषीणन्नपादवृणीत् (वा० सं० 21/61)। यहाँ स्वरित से परवर्ती अनेक अनुदात्त प्रचय हो गये हैं।

प्रचय स्थल के अपवाद

स्वरित अथवा उदात्त वाद में होने पर स्वरित से परवर्ती अनुदात्त का प्रचय नहीं होता है। प्रचय के इस निषेध का उल्लेख शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थ में किया गया है। स्वराङ्कुशशिक्षा के अनुसार उदात्त अथवा स्वरित बाद में होने पर स्वरित से परवर्ती अनुदात्त प्रचय नहीं होता।[2] वा० प्रा० के अनुसार भी स्वरित से परवर्ती अनुदात्त उदात्त अथवा स्वरित बाद में होने पर प्रचय नहीं होता।[3] जैसे—तया॑ दे॒व तया॑ (वा० सं० 13/ 4)। प्रस्तुत उदाहरण में स्वरित स्वरयुक्त "या" से परवर्ती अनुदात्त "दे" है। स्वरित के बाद में होने के कारण उसका प्रचयत्व प्राप्त होता है किन्तु उसके बाद में उदात्त "व" होने से वह स्वरित नहीं होता, अपने मूलरूप (अनुदात्त) में ही रहता है।

उदात्त और प्रचय

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि प्रचय मूलतः अनुदात्त होता है तथापि कुछ बातों में यह उदात्त से साम्य एवम् कुछ वातों में वैषम्य रखता है; जिसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

साम्य

(1) उदात्त की भाँति प्रचय पर भी कोई चिह्न नहीं लगाया जाता।

(2) प्रचय का उच्चारण उदात्त के समान होता है।

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि प्रचय उदात्त ही होता है अपितु प्रचय और उदात्त के उच्चारण में थोड़ा अन्तर अवश्य होता है।

---

1. प्रचयं स्वरितादूर्ध्वमुपोपेदिध्ययं तथा। (कात्यायनी शि० 10 उ०)
2. उदात्तात्स्वरितात्पूर्वो नान्यमापद्यते स्वरम्॥ (स्वराङ्कुश शि० 2 उ०)
3. नोदात्तस्वरितोदयम्। (स्वराङ्कुश शि० 4 उ०)

वैषम्य

(1) उदात्त एक स्वतन्त्र स्वर है किन्तु प्रचय पराश्रित।

(2) उदात्त कभी भी अनुदात्त नहीं होता है किन्तु प्रचय (उदात्त अथवा स्वरित बाद में होने पर) अनुदात्त हो जाता है।

(3) उदात्त के पूर्व में अनुदात्त होता है अथवा कोई स्वर नहीं होता किन्तु प्रचय के पूर्व में स्वरित अवश्य होता है।

शुक्लयजुर्वेद में स्वराङ्कन प्रकार

मल्लशर्मकृत शि० में शुक्लयजुर्वेद में स्वराङ्कन पद्धति तथा स्वरों को पहचानने की विधि का विधान किया गया है। उसके अनुसार उदात्त स्वर चिह्न-रहित होता है। अर्थात् संहिता में जिस स्वर के ऊपर या नीचे कोई चिह्न नहीं होता वह उदात्त स्वर होता है। स्वरित स्वर को प्रदर्शित करने हेतु अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा लगी रहती है, जैसे— यजमानाय (वा० सं० 19/5)। मध्यवर्ती स्वरित के नीचे या 4 का चिह्न बना रहता है; जैसे—रजस्याय (वा० सं० 16/45)। अर्धन्युब्ज या पूर्णन्युब्ज के नीचे (वर्तुलाकार) चिह्न बना होता है जैसे (अर्धन्युब्ज)—रथ्यो न रश्मीन्। (पूर्णन्युब्ज)—बृहत्युष्णिहा। अनुदात्त के नीचे पड़ी रेखा होती है, जैसे—दृशानो।[1] स्वरित से परवर्ती एक या अनेक चिह्न-रहित स्वर प्रचय होता है, जैसे—देवस्य त्वा सवितुः। इस प्रकार चिह्नरहित दो स्वर होते हैं—(1) उदात्त तथा (2) प्रचय। जिस चिह्नरहित अक्षर के पूर्व कोई चिह्न न हो (जैसे—शर्म) अथवा अनुदात्त हो (जैसे—देवस्य) तो उसे उदात्त समझना चाहिए और जिस चिह्नरहित अक्षर के पहले स्वरित हो (जैसे—देवस्य त्वा सवितुः) उसे प्रचय जानना चाहिए। स्वरित से परवर्ती चिह्नरहित एक या अनेक अक्षर प्रचय होते हैं।

---

1. ऊर्ध्वरेखा तु वर्णस्य मूर्ध्नि तिष्ठति या स्थिरा।
तामुदात्तं विजानीयाद्विस्वरे स्वरितं तु ताम्॥
तिर्यग्रेखा तु वर्णस्य पादपार्श्वे स्थिता तु या।
अनुदात्तं विजानीयात् स्वरितं वा सहायकः॥
वर्णस्य वर्तुलाकारं पादे तिष्ठति केवलम्।
स्वरितं तु विजानीयात्स्वरविद्भिरुदीरितम्॥
(मल्लशर्मकृत शि० 29–31)

स्वरों के वर्ण (रङ्ग)

या० शि० में स्वरों के रंग का निर्देश करते हुए कहा गया है कि उदात्त को शुक्ल, अनुदात्त को लोहित तथा स्वरित को श्याम जानना चाहिए।[1] अर्थात् उदात्त का रंग उज्ज्वल, अनुदात्त का रंग लाल तथा स्वरित का रंग काला होता है।

स्वरों के देवता

या० शि० में स्वरों के देवताओं को भी निर्दिष्ट किया गया है इसके अनुसार उदात्त के देवता अग्नि, अनुदात्त के देवता सोम तथा स्वरित के देवता सविता हैं।[2]

स्वरों के वर्ण (जाति)

या० शि० के अनुसार उदात्त को ब्राह्मण वर्ण वाला, अनुदात्त को क्षत्रिय वर्ण वाला तथा स्वरित को वैश्य वर्ण वाला समझना चाहिए।[3] अर्थात् उदात्त का वर्ण ब्राह्मण, अनुदात्त का वर्ण क्षत्रिय तथा स्वरित का वर्ण वैश्य है।

स्वरों के गोत्र

या० शि० में स्वरों के गोत्र (वंश) का निर्देश करते हुए कहा गया है कि उदात्त को भारद्वाज, अनुदात्त को गौतम तथा स्वरित को गार्ग्य जानना चाहिए।[4] अर्थात् उदात्त भारद्वाजगोत्रीय, अनुदात्त गौतमगोत्रीय तथा स्वरित गार्ग्यगोत्रीय है।

---

1. शुक्लमुच्चं विजानीयात् नीचं लोहितमुच्यते।
   श्यामन्तु स्वरितं विद्यात्.............. ॥ (या० शि० 1/2)
2. ....अग्निमुच्चस्य देवतम् ॥
   नीचे सोमं विजानीयात् स्वरिते सविता भवेत्। (या० शि० 1/2 उ०–३ पू०)
3. उदात्तं ब्राह्मणं विद्यान्नीचं क्षत्रियमेव च ॥
   वैश्यन्तु स्वरितं विद्याद्............... । (या० शि० 1/3, उ० 4–पू०)
4. .. ..भारद्वाजमुदात्तकम्।
   नीचं गौतममित्याहुः गार्ग्यं च स्वरितं विदुः ॥ (या० शि० 1/4)

स्वरों के छन्द

या० शि० के अनुसार उदात्त गायत्र, अनुदात्त त्रैष्टुभ तथा स्वरित जागत है।[1] अर्थात् उदात्त गायत्री छन्द से सम्वन्धित, अनुदात्त त्रिष्टुभ् छन्द से सम्वन्धित तथा स्वरित जगती छन्द से सम्बन्धित है।

सङ्गीतशास्त्र के सात स्वर

वा० प्रा० में सात स्वरों के होने का निर्देश किया गया है।[2] भाष्यकारों के अनुसार ये सात स्वर सामगान में प्रयुक्त होने वाले षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद है।[3] या० शि० में भी इन सात स्वरों का उल्लेख हुआ है। इसके अनुसार मयूर षड्ज स्वर में बोलता है। बकरी ऋषभ स्वर में बिवियाती है। गायें गान्धार स्वर में हुम्भारती हैं। क्रौञ्च मध्यम स्वर में बोलता है। कोयल पञ्चम सुर में कूंजती है। हाथी निषाद स्वर में चिग्घाड़ता है तथा घोड़ा धैवत स्वर में हिनहिनाता है।[4] इन स्वरों के लिए यम संज्ञा का प्रयोग किया गया है। इसके अनुसार भी यमों की संख्या सात होती है—क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य।[5]

खड्जादि स्वरों का उदात्तादि स्वरों में अन्तर्भाव

या० शि० के अनुसार सामवेद के उपर्युक्त सातों स्वरों का अन्तर्भाव इन उदात्तादि तीन स्वरों में ही हो जाता है। निषाद तथा गान्धर का अन्तर्भाव उदात्त में, ऋषभ तथा धैवत का अन्तर्भाव अनुदात्त में तथा शेष तीन स्वरों—

---

1. विद्यादुदात्तं गायत्रं नीचं त्रैष्टुभमेव च।
   जागतं स्वरितं विद्यादत एवं नियोगतः॥ (या० शि० 1/5)
2. सप्त (वा० प्रा० 1/127)
3. सामसु सप्तस्वरानाहुः षड्जर्षमगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादान्।
   (वा० प्रा० 1/127 पर उवट)
4. षड्जो वेदे शिखण्ड्यास्य ऋषभः स्यादजामुखे।
   गावो रम्भन्ति गान्धारं क्रौञ्चश्चैव तु मध्यमम्॥
   कोकिलः पञ्चमो ब्रूते निषादन्तु वदेद्गजः।
   आश्वश्च धैवतो ज्ञेयः स्वराः सप्तेति गीयते॥ (या० शि० 1/8,9)
5. मन्द्रादिषु त्रिषु स्थानेषु सप्त सप्त यमाः। क्रुष्टप्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थमन्द्रातिस्वार्याः। (तै० प्रा० 23/13–14)

षड्ज, मध्यम तथा पञ्चम का अन्तर्भाव स्वरित में होता है।[1] अर्थात् निषाद तथा गान्धार उदात्त होते हैं। ऋषभ तथा धैवत अनुदात्त होते हैं। षड्ज, मध्यम तथा पञ्चम—ये तीन स्वर स्वरित होते हैं। तै० प्रा० 22/9, 10 के अनुसार यमों को तीन भागों में रखा गया है जिसमें तृतीय नामक स्वर को मध्यम, द्वितीय प्रथम और क्रुष्ट नामक स्वर को क्रमशः उत्क्षिप्त, उत्क्षिप्ततर और उत्क्षिप्ततम (अर्थात् उच्च, उच्चतर और उच्चतम्) तथा चतुर्थ मन्द्र और अतिस्वार्य नामक स्वर को अवक्षिप्त, अवक्षिप्ततर, अवक्षिप्ततम् (अर्थात् नीच, नीचतर और नीचतम) कहा गया है। इस प्रकार सामान्यरूप से इन स्वरों के उच्च, नीच तथा मध्यम—ये तीन विभाग किये गये हैं। तीन यम—द्वितीय प्रथम और क्रुष्ट उच्च अर्थात् उदात्त के अन्तर्गत, तीन यम—चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य नीच अर्थात् अनुदात्त के अन्तर्गत तथा तृतीय मध्यम अर्थात् उदात्त तथा अनुदात्त दोनों के धर्म वाले स्वरित के अन्तर्गत आते हैं।

हस्तचालन द्वारा स्वर-प्रदर्शन का महत्त्व

शुक्लयजुर्वेद में उदात्तादि स्वरों के उच्चारण के साथ-साथ हस्तचालन द्वारा भी उन्हें प्रदर्शित करने की परम्परा है। या० शि० में तो स्पष्ट कहा गया है कि जिस प्रकार उच्चारण प्रक्रिया द्वारा स्वरों का प्रदर्शन किया जाता है उसी प्रकार हाथ द्वारा भी उनका प्रदर्शन होता है।[2] इसके अनुसार स्वर वर्णों का ठीक-ठीक उच्चारण करने वाला तथा हस्तचालनपूर्वक अध्ययन करने वाला ऋग्यजुःसामवेदों द्वारा पवित्र होकर ब्रह्मलोक को जाता है।[3] या० शि० में कहा गया है कि जो व्यक्ति मन्त्रों का अध्ययन हस्तस्वर से हीन करता है उसका सभी वैदिक कर्मानुष्ठान उसी प्रकार व्यर्थ हो जाता है जिस प्रकार लवणविहीन

---

1. गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ता सप्त षड्जादयः स्वराः।
त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादय स्वराः॥
उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः॥ (या० शि० 6, 7)

2. यथा वाणी तथा पाणी रिक्तं तु परिवर्जयेत्॥
यत्र यत्र स्थिता वाणी पाणिस्तत्रैव तिष्ठति।
(या० शि० 47 उ०, 48 पू०)

3. स्वरवर्णान्प्रयुञ्जानो हस्तेनाधीतमाचरन्॥
ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोकमाप्नुयात्। (या० शि० 45 उ०, 46 पू०)

व्यञ्जन।[1] जो ब्राह्मण ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद का अध्ययन हस्तस्वर के विना करता है वह अवैदिक ब्राह्मण तब तक रहता है जबतक कि हस्तस्वर का ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता।[2] जो ह्रस्वस्वर, कण्ठस्वर तथा सम्यगुच्चारण से रहित वेदों का अध्ययन करता है वह ऋग्यजुः साम-वेदों द्वारा दग्ध होकर नरकगामी होता है।[3]

हस्तचालन द्वारा स्वर-प्रदर्शन

हस्तचालन द्वारा उदात्तादि स्वरों को प्रदर्शित करने का विधान करते हुए या० शि० में कहा गया है कि स्वरों के ज्ञाता विद्वान् को चाहिए कि वह हाथ को ऊँचा उठा हुआ सीधी अंगुलियों से फणाकृति (प्रादेश मात्र ऊपर नीचे जाने वाला) बना ले। अंगूठे के ऊपरी भाग से तर्जनी के अग्र भाग तक फैलाने पर जो दश अंगुल का अन्तराल होता है, वह प्रादेश संज्ञा से अभिहित किया जाता है। स्वरों के प्रदर्शन के लिए प्रादेश मात्र ही हाथ को चलाना चाहिए।[4]

उदात्त का प्रदर्शन

या० शि० के अनुसार उदात्त के उच्चारण के समय हाथ को, नासिका के अगले भाग से नौ अंगुल ऊपर ले जाना चाहिए।[5] हस्तचालन की दूसरी विधि द्वारा उदात्त को प्रदर्शित करने का निर्देश करते हुए या० शि० में उदात्त के उच्चारण में हाथ को भौहों तक ले जाना चाहिए।[5] वा० प्रा० के भाष्यकार

---

1. हस्तहीनं तु योऽधीते मन्त्रं वेदविदो विदुः।
न साधयेद्याजुषाणि भुक्तमव्यञ्जनं यथा॥ (या० शि० 1/49)
2. ऋचो यजूंषि सामानि हस्तहीनानि यः पठेत्।
अनूचो ब्राह्मणस्तावद् यावत्स्वारं न विन्दति॥ (या० शि० 1/40)
3. हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम्।
ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति॥ (या० शि० 1/41)
4. उत्तानं सोन्नतं किञ्चित्सुव्यक्ताङ्गुलिरञ्जितम्॥
स्वरविच्च करं कुर्यात्प्रादेशोद्देशगामिनम्।
अङ्गुष्ठस्योत्तरं पर्वं तर्जन्युपरियद्भवेत्॥
प्रादेशस्य तु यो देशस्तन्मात्रं चालयेत्करम्।
(या० शि० 1/51, 52, 53, उ०, पू०)
5. उत्थाने तु नवाङ्गुल्यम्। (या० शि० 1/55 पू०)
6. उदात्तं तु भ्रुवः प्रान्ते। (या० शि० 1/55 उ०)

उवट ने भी उदात्त के प्रदर्शन की विधि का निर्देश किया है। उनके अनुसार उदात्त को प्रदर्शित करने के लिए हाथ का ऊर्ध्वंगमन होता है।[1] अर्थात् उदात्त के प्रदर्शन में हाथ को ऊपर ले जाया जाता है। कितना ऊपर ले जाया जाता है इसका प्रतिपादन भाष्यकार ने नहीं किया है किन्तु या० शि० में स्पष्ट है कि उदात्त के उच्चारण के समय हाथ को नासिकाग्र से नव अंगुल ऊपर अथवा भौंह की सीध में ले जाते हैं। स० प्र० शि० के अनुसार उदात्त के प्रदर्शन में हाथ को ऊपर भ्रूप्रान्त तक ले जाते हैं।[2] उदात्त स्वर के दो भेद होते हैं— (1) ऊर्ध्वंगामी तथा (2) वामगामी। ऊर्ध्वंगामी उदात्त के उच्चारण के समय हाथ ऊपर जाता है तथा वामगामी उदात्त के उच्चारण में हाथ बाँयी ओर जाता है।

(1) ऊर्ध्वंगामी उदात्त

जिस उदात्त के प्रदर्शन में हाथ ऊपर की ओर जाता है। वह ऊर्ध्वंगामी उदात्त होता है। स्वरित से पूर्ववर्ती उदात्त के प्रदर्शन में हाथ ऊपर जाता है, जैसे—आहमंजानि। यहाँ स्वरित मकार के पूर्ववर्ती हकार के उच्चारण के समय हाथ ऊपर की ओर जाता है। न्युब्ज स्वर से परवर्ती उदात्त में भी हाथ ऊपर जाता है यदि उसके बाद स्वरित हो, जैसे—बृहत्युंष्णिहा। यहाँ न्युब्ज "त्यु" से परवर्ती उदात्त णि के बाद में स्वरित है अतः उसके उच्चारण में हाथ ऊपर जाता है।

(2) वामगामी उदात्त

तीन अवस्थाओं में उदात्त के उच्चारण में हाथ बाँयी ओर जाता है अतः ऐसे उदात्त को वामगामी उदात्त कहा जाता है।[3]

(1) दो अनुदात्तों के मध्य में स्थित उदात्त के उच्चारण में हाथ बाँयी

1. तत्रोदात्ते ऊर्ध्वगमनं हस्तस्य। (वा० प्रा० 1/121 पर उवट)
2. उदात्तमूर्ध्वं हस्तेन। (सम्प्रदायप्रबोधिनी शिक्षा 35 पृ०)
   उदात्तं तु भ्रुवः प्रान्ते। (स० प्र० शि० 37 पृ०)
3. अनुदात्तपरो ह्येकोऽन्यः पूर्वः स्वरितस्य च।
   उदात्तो द्विविधो ह्येवं हस्तनिर्देशने भवेत्॥
   पूर्वो वामे प्रदर्श्यस्तु ऊर्ध्वं चैव द्वितीयकः॥
   (स० प्र० शि० 45)

ओर जाता है, जैसे—गायत्री त्रिष्टुप् । यहाँ दो अनुदात्तों "य" तथा "त्रि" के मध्य में उदात्त त्री है अतः इसके उच्चारण के समय हाथ बाँयी ओर जाता है ।

(2) मन्त्र के मध्य में निश्चित अवसान या समाप्ति के अवसान में स्थित उदात्त के उच्चारण के समय हाथ बाँयी ओर जाता है यदि उसके पूर्व में अनुदात्त हो जैसे—गर्भधम् । यहाँ मन्त्र की समाप्ति के अवसान में स्थित उदात्त "ध" से पूर्व अनुदात्त "र्भ" है अतः उस उदात्त के उच्चारण में हाथ बाँयी ओर जाता है ।

(3) मन्त्र के प्रारम्भ में स्थित उदात्त के उच्चारण के समय हाथ बाँयी ओर जाता है यदि उसके वाद में अनुदात्त हो जैसे—य एतावन्त ।

अनुदात्त का प्रदर्शन

या० शि० के अनुसार अनुदात्त के प्रदर्शन में हाथ को नासिकाग्र से छः अङ्गुल नीचे ले जाना चाहिए ।[1] वहीं यह भी कहा गया है कि अनुदात्त के उच्चारण के समय हाथ को हृदय स्थान तक जाता है ।[2] इस प्रकार अनुदात्त के उच्चारण में हाथ को नासिकाग्र से छः अङ्गुल नीचे अथवा छाती तक ले जाते हैं । उवट ने अनुदात्त के उच्चारण में हाथ के अधोगमन का निर्देश किया है ।[3] स०य० शि० के अनुसार अनुदात्त के उच्चारण में हाथ को नीचे हृदय प्रदेश तक ले जाते हैं ।[4]

अनुदात्त के पाँच भेद होते हैं—(1) निम्नगामी: (2) अन्त्यदर्शी, (3) दक्षगामी. (4) तिर्यग्दर्शी. (5) अन्तर्गामी । इनका विवरण इस प्रकार है—

(1) निम्नगामी अनुदात्त

जिस अनुदात्त के उच्चारण में हाथ नीचे जाता है वह निम्नगामी अनुदात्त होता है । यदि अनुदात्त के बाद क्रमशः उदात्त तथा स्वरित हो तो उस अनुदात्त के उच्चारण के समय हाथ नीचे जाता है ।[5] जैसें—गणानान्त्वा । यहाँ अनुदात्त

---

1. निपाते तु षडङ्गुलम् । (या०शि० 1/54 उ०)
2. हृत्प्रदेशेऽनुदात्तं तु । (या०शि० 1/56)
3. अनुदात्तेऽधोगमनं हस्तस्य । (वा०प्रा० 1/122 पर उवट)
4. अनुदात्तं दर्शयेदधः । (स०य०शि० 35 उ०)
   हृत्प्रदेशऽनुदात्ते तु । (स०य०शि० 37 पू०)
5, अनुदात्तः यदैकत्र ह्यनेके लक्ष्मतो यदि ।
   तत्रान्त्ये तु करं नीचैर्मध्ये पूर्वेषु दर्शयेत् ।। (स०प्र०शि० 46)

"ग" के बाद उदात्त णा तथा स्वरित ना स्थित है अतः अनुदात्त "ग" के उच्चारण के समय हाथ नीचे जाता है।

(2) अन्त्यदर्शी अनुदात्त

जहाँ अनेक अनुदात्तों का समूह निरन्तर हो तो अन्तिम अनुदात्त अन्त्यदर्शी अनुदात्त कहलाता है; उसके उच्चारण में हाथ नीचे जाता है[1]; जैसे—वलविज्ञाय स्थविर। यहाँ लगातार चार अनुदात्तों व, ल, वि तथा ज्ञा का समूह है अतः अन्तिम अनुदात्त ज्ञा के उच्चारण के समय हाथ नीचे जाता है।

(3) दक्षगामी अनुदात्त

जिस अनुदात्त के उच्चारण के समय हाथ दाहिनी ओर जाता है वह दक्षगामी अनुदात्त कहलाता है। यदि अनुदात्त के बाद में उदात्त हो तथा उस उदात्त के बाद में अनुदात्त हो तो प्रथम अनुदात्त के उच्चारण के समय हाथ दाहिनी ओर जाता है[2] जैसे—पाङ्क्त्या सह। यहाँ अनुदात्त "पा" के बाद में उदात्त "या" और उसके बाद में अनुदात्त "स" है। अतः प्रथम अनुनात्त पा के उच्चारण में हाथ दाहिनी ओर जाता है।

(4) अन्तर्गामी अनुदात्त

वह स्वर जिसके नीचे 4 चिह्न हो वह मध्यवर्ती स्वरित कहलाता है। उससे अव्यवहित पूर्ववर्ती अनुदात्त के उच्चारण में हाथ पेट की ओर घुमा दिया जाता है[3] जैसे—च व्युंप्तकेशाय। यहाँ मध्यवर्ती स्वरित "व्यु" से अव्यवहित पूर्ववर्ती अनुदात्त च के उच्चारण में हाथ पेट की ओर घूम जाता है।

(5) तिर्यग्दर्शी अनुदात्त

न्युब्ज से पूर्ववर्ती अनुदात्त को तिर्यग्दर्शी अनुदात्त कहा जाता है। उसके उच्चारण में हाथ पिण्डदान के समान दाहिनी और झुक जाता है[4] जैसे—बृह-

---

1. उदात्ताव्यवधानेन स्वरितो लक्ष्मतो भवेत्।
   पूर्वे अनुदात्त चिह्ने तु नीचैः हस्तं प्रदर्शयेत् ॥ (स०उ०शि० 47)
2. यद्युदात्ताव्यवधानेनानुदात्ताङ्कः पुनर्भवेत्।
   तदादक्षिणपार्श्वेव यमनुदात्तं प्रदर्शयेत् ॥ (स०प्र०शि० 48)
3. यद्यव्यवहितं लक्ष्म मध्यावर्तात्पुरो भवेत्।
   तत्र भ्रमिः प्रदर्श्यस्तु नीचैश्चिह्ने यथा गुड्ड ॥ (स० प्र० शि० 49)
4. न्युब्जचिह्ने व्यवहितेऽनुदात्ते पिण्डदानवत्।
   करः एवं पञ्चधा स्यादनुदात्तप्रदर्शनम् ॥ (स० प्र० शि० 50)

त्युंष्णिहो। यहाँ न्युब्ज "त्यु" से पूर्ववर्ती अनुदात्त "ह" के उच्चारण के समय हाथ पिण्डदान के समान दाहिनी ओर झुक जाता है।

स्वरित का प्रदर्शन

या० शि० में विधान किया गया है कि स्वरित के उच्चारण में हाथ को नासिकाग्र से तीन अंगुल नीचे ले जाना चाहिए।[1] वहीं पर स्वरित को नासाग्र तक प्रदर्शित करने का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार स्वरित स्वर का प्रदर्शन नासिकाग्र अथवा नासिकाग्र से तीन अङ्गुल नीचे हाथ को ले जाकर किया जाता है। इसके अनुसार जात्य स्वरितों को प्रदर्शित करने हेतु हाथ को पूर्णन्युब्ज (उलटा) तथा अर्धन्युब्ज रखना चाहिए।[2] जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र तथा प्रश्लिष्ट—ये चार उदात्त पूरक स्वरित पूर्णन्युब्ज तथा अन्य चार स्वरित तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, पादवृत्त तथा ताथाभाव्य अर्धन्युब्ज होते हैं। पूर्णन्युब्ज का हस्तचालन छः अंगुल तथा अर्धन्युब्ज का हस्तचालन डेढ़ अङ्गुल तक होता है।[3] स० प्र० शि० के अनुसार भी स्वरित का प्रदर्शन नासिकाग्र तक हाथ ले जाकर किया जाता है।[4] इसके अनुसार भी हाथ को पूर्णन्युब्ज तथा अर्धन्युब्ज रखना चाहिए।[5]

हस्तप्रदर्शन के आधार पर स्वरित की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—(1) मध्यपाती, (2) मध्यदर्शी, (3) मध्यवर्ती (4) पूर्णन्युब्ज तथा (5) अर्धन्युब्ज।[6]

(1) मध्यपाती स्वरित

जिस स्वरित के उच्चारण में हाथ मध्य में (हृदय की सीध में) रहता है वह मध्यपाती अथवा मध्यमपाती स्वरित कहलाता है। इनके उच्चारण के

---

1. स्वरिते त्र्यङ्गुलं विद्यात्। (या० शि० 1/54 उ०)
2. तिर्यग्जात्यादिरीरितः। (या० शि० 1/56 पू०)
3. षडङ्गुलन्तु जात्यस्य हस्तस्यानुपथस्य च ॥
   तच्चतुर्भागमात्रं तु हस्तं तेनेव वर्तयेत्। (या० शि० 1/56 उ०, 57 पू०)
4. स्वरितं नासिकाग्रतः। (स० प्र० शि० 37 पू०)
5. तिर्यग्जात्यादिकान् स्वरान्। (स० प्र० शि० 37)
6. स्वरितः पञ्चधा ज्ञेयो हस्तनिर्देशने बुधैः।
   स्पष्टस्वरितः एकस्तु प्रचयश्च द्वितीयकः ॥
   मध्यावर्तस्तृतीयस्तु दक्षन्युब्जश्चतुर्थकः।
   नीचन्युब्जः पञ्चमश्च नान्यथा दर्शनं क्वचित् ॥ (स० प्र० शि० 51–52)

समय हाथ हृदय की सीध में रहता है। उदात्तपूर्व स्वरित मध्यमपाती होते हैं[1] जैसे—"गणानान्त्वा।" यहाँ उदात्तपूर्व स्वरित ना के उच्चारण में हाथ मध्य में आता है।

(2) मध्यदर्शी स्वरित

स्वरित के बाद में अनुदात्त होने पर वह प्रचय हो जाता है। ये प्रचय स्वरित स्थान में ही दिखलाये जाते हैं। ये प्रचय ही मध्यदर्शी स्वरित के अन्तर्गत आते हैं। इनके उच्चारण के समय भी हाथ हृदय की सींध में ही रहता है[2] जैसे—गणपतिं हवामहे। यहाँ स्वरित ति से परवर्ती प्रचय के उच्चारण में हाथ हृदय की सीध में जाता है। उल्लेखनीय है कि प्रचय मूलरूप में अनुदात्त ही होता है जो स्वरित के प्रभाव से प्रचय हो जाता है। इसका उच्चारण उदात्त के समान होता है किन्तु इनके उच्चारण के समय हाथ की स्थिति स्वरित के समान होती है।

(3) मध्यवर्ती स्वरित

मध्यवर्ती स्वरित (जिसके नीचे अथवा 4 का चिह्न बना रहता है तथा उसके पूर्व में अनुदात्त अवश्य रहता है) के उच्चारण में हस्तप्रदर्शन करने हेतु सर्वप्रथम हाथ छाती के सामने रखकर अनुदात्त के उच्चारण के समय भीतर की ओर घूमेगा और फिर घूमकर स्वरित के उच्चारण के समय पूरा घुमाव करके बाहर आ जायेगा।[3] जैसे—च व्युंत्केशाय। यहाँ मध्यवर्ती स्वरित व्यु से पूर्व में अनुदात्त "च" है अतः "च" के उच्चारण में हाथ छाती के सामने रहकर भीतर की ओर घूमता है तथा व्यु के उच्चारण के समय घुमाव पूरा करके बाहर आ जाता है।

---

1. ऊर्ध्वस्थानात्पात्यते तु स्पष्टस्वरितचिह्नितम्।
(स० प्र० शि० 53, पृ०)

2. स्वरितात्परो चिह्नो वर्णः प्रचयसंज्ञकः॥
मध्ये प्रदर्शनं तस्य स्वरितस्थानतो भवेत्। (स० प्र० शि० 53 उ०, 54 पू०)

3. स्वरितानुदात्तचिह्न यत्संश्लिष्टं दृश्यतेऽथवा॥
मुद्रणे च चतुर्थाङ्को मध्यावर्तः प्रकीर्तितः।
अत्र पूर्वेऽनुदात्ताङ्के वर्णे मध्ये भवेद्भ्रमिः॥
मध्यावर्ते भ्रमेर्बाह्यं प्रापयेत्स्वरिते करम्।
(स० प० शि० 54 उ०, 56 पू०)

(4) पूर्णन्युब्ज

अनुदात्त के बाद में न्युब्ज हो तथा उसके बाद में उदात्त तथा उदात्त के बाद में स्वरित हो तो उस न्युब्ज के उच्चारण में हाथ नीचे की ओर उलट जायेगा।[1] जैसे—बृहत्युँष्णिहा। यहाँ "त्यु" के उच्चारण के समय हाथ नीचे की ओर उलट जायेगा।

(5) अर्धन्युब्ज

यदि न्युब्ज स्वर से पहले अनुदात्त तथा बाद में उदात्त हो और उस उदात्त के बाद में अनुदात्त हो तो उस न्युब्ज के उच्चारण के समय हाथ दाहिनी ओर उलटा किया जाता है जैसे—रथ्यौं न रश्मीन्।[2] यहाँ "थ्यो" के उच्चारण के समय हाथ दाहिनी ओर उलटा होता है।

अंगुलियों पर गिनती द्वारा स्वर-प्रदर्शन

अंगुलियों पर गिनती द्वारा स्वर-प्रदर्शन का भी विधान या० शि० में किया गया है। उसके अनुसार उदात्त स्वर के उच्चारण के समय तर्जनी एवं अँगूठे का स्पर्श, अनुदात्त स्वर के उच्चारण के समय अँगूठे तथा मध्यमा अङ्गुलि का स्पर्श एवम् स्वरित के उच्चारण के समय अँगूठे और कनिष्ठिका का स्पर्श करना चाहिए।[3] विसर्ग है बाद में जिसके ऐसा वकार युक्त अथवा ह्रस्व अक्षर यदि स्वरित हो तो उसके उच्चारण के समय दाहिने हाथ की तर्जनी एवं कनिष्ठिका बाहर निकलती है। फलतः मध्यमा और अनामिका स्वतः मुड़ जाती है, जैसे—द॒वो वः सविता। यहाँ "वः" के उच्चारण के समय दाहिने हाथ की तर्जनी और कनिष्ठिका बाहर निकलती है।[3] विसर्ग है बाद में जिसके वकार रहित दीर्घ अक्षर यदि स्वरित हो तो उस स्वरित के उच्चा-

---

1. उत्तानशायितं षष्ठे चाङ्के न्युब्जं विदुर्बुधाः ॥
तत्र पूर्वेऽनुदात्ताङ्के पितृपिण्डप्रदानवत्।
हस्तः प्रदर्शनीयस्तु न्युब्जे तु न्युब्जता भवेत्।
न्युब्जाङ्कतोऽनुदात्ताङ्के दृश्ये दक्षे प्रदर्शनम् ॥
(स० प्र० शि० 56 उ०, 58 पू०)
2. स्वरिताङ्को दृश्यते चेत् तदा नीचैः प्रदर्शनम्।
उभयत्राप्युदात्तः स्वं स्थानं मध्यतो लभेत् ॥ (स० प्र० शि० 58)
3. तर्जन्यङ्गुष्ठयोः स्पर्शः उदात्तम्प्रतिपद्यते।
नीचस्तु मध्यमं कुर्याच्छेषं नीचतरं क्रमात् ॥ (या० शि० 1/65)

रण में केवल कनिष्ठिका निकलती है। जैसे—वसोः पवित्रम्। यहाँ सो के उच्चारण के समय कनिष्ठिका निकलती है। यदि ह्रस्व हो तो तर्जनी और कनिष्ठिका दोनों निकलती है,[1] जैसे—तन्मे मनः। यहाँ "नः" के उच्चारण के समय तर्जनी तथा कनिष्ठिका दोनों निकलती है।[2] यदि जात्य स्वरित वकार युक्त हो तो उसके बाद विसर्ग के लिए तर्जनी और कनिष्ठिका दोनों अँगुलियाँ बाहर निकलती हैं, जैसे—वायव्याः। यकार युक्त जात्य स्वरित के बाद में स्थित विसर्ग के लिए केवल एक ही अङ्गुलि (कनिष्ठिका) निकलती है।[3]

विशेष

या० शि० में स्वरप्रदर्शन के विषय में कुछ विशेष बातें बतलायी गयी हैं। उसके अनुसार उदात्त अथवा स्वरित बाद में होने पर अनुदात्त के उच्चारण में हाथ दाहिनी ओर जाता है। उदात्त के उच्चतर तथा अनुदात्त से नीचतर स्वर कोई नहीं है। अनुदात्त बाद में होने पर अनुदात्त के उच्चारण के समय हाथ बीच में रहता है। प्रचय के उच्चारण में हाथ स्वरित के समान बीच में रहता है। प्रचय के बाद में होने पर स्वरित के उच्चारण के समय शीघ्र हाथ चलाना चाहिए और मुख से भी उसका शीघ्र उच्चारण करना चाहिए।[4] प्रचय बाद में न होने पर स्वरित के लिए हस्तचालन तथा उच्चारण मृदु करना चाहिए।[5]

---

1. स्वरितं यद्भवेत्किञ्चित् सवकारोष्मकं ततः।
   ह्रस्वं वा यदि वा दीर्घं निक्षेप उभयोरपि॥ (या० शि० 1/6)
2. स्वरिते यत्र निक्षिप्ते संयोगो वापि दृश्यते।
   द्विमात्रिके क्षिपेदेकां मात्रिके तूभयं क्षिपेत्॥ (या० शि० 1/67)
3. जात्ये स्वरिते चैव वकारो यत्र दृश्यते।
   कर्तव्यस्तूभयाः क्षेपो वायव्या इति दर्शनम्॥ (या० शि० 1/68)
4. उदात्तस्वरितोदात्ताः क्रमाद्दक्षिणतो न्यसेत्।
   उच्चादुच्चतरं नास्ति नीचात् नीचतरं यथा॥
   अक्षरतुल्ययोगाच्च नीचे नीचगतानि च।
   स्वरितादनुदात्तं ये प्रचयाँस्तान् प्रचक्षते॥
   एकस्वरानि च तानाहुस्तत्त्वार्थचिन्तकाः।
   प्रचयो यत्र दृश्यते तत्र हन्यात्स्वरायुधः॥ (या० शि० 1/58–60)
5. स्वरितः केवलो यत्र मृदु तत्र निपातयेत्।
   (या० शि० 1/61 पू०)

स्वरों में सन्धि

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थ में स्वरों के सन्धि—विषयक विधान प्राप्त होते हैं। जब पदान्त तथा पदादि स्वरवर्ण मिलकर एक हो जाता है तो उनके उदात्तादि धर्म भी मिलकर एक हो जाते हैं इन स्वरधर्मों की सन्धियाँ इस प्रकार हैं—

उदात्तभाव

व० प्र० शि० के अनुसार स्वर वर्ण के जिस एकीभाव (सन्धि) में एक स्वर वर्ण, पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती अथवा दोनों (पूर्ववर्ती एवं परवर्ती) उदात्त हो तो वहाँ सन्धि के परिणामस्वरूप निष्पन्न स्वर उदात्त होता है। व० प्र० शि० के अनुसार उदात्त तथा स्वरित के एकीभाव के परिणाम स्वरूप भी उदात्त ही होता है।[1] अभिनिहित, क्षैप्र तथा प्रश्लिष्ट-स्वरों के लिए यह विधान लागू नहीं होता।[2] जैसे—प्र+अ॒र्पयतु=प्रार्पयतु। यहाँ पदान्त तथा पदादि दोनों अकार की सन्धि में एकीभाव आकार होता है जिसमें पदान्त अकार उदात्त तथा पदादि अकार अनुदात्त है अतः दोनों स्वरों का एकीभाव उदात्त हो गया है जिससे सन्धिज आकार उदात्त है। ये+अन्नेषु=येऽन्नेषु। यहाँ पूर्ववर्ती उदात्त एकार के बाद में स्थित उदात्त अकार अपने पूर्ववर्ती स्वर में मिल गया है। अतः इस विधान के अनुसार दोनों उदात्त का एकीभाव उदात्त हो गया है। वा० प्रा० में भी स्वरों के उदात्तभाव के विषय में इसी प्रकार का विधान किया गया है जिसका उल्लेख प्रा० प्र० शि० में भी किया गया है जिसमें पूर्ववर्ती और परवर्ती स्वर वर्ण की सन्धि में एक अथवा दोनों स्वरों के उदात्त होने पर परिणामस्वरूप उदात्त होने का विवेचन किया गया है।[3]

---

1. द्वयोस्तु स्वरयोस्सन्धावेकीभावे यदा भवेत्।
   तदानीचोऽप्युदात्तस्य वशं गच्छति सान्वयः॥
   उदात्तयोरथैकत्वे भवेदुदात्त एव च।
   स पुरस्तात्परस्ताद्वा यथास्यात्प्रार्पयत्विति॥
   (व० प्र० शि० 92, 93)
2. स्वरितोदात्तयोः सन्धावुदात्तो बलवान्स्मृतः।
   हित्वाभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टांस्त्रीनिमान् स्वरान्॥
   (व० प्र० शि० 100)
3. उदात्तवानुदात्तः। (वा० प्रा० 4/137, प्रा० प्र० शि० 11)

स्वरितभाव

(1) क्षैप्रस्वरित में अनुदात्त का स्वरितभाव हो जाता है। पदान्त उदात्त इकार तथा उकार के क्रमशः यकार तथा वकार होने पर परवर्ती अनुदात्त स्वर स्वरित हो जाता है, जैसे—दे॒वी+ए॒तु=देव्ये॑तु (वा० सं० 33/89)। नु+इन्द्र=न्विन्द्र (वा० सं० 3/52)। प्रथम उदाहरण में पूर्ववर्ती उदात्त ईकार तथा द्वितीय उदाहरण में पूर्ववर्ती उदात्त उकार का क्रमशः यकार तथा वकार हो गया है जिससे परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो गया है। इस अनुदात्त के स्वरित होने का विधान शिक्षा तथा प्रातिशाख्य में उपलब्ध होता है।[1]

(2) अभिनिहितस्वरित में उदात्त का स्वरित भाव हो जाता है। इसमें उदात्त एकार अथवा ओकार से परवर्ती अनुदात्त का लोप होने पर पूर्ववर्ती उदात्त स्वरित हो जाता है, जैसे—वे॒दः+अ॒सि॒=वे॒दो॑ऽसि। यहाँ पूर्ववर्ती उदात्त ओकार के बाद में अनुदात्त अकार का लोप होने पर पूर्ववर्ती उदात्त स्वरित हो गया है। इस स्वरितभाव का विधान शुक्लयजुर्वेदीय प्रातिशाख्य तथा शिक्षा-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।[2]

---

1. युवर्णौ यदोदात्तावापद्येते यवौ क्वचित्।
अनुदात्ते परे नित्यं विद्यात्क्षैप्रस्य लक्षणम्॥
(या० शि० 1/80 स्वरा० शि० 5)
इउवर्णावुदात्तौ चेदनुदात्तस्वरोदयौ॥
यवाभ्यां चैव संयुक्तो तदा क्षैप्रस्वरो भवेत्॥
(व० प्र० शि० 61 उ० 62 पू०)
युवर्णो यवो क्षैप्रः। (वा० प्रा० 1/115, प्रा० प्र० 1 शि० 1।)

2. एओ आभ्यामुदात्ताभ्यामकारो निहितश्च यः।
स च यत्र प्रलुप्यते तं अभिनिहितं विदुः॥ (या० शि० 1/69)
एओ आभ्यामुदात्ताभ्यामकारो नीच एव च।
लुप्यते सन्धिकार्ये यत्तमभिनिहितं विदुः॥ (व० प्र० शि० 57)
पदकाले य एकार उदात्तः संहितोद्भवः।
ओकारः स्वरसंयुक्तो यं न च स्वार्यं एव सः॥ (कात्यायनी शि० 4)
एदोद्भ्यामकारो लुगभिनिहितः।
(वा० प्रा० 1/114, प्रा० प्र० शि० 9)
एदेतोरुच्चयोर्यत्र नीचोऽकारपरो यदि।
एकीभावे भवेत्तत्र स्वारोऽभिनिहितस्तदा॥ (स्वराङ्कुश शि० 4)

(3) प्रश्लिष्टस्वरित भी उदात्त तथा अनुदात्त दोनों के स्थान पर स्वरित भाव से ही निष्पन्न स्वरित है। उदात्त इकार की अनुदात्त इकार से एकीभाव सन्धि के परिणाम स्वरूप दीर्घ होने पर वह स्वरित हो जाता है। इस स्वरित-भाव का विधान शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्य में किया गया है।[1] जैसे—अभि+इन्धताम् = अभी॑न्धताम्। यहाँ पूर्ववर्ती उदात्त इकार तथा परवर्ती अनुदात्त इकार की दीर्घ सन्धि होने पर दोनों स्वरों के स्थान पर स्वरित हो गया है। इसीलिए क्षैप्र, अभिनिहित तथा प्रश्लिष्ट स्वरित को सन्धिज स्वरित कहा जाता है।

(4) स्वरित वाले एकीभाव में सन्धिज स्वर स्वरित होता है। तात्पर्य यह है कि यदि पदान्त अथवा पदादि स्वरित हो तथा दूसरा स्वरित अथवा अनुदात्त हो तो दोनों (पूर्वापर) के स्थान पर स्वरित होता है जैसे—पृथ्वी॑ इव = पृथ्वी॑व (वा० सं० 11/5)। यहाँ पूर्ववर्ती स्वरित तथा परवर्ती अनुदात्त के एकीभाव होने पर दोनों के स्थान पर स्वरित हो गया है। इसका विधान वा० प्रा० में भी किया गया है।[2]

स्वरितभाव के अपवाद

वा० प्रा० के अनुसार देशे पद के पदान्त एकार के साथ अभवत् पद के पदादि अनुदात्त अकार का पूर्वरूपभाव होने पर सन्धिजस्वर स्वरित नहीं होता।[3] इसी विधान को प्रा० प्र० शि० में भी उद्धृत किया गया है यथा—देशे+अभवत् = दे॒शेऽभ॑वत्। यहाँ देशे के पदान्त उदात्त एकार के बाद में अभवत् के अनुदात्त अकार का पूर्वरूप होने पर पूर्ववर्ती उदात्त के स्थान पर स्वरित न होकर उदात्त ही है।

---

1. इकारो यत्र दृश्यते इकारेणैव संयुतः।
उदात्ताश्चानुदात्तेन प्रश्लिष्टो भवति स्वरः॥ (या० शि० 1/81)
उच्चः पूर्वो परो नीचः इकारोऽन्योऽन्यसङ्गतः।
प्रश्लिष्टः स स्वरो ज्ञेयः स्रुचीवाभीन्धतां यथा॥ (व० प्र० शि० 63)
एकीभूताविकारो वेदुदात्तस्वरितो पदे।
एकस्मिन्नेव तौ स्वार्यौ दीर्घपूर्वे तयोः परम्॥ (कात्यायनी शि० 6)
इवर्णः उभयतो ह्रस्वः प्रश्लिष्टः। (प्रा० प्र० शि० 12)
इकारः उच्चः पूर्वस्मिन्परस्मिन्निति यतः स च।
प्रश्लिष्टमाहुराचार्यः स्वरवर्णविदस्तदा॥ (स्वराङ्कुश शि० 6)
2. स्वरितवान् स्वरितः। (वा० प्रा० 4/133)
3. न देशेऽभवति। (वा० प्रा० 4/64)

अनुदात्तभाव

अनुदात्त तथा उदात्त अथवा स्वरित की सन्धि होने पर सन्धि स्वर क्रमशः उदात्त तथा स्वरित होता है। अनुदात्त तथा अनुदात्त की सन्धिज होने पर सन्धिज स्वर के अनुदात्त होने का विधान तो नहीं किया गया है किन्तु वा० प्रा० के इस परिभाषा सूत्र "आदेशाभाव होने पर विकार नहीं होता है"[1] के अनुसार पदादि तथा पदान्त दोनों के अनुदात्त होने पर सन्धिज स्वर के अनुदात्त होने की प्राप्ति होती है जैसे—प॒श्य॒म॒ अ॒क्षिभिः=प॒श्य॒मा॒क्षिभिः (वा० सं० 25/11)। यहाँ पदान्त अनुदात्त अकार तथा पदादि अनुदात्त अकार की दीर्घभावसन्धि हुई है किन्तु पदान्त तथा पदादि अनुदात्त की सन्धि से निष्पन्न सन्धिज स्वर का विधान न होने से सन्धिज स्वर अनुदात्त ही रह गया है।

स्वर की दृष्टि से पदों के प्रकार

वा० प्रा० में कतिपय पदों के स्वरविषयक विधान प्रस्तुत किये गये हैं। प्रस्तुत विधानों के सन्दर्भ में भाष्यकार उवट ने स्वर की दृष्टि से शुक्ल-यजुर्वेद में प्रयुक्त सभी पदों को तीन भागो—उदात्तमूलक, स्वरितमूलक तथा अनुदात्तमूलक पदों में विभक्त करके पुनः उन्हें अवान्तर भेदों में विभक्त किया है जो इस प्रकार है—

(1) उदात्तमूलक पद—सर्वोदात्त पद, आद्युदात्त पद, मध्योदात्त पद, अन्तोदात्त पद द्विरुदात्त पद, त्रि-उदात्त पद।

(2) स्वरितमूलक पद—सर्वस्वरित पद, आदिस्वरित पद, मध्यस्वरित पद, अन्तस्वरित पद।

(3) अनुदात्तमूलक पद—सर्वानुदात्त पद।

उवट ने इन विभागों के लिए पदभक्ति संज्ञा का प्रयोग किया है।[2] प्रा० प्र० शि० में वा० प्रा० के इन विधानों को उद्धृत करके उनकी व्याख्या सोदाहरण प्रस्तुत की गई है। उपर्युक्त विभागों के आधार पर अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है—

सर्वोदात्तपद

सर्वोदात्त पद के सभी अक्षर उदात्त होते हैं वे पद इस प्रकार हैं—(1)

1. अनादेशे विकारः। (वा० प्रा० 4/131)
2. द्रष्टव्य—वा० प्रा० 2/1 पर उवटभाष्य।

अग्ना३इ, लाजी३न्, शाची३न्—ये पद सर्वोदात्त होते हैं।[1] जैसे—अग्ना (वा० सं० 8/10)। लाजी३न् (वा० सं० 32/8)। शाची३न् (वा० सं० 23/8) (2) प्रणव (ओम्) शब्द सर्वोदात्त होता है।[2] यथा—ओम् (वा० सं० 4/17)।

आद्युदात्त पद

आद्युदात्त पदों में प्रथम अक्षर उदात्त होता है। आद्युदात्त पद ये हैं—

(1) इड पद से परवर्ती नव आमन्त्रित पद, स्वान से परवर्ती छः आमन्त्रित पद अग्नि से परवर्ती चार आमन्त्रित पद, भग से परवर्ती चार आमन्त्रित पद सिनीवाली से परवर्ती एक आमन्त्रित पद तथा प्रजापतये ब्रह्मन् पद आद्युदात्त होते हैं।[3] जैसे—इडे। रन्ते। हव्ये। काम्ये। चन्द्रे। ज्योते। अदिति। सरस्वति। महि। विश्रुति (वा० सं० 8/43) इत्यादि।

(2) भूतिपद आद्युदात्त होता है।[4] यथा—भूत्यै। जागरणम् = भूत्यै जागरणम् (वा० सं० 30/17)।

(3) "न रिष्येम" पूर्व में होने पर कदा पद आद्युदात्त होता है।[5] यथा—न रिष्येम। कदाचन = न रिष्येम कदाचन (वा० सं० 34/41)।

(4) पदादि आमन्त्रित पद भी आद्युदात्त होता है।[6] यथा—अग्ने (वा० सं० 3/93)।

(5) मृग का वाचक कृष्णपद आद्युदात्त होता है।[7] यथा—कृष्णः (वा० सं० 2/1)।

(6) विकारी अन्तः पद भी आद्युदात्त होता है।[8] पद दो प्रकार का होता है—(1) व्ययवान् (विकारी) तथा (2) अव्ययवान् (अविकारी)। जिसका विभक्ति

---

1. सर्वमग्ना3इ लाजी3न् शाची3 निति त्रिमात्राणि च। (वा० प्रा० 2/5)
2. प्रणवश्च (वा० प्रा० 2/51)
3. इडोत्तराणि नव स्वानोत्तराणि षडग्न्युत्तराणि चत्वारि भगोत्तराणि चेन्द्रोत्तरमेकं सिनीवाल्युत्तरं च प्रजापतये ब्रह्मन्निति च। (वा० प्रा० 2/21, प्रा० प्र० शि० 177)
4. भूतिराद्युदात्तम्। (वा० प्रा० 2/22, प्रा० प्र० शि० 178)
5. कदा नरिष्येमपूर्वम्। (वा० प्रा० 2/23, प्रा० प्र० शि० 179)
6. आमन्त्रितं च। (वा० प्रा० 2/24, प्रा० प्र० शि० 180)
7. कृष्णो मृगसंयोगे। (वा० प्रा० 2/25, प्रा० प्र० शि० 181)
8. व्ययवांश्चान्तः। (वा० प्रा० 2/26, प्रा० प्र० शि० 182)

इत्यादि में विकार हो जाता है वह व्ययवान् पद है तथा जिसका विभक्ति इत्यादि में विकार नहीं होता अर्थात् तीनों लिङ्गों, सभी विभक्तियों और सभी वचनों में एक समान रहता है वह अव्ययवान् पद हैं। प्रस्तुत विधान व्ययवान् अथवा विकारी अन्तःपद के लिए है, यथा—अन्तःपृथिव्या (वा० सं० 23/62)।

(7) प्रधान अर्थ में होने पर "पर" शब्द आद्युदात्त होता है।[1] यथा—इयं वेदिः परः (वा० सं० 23/62)।

(8) परिमाण अर्थ में मात्रा पद आद्युदात्त होता है।[2] यथा—कस्य मात्रा न विद्यते (वा० सं० 23/47)।

(9) दक्षिणा पद आद्युदात्त होता है।[3] यथा—तस्य दक्षिणा (वा० सं० 14/42)।

(10) शरीर के अङ्ग का वाचक कर्ण शब्द आद्युदात्त होता है।[4] यथा—भद्रं कर्णेभिः (वा० सं० 25/21)।

(11) नपुंसक लिङ्ग में विद्यमान महः पद आद्युदात्त होता है।[5] यथा—महस्थ महो वः (वा० सं० 3/20)

(12) नपुंसक लिङ्ग में श्रवः पद भी आद्युदात्त होता है।[6] यथा—अग्ने तव श्रवो वयः (वा० सं० 12/106)।

(13) शक्ति अर्थ में अन्धः पद आद्युदात्त होता है।[7] यथा—अन्धस्थान्धो (वा० सं० 3/20)।

(14) वर्ण अर्थ में एता पद आद्युदात्त होता है[8] यथा—एता एन्द्राग्ना (वा० सं० 24/8)।

---

1. परः प्रधाने (वा० प्रा० 2/27, प्रा० प्र० शि० 183)
2. मात्रा च परिमापे (वा० प्रा० 2/28, प्रा० प्र० शि० 184)
3. दक्षिणा च (वा० प्रा० 2/29, प्रा० प्र० शि० 185)
4. कर्णः स्वराङ्गे (वा० प्रा० 2/31, प्रा० प्र० शि० 187)
5. महो नपुंसके (वा० प्रा० 2/32, प्रा० प्र० शि० 188)
6. श्रवश्च (वा० प्रा० 2/33, प्रा० प्र० शि० 189)
7. अन्धो वीर्ये (वा० प्रा० 2/34, प्रा० प्र० शि० 190)
8. एता वर्णे (वा० प्रा० 2/35, प्रा० प्र० शि० 191)

(15) समास में स्थित न होने पर रंग वाची रोहित पद आद्युदात्त होता है।[1] जैसे रोहितो धूम्ररोहितः (वा॰ सं॰ 24/2)।

(16) राट् बाद में होने पर यन्त्री शब्द आद्युदात्त होता है।[2] यथा—यन्त्री राट् (वा॰ सं॰ 24/22)।

(17) सम्बोधन न होने पर औषधीः पद आद्युदात्त होता है।[3] यथा—या औषधीः (वा॰ सं॰ 12/75)।

(18) सर्वे, विश्व, मानुषा, आशाः, स्वाहा, वाजः, पयः और नमः—ये पद आद्युदात्त होते हैं।[4] यथा—सर्वे निमेषा (वा॰ सं॰ 32/2) इत्यादि।

(19) शिवा, सुषदा, पयस्वती, यत्तो, मधुमतीः, वर्चस्वान्, ओजिष्ठः, भ्राजिष्ठ, शुष्मिणी, भद्रवाच्याय, वन्द्यः, मेध्यः, यमः, आदित्यः, त्रितः, सोमेन और स्वसा—ये पद बाद में होने पर असि पद आद्युदात्त होता है।[5] यथा—सूक्ष्मा चासि शिवा (वा॰ सं॰ 1/27) इत्यादि।

(20) धनदा और रत्नधा से परवर्ती असि पद भी आद्युदात्त होता है[6] यथा— धनदा असि (वा॰ सं॰ 9/28)। रत्नधा असि (वा॰ सं॰ 26/11)।

(21) पोष पद बाद में न होने पर रायः आद्युदात्त होता है।[7] यथा—त्वे रायो मे रायः (वा॰ सं॰ 4/22)।

(22) बद्ध और हित बाद में होने पर त्रिधा पद आद्युदात्त होता है।[8] यथा—त्रिधा बद्धः (वा॰ सं॰ 17/91)। त्रिधा हितम् (वा॰ सं॰ 17/92)।

(23) भूतकाल अर्थ में होने पर सुकृत पद आद्युदात्त होता है।[9] यथा— उरुः पृथुः सुकृतः (वा॰ सं॰ 7/39)।

---

1. रोहितश्च केवलः (वा॰ प्रा॰ 2/36, प्रा॰ प्र॰ शि॰ 192)
2. यन्त्री राट् (वा॰ प्रा॰ 2/37, प्रा॰ प्र॰ शि॰ 193)
3. औषधीरनामन्त्रिते (वा॰ प्रा॰ 2/38, प्रा॰ प्र॰ शि॰ 194)
4. सर्वविश्वमानुषाशाः स्वाहा वाजः पयो नमः (वा॰ प्रा॰ 2/39, प्रा॰ प्र॰ शि॰ 195)
5. असि शिवा···स्वसेत्येषु (वा॰ प्रा॰ 2/40, प्रा॰ प्र॰ शि॰ 196)
6. धनदारत्नधाभ्यां च (वा॰ प्रा॰ 2/41, प्रा॰ प्र॰ शि॰ 197)
7. रायो पोषे (वा॰ प्रा॰ 2/42, प्रा॰ प्र॰ शि॰ 198)
8. त्रिधा बद्धहितयोः (वा॰ प्र॰ 2/44, प्रा॰ प्र॰ शि॰ 200)।
9. सुकृतम्भूते (वा॰ प्रा॰ 2/45, प्रा॰ प्र॰ शि॰ 201)

(24) पक्ती: और हस पद आद्युदात्त अथवा अन्तोदात्त होते हैं[1] यथा—(आद्युदात्त) पचन्पक्ती: (वा० सं० 21/59)। पुंश्चलं हसाय (वा० सं० 30/20)। भाष्यकारों ने यहाँ केवल आद्युदात्त का ही उदाहरण दिया है।

आद्युदात्त पद के अपवाद

(1) दश, विश्वकर्मा, निषद्य, इन्द्रस्य, पातु, सद: और सद्भ्य:—ये पद बाद में होने पर दक्षिणा पद आद्युदात्त नहीं होता।[2] यथा—दक्षिणा दश (वा० सं० 16/64) इत्यादि। यह (वा० प्रा० 2/29) का अपवाद है।

(2) भागम् और ईषिशे बाद में होने पर "राय:" पर आद्युदात्त नहीं होता।[3]

अन्तोदात्त पद

अन्तोदात्त पद में पद का अन्तिम अक्षर उदात्त होता है। अन्तोदात्त पद इस प्रकार हैं—

(1) विचार अर्थ में प्रयुक्त दो आसीत् पदों में से प्रथम आसीत् पद अन्तोदात्त होता है।[4] यथा—अध: स्विदासी३त् (वा० सं० 32/74)।

(2) वह द्वन्द्व समास भी अन्तोदात्त होता है जिसका पूर्वपद इन्द्र अथवा सोम तथा उत्तर पद पूषा, अग्नि अथवा वायु हो।[5] यथा—इन्द्रापूष्णो:।

(3) अग्नि पूर्वपद तथा इन्द्र उत्तर पद होने पर द्वन्द्वसमास अन्तोदात्त होता है।[6] यथा—अग्नीन्द्राभ्याम् (वा० सं० 7/32)।

(4) ऋक् पूर्वपद तथा साम उत्तर पद होने पर द्वन्द्व समास अन्तोदात्त होता है।[7] यथा—ऋक्सामाभ्याम् (वा० सं० 4/1)।

(5) गति अर्थ में विद्यमान यत: अन्तोदात्त होता है।[8] यथा—स्वयंत: (वा० सं० 11/3)।

---

1. पक्तीर्हंसयोरन्त उदात्त आदिर्वा (वा० प्रा० 2/64)
2. दश विश्वकर्मा निषद्येन्द्रस्य पातु सद: सद्भ्येषु (वा० प्रा० 2/30)
3. न भागमीशिषयो: (वा० प्रा० 2/43)।
4. पूर्वमन्तोदात्तम्। (वा० प्रा० 2/54, प्रा० प्र० शि० 207)
5. द्वन्द्वं चेन्द्रसोमपूर्वंपूषाग्निवायुषु। (वा० प्रा० 2/55, प्रा० प्र० शि० 208)।
6. अग्निश्चेन्द्रे। (वा० प्रा० 2/56, प्रा० प्र० शि० 209)।
7. ऋक्साम्नि च। (वा० प्रा० 2/57, प्रा० प्र० शि० 210)।
8. यतो गतौ। (वा० प्रा० 2/58, प्रा० प्र० शि० 211)।

(6) पायुः से परवर्ती विशः पद अन्तोदात्त होता है।[1] यथा—पायुर्विशः (वा० सं० 13/11)।

(7) अर्यमा, उर्वशी तथा अस्ति से परवर्ती आयु पद अन्तोदात्त होता है।[2] यथा—उर्वश्यस्यायुः (वा० सं० 5/2)।

(8) रोचना, असौ, बोधा मे, पारम्, पुर एतारः, दिवः, कः, अहम्, त्वम्, महीम् य ईशे और ईशानम्—इन पदों से परवर्ती अस्य पद अन्तोदात्त होता है।[3] यथा—रोचनास्य (वा० सं० 3/7) इत्यादि।

(9) प्रत्नाम, यज्ञस्य, हविषः, पाहि, इत्, पातम्, मध्वः, यजमानस्य, होतुः[4] अजरासः और लोकः—ये पद वार में होने पर भी अस्य पद अन्तोदात्त होता है यथा—अस्य प्रत्नाम् (वा० सं० 3/16) इत्यादि।

द्विरुदात्तपद

(1) बृहस्पतिः, वनस्पतिः, नराशंसः, तनूनप्त्रे, तनूनपात्, नक्तोषासा, उषासानवता, द्यावापृथिवी, द्यावाक्षामा, क्रतूदक्षाभ्याम्, एतवै और अन्वेतवे—ये पद दो उदात्त वाले हैं[5] यथा—बृहस्पतिः (वा० सं० 17/40) इत्यादि।

(2) सम्बोधन न होने पर देवता द्वन्द्व समास पद भी दो उदात्त वाले होते हैं[6] यथा—अग्नीषोमाभ्याम् (वा० सं० 1/10)।

त्र्युदात्तपद

इन पदों में तीन अक्षर उदात्त होते हैं। वा० प्रा० के अनुसार इन्द्राबृहस्पतिभ्याम् और इन्द्राबृहस्पती—इन दो पदों में तीन-तीन उदात्त होते हैं[7] यथा—इन्द्राबृहस्पतिभ्याम् (वा० सं० 7/23) । इन्द्राबृहस्पती (वा० सं० 25/6)

---

1. पायोर्विशः। (वा० प्रा० 2/59, प्रा० प्र० शि० 211)।
2. आयुरर्यमोर्वश्यास्तिभ्यः। (वा० प्रा० 2/60, प्रा० प्र० शि० 212)।
3. अस्य रोचनासौ···ईशानेभ्यः। (वा० प्रा० 2/61, प्रा० प्र० शि० 213)।
4. प्रत्नां यज्ञस्य···लोकेषु च (वा० प्रा० 2/62, प्रा० प्र० शि० 214)।
5. द्विरुदात्तानि। बृहस्पतिर्वनस्पतिर्न···अन्वेतवा इति च।
(वा० प्रा० 2/46–47, प्रा० प्र० शि० 202, 203)
6. देवताद्वन्द्वानि चानामन्त्रितानि (वा० प्रा० 2/48, प्रा० प्र० शि० 204)
7. इन्द्राबृहस्पतिभ्यामिन्द्राबृहस्पती इति त्रीणि।
(वा० प्रा० 2/49, प्रा० प्र० शि० 205)

सर्वानुदात्त पद

इन पदों में सभी अक्षर अनुदात्त होते हैं। इन्हें अनुदात्त पद भी कहा जाता है। सर्वानुदात्त पद ये हैं—

पूर्वपदमूलक सर्वानुदात्त पद—

(1) गृभः, भुवः और अग्नि के बाद में स्थित यथा पद अनुदात्त होता है[1] यथा—गृभो यथा (वा० सं० 12/85) इत्यादि।

(2) अग्ने पद से बाद में स्थित घृतेन पद अनुदात्त होता है[2] यथा—अग्ने घृतेन (वा० सं० 17/:0)।

(3) प्र है पूर्व में जिसके ऐसा चिकितः पद सर्वानुदात्त होता है[3] यथा—प्रचिकितः (वा० सं० 19/52)।

(4) इह से बाद में स्थित श्रुतम् पद अनुदात्त होता है[4] यथा—इह श्रुतम् (वा० सं० 7/9)।

(5) कोई भी पद पूर्व में होने पर मन्ये पद सर्वत्र अनुदात्त होता है[5] यथा—होतारं मन्ये (वा० सं० 15/47)।

अनुदात्त सर्वनामपद

(1) अस्मद् अर्थ के वाचक तथा क्रमशः बहुवचन, द्विवचन तथा एकवचन में प्रयुक्त नः, नो और मे—ये (तीन) पद अनुदात्त होते हैं[6] यथा शन्नः (वा० सं० 36/11) इत्यादि।

(2) अस्मद् अर्थ का वाचक मा पद भी अनुदात्त होता है[1] यथा—मा (वा० सं० 9/19)।

---

1. यथागृभोभुवोऽग्निभ्यः (वा० प्रा० 2/9, प्रा० प्र० शि० 165)।
2. अग्ने घृतेनेति च (वा० प्रा० 2/11, प्रा० प्र० शि० 167)।
3. प्रतिकितश्च (वा० प्रा० 2/12, प्रा० प्र० शि० 168)।
4. इहपूर्वं श्रुतम् (वा० प्रा० 2|14, प्रा० प्र० शि० 170)।
5. मन्ये पदपूर्वं सर्वत्र (वा० प्रा० 2/15, प्रा० प्र० शि० 171)।
6. अनुदात्तम्। नो नो ऐ मदर्थे त्रिद्वयेकेषु (वा० प्रा० 2/3, प्रा० शि० 159, 160)।
1. मा च (वा० प्रा० 2/4, प्रा० प्र० शि० 161)।

(3) युष्मद् अर्थ वाले तथा क्रमशः बहुवचन, द्विवचन तथा एकवचन में प्रयुक्त वः, वाम तथा ते—ये पद अनुदात्त होते हैं[1]। यथा—तं वो दस्मम् (वा० सं० 26/11)।

(4) युष्मद् अर्थ का वाचक त्वा पद भी अनुदात्त होता है[2]। यथा—तन्त्वा (वा० सं० 3/26)।

(5) पूर्वपदों द्वारा प्रज्ञापित अर्थ का द्योतक सर्वनाम पद (अनुदेश) अनुदात्त होता है[3]। यथा—घासमस्मै (वा० सं० 11/75); यहाँ अस्मै पद मन्त्र में प्रयुक्त अश्वपद का सर्वनाम पद है ("भरन्तो श्वायेव तिष्ठते घासमस्मै")। अतः यह सर्वानुदात्त है।

(6) पाप का वाचक न होने पर एनः—यह सर्वनाम पद सभी लिङ्गों और सभी वचनों में अनुदात्त होता है[4]। यथा—पुलिङ्ग—उदेन (वा० सं० 17/50)। स्त्रीलिङ्ग गमेनाम् (वा० सं० 12/15) इत्यादि।

(7) वा० प्रा० 2/61–62 में विहित स्थलों को छोड़कर अन्यत्र अस्य पद सर्वानुदात्त होता है[5]। यथा—षडस्य (वा० सं० 23/58)।

अनुदात्त सम्बोधन पद

वा० प्रा० में सर्वानुदात्त सम्बोधन पदों का विधान करते हुए कहा गया है कि कोई भी पद पूर्व में न होने पर सम्बोधन पर सर्वानुदात्त होता है यदि वह सम्बोधन पद अनेक अर्थों का वाचक न हो तथा पाद के प्रारम्भ में भी न हो।[6] तात्पर्य यह है कि सम्बोधन पद के सर्वानुदात्त होने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं।

1—उस सम्बोधन पद के पूर्व में कोई न कोई पद होना चाहिए।

2—वह सम्बोधन पद अनेक अर्थों का अभिधायक न हो।

3—वह पाद के आदि में न स्थित हो।

इन प्रतिबन्धों को पूरा करने वाला सम्बोधन पद अनुदात्त होता है यथा—त्वमग्ने (वा० सं० 4/16)। वा० प्रा० में यह विधान किया गया है कि पद है पूर्व

1. वो वान्ते त्वदर्थे (वा० प्रा० 2/5, प्रा० प्र० शि० 161)।
2. त्वा च (वा० प्रा० 2/6, प्रा० प्र० शि० 162)।
3. पूर्ववाननुदेशः (वा० प्रा० 2/7, प्रा० प्र० शि० 163)।
4. एनोऽपापे (वा० प्रा० 2/13, प्रा० प्र० शि० 169)।
5. अनुदात्तमन्यत् (वा० प्रा० 2/63, प्रा० प्र० शि० 171)।
6. पदपूर्वमामन्त्रितमनानार्थे पादादौ (वा० प्रा० 2/17, प्रा० प्र० शि० 173)।

में जिसके ऐसे अनेक का वाचक न होने वाले तथा अपदादि सम्बोधन पद से व्यवधान रहित परवर्ती षष्ठी विभक्ति वाला एक पद की भाँति माना जाता है।[1] परिणामतः वह भी अनुदात्त स्वर को प्राप्त करता है। यथा—देवीरापो अपान्नपात् (वा० सं० 6/27)।

अपवाद

(1) वा० प्रा० के अनुसार इन स्थलों पर सम्बोधन पद के साथ-साथ एकार्थी भाव न होने से एक पद के समान स्वर नहीं होता। यथा—पृथिविदेवयजन्योषध्याः (वा० सं० 1/25)। देव भूरेः (वा० सं० 8/6)। पवित्रपते पवित्रपूतस्य (वा० सं० 4/4)। अपान्नपात् (वा० सं० 8/24)। गृणान्नृपते (वा० सं० 11/27)। सोमाग्नेः (वा० सं० 8/50)। सोमेन्द्रस्य (वा० सं० 8/50)। सोम सुवीर्यस्य (वा० सं० 7/14)। सोम विश्वेषां देवानाम् (वा० सं० 8/50)। प्रजापते यस्य (वा० सं० 18/44)। यस्य देव (वा० सं० 7/7)। अग्ने तव (वा० सं० 12/106)। अग्ने वाजस्य (वा० सं० 15/35)। अग्ने वरुणस्य (वा० सं० 21/3)। आपो अस्माकम् (वा० सं० 4/12)।[2] प्रस्तुत विधान वा० प्रा० 2/18 का अपवाद है।

(2) वा० प्रा० के विधान के अनुसार ये सम्बोधन पद अनुदात्त नहीं होते—सुमङ्गल सत्यराजन् (वा० सं० 20/4)। विकिरिद्र विलोहित (वा० सं० 16/52)। दरिद्र नीललोहित (वा० सं० 16/47)। श्रेयस्कर भूयस्करः (वा० सं० 10/28)। अम्बे अम्बिके (वा० सं० 23/28)। शरव्ये ब्रह्मसंशिते (वा० सं० 17/45)। मरुतो अश्विना (वा० सं० 32/47)। यव्ये गतये (वा० सं० 13/8)। द्यावापृथिवी उरः (वा० सं० 4/7)। अग्ना३इ पत्नीवन् (वा० सं० 8/10)। लाजीन् शाची३न् (वा० सं० 23/8)। मीढुष्टम शिवतम (वा० सं० 16/51)। सहस्राक्ष शतेषुधे (वा० सं० 16/13)। तथा वसुपते वसुदावन् (वा० सं० 12/43)।[3] ये स्थल वा० प्रा० 2/17 द्वारा विहित विधान के अपवादरूपेण अवस्थित है।

---

1. तेनानन्तरा षष्ठ्येकपदवत् (वा० प्रा० 2/18, प्रा० प्र० शि० 174)।
2. न पृथिविदेवयजन्योषध्या…आपो अस्माकम्। (वा० प्रा० 2/19, प्रा० प्र० शि० 175)
3. सुमङ्गलसत्यराजन्…वसुपते वसुदावन् (वा० प्रा० 2/20, प्रा० शि० शि० 176)।

अनुदात्त क्रियापद

(1) सम्बोधन की भाँति क्रिया पद सर्वानुदात्त होता है।[1] इस सूत्र पर भाष्यकार उवट का कथन है कि सम्बोधन पद जिन कारणों से सर्वानुदात्त होते हैं उन्हीं कारणों से क्रियापद भी।[2] तात्पर्य यह है जिस प्रकार पद के बाद में स्थित अनेक अर्थों के वाचक न होने पर तथा पाद के आदि में विद्यमान न होने पर सम्बोधन पद अनुदात्त होते हैं उसी प्रकार पद के बाद में स्थित अनेक अर्थों के वाचक न होने पर तथा पाद के आदि में न होने पर क्रियापद भी अनुदात्त होते हैं। वे ही क्रियापद अनुदात्त होते हैं जिनके पूर्व में कोई पद अवश्य हो; जो अनेक अर्थों के वाचक न हों। यथा—स्तेन ईशत (वा० प्रा० 1/1)। (2) असि पद सामान्यतः अनुदात्त होता है[3]। यथा—वेदिरसि (वा० सं० 2/1)।

अपवाद

वा० प्रा० के तेरह सूत्रों में क्रियापद के अनुदात्त होने के अपवाद का विधान किया गया है। इनमें से अन्तिम चार विधानों (6/11–23; में से 20–23) के वैदिक उदाहरण उपलब्ध नहीं होते। अतः भाष्यकारों ने लौकिक उदाहरण दिया है। इन सूत्रों में क्रियापद के सर्वानुदात्त होने के अपवाद के रूप में उनके प्रकृति स्वर से रहने का विधान किया गया है। जो इस प्रकार हैं—

(1) क्रियापद पूर्व में होने पर क्रियापद अपने प्रकृति स्वर (मूल स्वर) से रहता है अर्थात् सर्वानुदात्त नहीं होता[4]। यथा—पिवन्तु। मदन्तु। व्यन्तु (वा० सं० 21/42)। यहाँ आख्यात पूर्व में होने से परवर्ती क्रियापद अपने प्रकृति स्वर से है। प्रस्तुत विधान वा० प्रा० 6/1 का अपवाद है।

(2) उदात्त स्वर युक्त सम्बोधन पद से अव्यवहित परवर्ती क्रियापद अपने प्रकृतिस्वर से रहता है[5]। यथा—अग्ने पवस्व (वा० सं० 8/38)।

---

1. अनुदात्तमाख्यातमामन्त्रितवत् (वा० प्रा० 6/1)।
2. यैरेव कारणैरनुदात्तमामन्त्रितम् भवति तेनैवकारणैराख्यातमपि। (वा० प्रा० 6/1 उ०)
3. असि। (वा० प्रा० 2/8, प्रा० प्र० शि० 164)।
4. प्रकृत्याख्यातमाख्यातपूर्वम्। (वा० प्रा० 6/11)
5. उदात्ताच्चामन्त्रितादनन्तरम्। (वा० प्रा० 6/12)

(3) एक पद से व्यवहित होने पर भी उदात्त-युक्त सम्बोधन पद से परवर्ती क्रियापद अपने मूल स्वर से रहता है[1]। यथा—ब्रह्मन्नश्वम्भन्त्स्यामि (वा० सं० 22/41)।

(4) "यत्" शब्द के सभी प्रत्ययान्त और विभक्त्यान्त रूपों (यद्वृत्तोपपद) से सम्बद्ध परवर्ती क्रियापद अपने प्रकृतिस्वर से रहता है[2]। यथा—यमाहुर्मनवः (वा० सं० 15/49)।

(5) "हि" से परवर्ती क्रियापद अपने प्रकृतिस्वर से रहता है[3]। यथा—आपो हिष्ठा (वा० सं० 11/50)।

(6) हि पद वाद में होने पर भी क्रियापद अपने प्रकृति-स्वर से रहता है[4]। यथा—इन्दवो वामुशन्ति हि (वा० सं० 7/8)।

(7) नेत् से परवर्ती क्रियापद अपने प्रकृतिस्वर से रहता है[5]। यथा—एष नेत्त्वदवचे (वा० सं० 2/17)।

(8) समनसः से परवर्ती करत'''यह क्रियापद अपने प्रकृतिस्वर से रहता है[6]। यथा—समनसस्करत् (वा० सं० 7/25)।

(9) दो क्रियापदों के समुच्चय अर्थात् एक ही अर्थ में प्रयुक्त होने पर पूर्ववर्ती क्रियापद अपने प्रकृति स्वर से रहता है[7]। यथा—शर्म। च। स्थः। वर्म। च। स्थः (वा० सं० 11/30)।

(10) दो क्रियापदों के विचार अर्थ में विद्यमान होने पर पहला क्रियापद अपने प्रकृतिस्वर से रहता है[8]। यथा—देवदत्तों भुङ्क्ताम् वा यज्ञदत्तो वा भुङ्क्ताम्। (संहिता में उदाहरण अनुपलब्ध है अतः यह रूपोदाहरण है।)

---

1. एकान्तरादपि। (वा० प्रा० 6/13)
2. यद्वृत्तोपपदाच्च। (वा० प्रा० 6/14)
3. हेश्च (वा० प्रा० 6/15 प्रा० प्र० शि० 239)
4. उत्तरेऽपि (वा० प्रा० 6/16 प्रा० प्र० शि० 231)
5. नेत् (वा० प्रा० 6/17, प्रा० प्र० शि० 232.)
6. समनसस्करत् (वा० प्रा० 6/18, प्रा० प्र० शि० 233)
7. द्वयोः पूर्वं समुच्चये (वा० प्रा० 6/19, प्रा० प्र० शि० 234)।
8. वा विचारणे (वा० प्रा० 6/20; प्रा० प्र० शि० 235).

(11) दो क्रियापदों के विनियोग अर्थ में विद्यमान होने पर पहला क्रियापद अपने प्रकृति स्वर से रहता है[1]। यथा—देवदत्तो ह ग्रामं गच्छतु यज्ञदत्तो ह गा: पालयतु। यह भी रूपोदाहरण है।

(12) दो क्रियापदों के अवधारण अर्थ में विद्यमान होने पर पहला क्रियापद अपने प्रकृति स्वर से रहता है यदि एव शब्द द्वारा उन क्रियापदों का संयोग हो[2]। यथा—देवदत्त एव ग्रामं गच्छतु यज्ञदत्त एव भुङ्क्ताम्। यह भी रूपोदाहरण है।

(13) उपर्युक्त च, वा, ह, अह और एव—इन उपपदों का प्रयोग न होने पर भी पहला क्रियापद अपने प्रकृति स्वर से रहता है[3]। यथा—सुखं भवथ पवित्रकं भवथ। यह भी रूपोदाहरण है।

अनुदात्त उपसर्ग पद

कतिपय विशेष परिस्थितियों में उपसर्ग पद अनुदात्त होते हैं। भाष्यों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि वा० प्रा० में अनुदात्त उपसर्ग पद का विधान अपवाद के रूप में किया गया है[4]। अत: अपवादात्मक विधानों को समझने के लिए पहले उपसर्गों के प्रकृति स्वर का ज्ञान आवश्यक है। प्रकृतिस्वर बतलाने के सन्दर्भ में वा० प्रा० में परा, उप, अप, अव, प्रति, परि, अनु, अपि, अति, अधि, आङ्, प्र, सम्, निर्, दुर्, नि, वि, सु और अभि—इन बीस उपसर्गों की गणना की गयी है।[5] किन्तु उपसर्गों के प्रकृति स्वर का कोई निर्देश नहीं किया गया है। उवट ने इस सूत्र के भाष्य में उपसर्ग के प्रकृति-स्वर को बतलाते हुए कहा है कि व्याकरण-शास्त्र में कथित आद्युदात्त स्वर में अभि से अन्य उपसर्गों का प्रकृति-स्वर है।[6] उपसर्गों के इस स्वर के अपवाद के रूप में वा० प्रा० में अनुदात्त उपसर्गों का विधान किया गया है जो इस प्रकार है--

1. अह: विनियोगे (वा० प्रा० 6/21)।
2. एवावधारणे (वा० प्रा० 6/22)।
3. उपपदाप्रयोगऽपि च (वा० प्रा० 6/23)।
4. उपसर्ग उपसर्गे। (वा० प्रा० 6/2) इत्यादिक: पुरस्तादपवादो द्रष्टव्य: (वा० प्रा० 6/24 उ०) (प्रा० प्र० शि० 218)।
5. परोपावाव प्रति पर्यन्वप्यत्यध्याङ्प्रसंनिर्दुरुन्नि वि स्वभि।
   (वा० प्रा० 6/24, प्रा० प्र० शि० 217)
6. प्रकृतिस्वरस्तु व्याकरणपठितोऽत्र गृह्यते'''उपसर्गश्चाभिवर्जम्।
   (वा० प्रा० 6/24 उ०)

(1) उपसर्ग बाद में होने पर उपसर्ग अनुदात्त होता है[1] । यथा—"सम्प्रच्येवध्वम्" (वा० सं० 16/53) ।

(2) द्विरुक्त पद में परवर्ती उपसर्ग अनुदात्त होता है[2] । यथा—"संसमिति सम्-सम्" (वा० सं० 6/220)) ।

(3) उदात्त कृदन्त प्रत्यय बाद में होने पर अथवा उदात्त क्रियापद बाद में होने पर उपसर्ग अनुदात्त हो जाता है[3] । यथा—स्वराभरन्तः (वा० सं० 15/29) सम्भरन्ति (वा० सं० 25/29) ।

अपवाद

(1) अभि उपसर्ग तथा एकाक्षर उपसर्ग सर्वानुदात्त नहीं होता यदि वह कृदन्त से भिन्न पद के पदादि स्वर वर्ण के साथ सन्धि को प्राप्त हो[4] । यथा—अभ्यसिञ्चन् (वा० प्रा० 10/1) । अभ्यावर्त्तस्व (वा० सं० 12/103) । यहाँ प्रथम उदाहरण में क्रियापद तथा दूसरे उदाहरण में कृदन्त-भिन्न पद है और उपसर्ग की इनसे सन्धि प्राप्त है । अतः यहाँ उपसर्ग अनुदात्त नहीं हुआ है । यह वा० प्रा० 6/2 का अपवाद है ।

(2) पूत और जात बाद में होने पर आ उपसर्ग अनुदात्त नहीं होता[5] । यथा—आ पूतः (वा० सं० 4/2) । आ जातो विश्वा (वा० सं० 12/13) ।

(3) अधि, नि, प्र और प्रति उपसर्ग अनुदात्त नहीं होते यदि क्रमशः श्रित, अश्रिण, मानवः और पचत पद बाद में हो[6] । यथा—अधिश्रिताः (वा० प्रा० 20/32) इत्यादि ।

(4) उज्जेषम्, आवर्ते, आपनीफणत्, सनिष्यन्दत, संवतम्, प्रयाणम्, सञ्चरन्तम्, संरभध्वम्, प्रसितिम् और विक्रमस्व—ये पद बाद में होने पर अनु उपसर्ग अनुदात्त नहीं होता[7] । यथा—अनुज्जेषम् (वा० सं० 2/15) इत्यादि ।

---

1. उपसर्ग उपसर्गे (वा० प्रा० 6/2, प्रा० प्र० शि० 218) ।
2. आम्रेडिते चोत्तरः (वा० प्रा० 6/3, प्रा० प्र० शि० 219) ।
3. कृदाख्यातयोश्चोदात्तयोः (वा० प्रा० 6/4, प्रा० प्र० शि० 220) ।
4. नाभ्येकाक्षरश्च स्वरसन्धेये कृति (वा० प्रा० 6।5, प्रा० प्र० शि० 221) ।
5. आपूतजातयोः (वा० प्रा० 6।6, प्रा० प्र० शि० 221) ।
6. अधिनिप्रप्रतिश्रिताश्रिणं मानवः पचतेषु (वा० प्रा० 6।7, प्रा० प्र० शि० 223) ।
7. उज्जेषम्···इत्येष्वनु (वा० प्रा० 6।8, प्रा० प्र० शि० 224) ।

(5) उदात्त प्र उपसर्ग बाद में होने पर आ और उप उपसर्ग अनुदात्त नहीं होते[1]। यथा—आ प्रयातु (वा० सं० 18।72)। उप प्रागाच्छसनम् (वा० सं० 29।23)।

(6) अभिप्रेहि, उपसम्प्रयात्, प्रत्यातनुष्व और आसुषाव—में प्रथम उपसर्ग अनुदात्त नहीं होता[2]। यथा—अभिप्रेहि (वा० सं० 17।44) इत्यादि।

अनुदात्त निपातपद

वा, च, कम्, उ, चित्, समस्मात्, ध, ह, स्म, त्व, ईम, मर्याः, अरे, स्वित् अनुदात्त होते हैं यदि ये पद निपात हों[3]। यथा—वातो वा मनो वा (वा० सं० 9।7) अग्निश्च पृथिवी च (वा० सं० 26।1) इत्यादि।

कतिपय सर्वानुदात्त विशेष पद

(1) गिर्वणः पद अनुदात्त होता है[4]। यथा—गिर्वणः (वा० सं० 5। 29)।

(2) प्लुतस्वरान्त विवेशा3 पद सर्वानुदात्त होता है[5]। यथा—विवेशा३ (वा० सं० 23।49)।

(3) अग्ना3इ, लाजी3न्, शाची3न्—ये प्लुत पद सर्वानुदात्त होते हैं[6]। यथा—अग्ना3इ (वा० 8।10) इत्यादि।

अक्षर विभाजन—उदात्तादि स्वर स्वरवर्णों के धर्म हैं, व्यञ्जन के नहीं क्योंकि स्वरवर्णों का ही उच्चारण किसी अन्यवर्ण की सहायता के बिना होता है। जिन व्यञ्जनवर्णों का अन्य वर्ण (स्वर) की सहायता के बिना उच्चारण नहीं हो सकता उनमें उदात्तादि स्वर धर्म कैसे रह सकते हैं। व्यञ्जन के स्वर के विषय में वा० प्रा० में यह विधान किया गया है कि व्यञ्जन जिस स्वरवर्ण का

---

1. ओप प्रोदात्ते (वा० प्रा० 6।9, प्रा० प्र० शि० 225)।
2. अभिप्रेह्युपसम्प्रयातप्रत्यातनुष्वासुषाव। (वा० प्रा० 6।10, प्रा० प्र० शि० 226)।
3. वा च कमुचित्समस्मात् घहस्मत्व ईम् मर्या अरे स्विन्निपावश्चेत्। (वा० प्रा० 2।16)
4. गिर्वणः। (वा० प्रा० 2।10, प्रा० प्र० शि० 166)।
5. विवेशा3 इति चानुदात्तम्। (वा० प्रा० 2।52, प्रा० प्र० शि० 205)।
6. सर्वमग्ना3इ लाजी3न् छाची3निति त्रिमात्राणि च। (वा० प्रा० 2।50, प्रा० प्र० शि० 203)।

अंग होता है उस स्वरवर्ण के समान स्वर वाला हो जाता है।[1] या० शि० के अनुसार स्वरवर्ण उदात्त होता है, स्वरवर्ण अनुदात्त होता है, स्वरवर्ण स्वरित होता है। तीनों स्वर स्वरवर्णों पर आश्रित होते हैं। व्यञ्जन जिस स्वरवर्ण का अंग होता है उस स्वरवर्ण के समान स्वर वाला हो जाता है।[2]

अतः स्वरवर्ण तथा व्यञ्जन के अङ्गाङ्गि भाव का ज्ञान आवश्यक है। वा० प्रा० के अनुसार स्वरवर्ण तथा व्यञ्जन का अङ्गाङ्गि भाव इस प्रकार है— (1) संयोग का प्रथम व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का अंग होता है।[3] (2) यम भी पूर्ववर्ती स्वर का अंग होता है।[4] (3) द्वित्व से उत्पन्न व्यञ्जन भी पूर्ववर्ती स्वर का अंग होता है,[5] (4) द्वित्व से उत्पन्न वर्ण से परवर्ती व्यञ्जन भी पूर्ववर्ती स्वर का अंग होता है यदि उसके बाद स्पर्श हो।[6] (5) अवसान में स्थित व्यञ्जन भी पूर्ववर्ती स्वर का अंग होता है।[7]

1. व्यञ्जनं स्वरेण सस्वरम् (वा० प्रा० 1/107)
2. स्वरो उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च।
स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यञ्जनं तेन सस्वरम्॥ या० शि० 118
3. संयोगादिः पूर्वस्य (वा० प्रा० 1/102)
4. यमश्च (वा० प्रा० 1/103)
5. क्रमजं च (वा० प्रा० 1/104)
6. तस्माच्चोत्तरं स्पर्शे (वा० प्रा० 1/105)
7. अवसितं च (वा० प्रा० 1/106)

तृतीय अध्याय

मात्रा-प्रकरण

* उच्चारणकाल
* मात्रा-काल
* उच्चारण-काल के आधार पर स्वरों का विभाजन
* व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण-काल
* विराम-काल
* अनुस्वार का उच्चारण-काल

उच्चारण-काल

प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में कुछ न कुछ समय अवश्य लगता है। किसी वर्ण के उच्चारण में कम समय लगता है तो किसी में अधिक। वर्णों के उच्चारण में जो भी समय लगता है उसके परिमाण को बतलाने के लिए प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों में मात्रा शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार मात्रा समय की वह इकाई है जिसके द्वारा वर्णों के उच्चारण में लगने वाले समय को नापा जाता है।

"मापना" अर्थ वाली मा धातु से निष्पन्न "मात्रा" शब्द का अर्थ है—परिमाण। वर्णोच्चारण में लगने वाले समय का परिमाण बताने के लिए मात्रा शब्द का प्रयोग किया जाता है। मात्रा-काल कितने समय को कहा जाता है? इस विषय में प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों में अनेक विधान उपलब्ध होते हैं जिससे मात्राकाल का निर्धारण होता है।

मात्रा-काल

या० शि० में एकमात्रा-काल का निर्धारण करते हुए कहा गया है कि मात्रा-काल निमेष के बराबर होता है।[1] अर्थात् एक मात्रा-काल उतने ही समय को कहा जाता है। जितना समय एक निमेष (स्वाभाविकरूप से एक बार पलक गिरने) में लगता है। वहीं या० शि० में मात्रा के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों के मत भी प्रस्तुत किये गये हैं। कतिपय आचार्यों के अनुसार जितनी देर में बिजली चमकती है उतना समय एक मात्रा कहलाता है।[2] इसी शिक्षा में मात्रा-विषयक सोमशर्मा का मत प्रस्तुत किया गया है। सोमशर्मा का कथन है कि एक अक्षर के उच्चारण के पश्चात् दूसरे अक्षर के उच्चारण तक के बीच का समय एकमात्रा के बराबर होता है।[3] नारदीय शिक्षा में भी इसी तथ्य का उद्घाटन किया गया है।[4] या० शि० में मात्राकाल-निर्धारण की दूसरी पद्धति बतलायी गयी है।

1. निमेषो मात्राकालः स्यात्। (या० शि० 1/10)।
2. ······विद्युत्कालस्तथापरे। (या० शि० 1/10)।
3. अक्षरात्तुल्ययोगाच्च मतिः स्यात्सोमशर्मणः। (या० शि० 1/10)
4. निमेषकाला मात्रा स्याद्विद्युत्कालेति चापरे।
   अक्षरा तुल्ययोगा वा मतिः स्यात्सोमशर्मणः॥ (नारदीय शि० 2/3/8)

उसके अनुसार सूर्य की किरणों में दिखलायी देने वाले धूलि कणों के स्पन्दन में जितना समय लगता है, वह अणुमात्रा कहलाता है और अणुमात्रा का चौगुना मात्राकाल होता है।[1] यहीं पर एकमात्रिक वर्ण की उत्पत्ति में किस परिस्थिति में कितनी अणुमात्रा का समय लगता है; इसका भी निर्धारण हुआ है। इसके अनुसार एकमात्रिक वर्ण की मानसिक अभिव्यक्ति में एक अणुमात्रा, कण्ठगत वर्ण में द्विअणुमात्रा, जिह्वाग्र में तीन अणुमात्रा तथा मुख से बाहर आने में एकमात्रा (चार अणुमात्रा) का समय लगता है।[2] इसी शिक्षा में पक्षियों की ध्वनि के आधार पर एकमात्रा, द्विमात्रा तथा त्रिमात्रा का निर्धारण किया गया है। नीलकण्ठ पक्षी की बोली एक मात्राकाल वाली होती है। कौए की बोली दो मात्राकाल वाली तथा मयूर की बोली तीन मात्राकाल का बोध कराती है। माध्यन्दिन-शिक्षा में एकमात्रा का निर्धारण किया गया है। इसके अनुसार पलक मारने में एक मात्रा का समय लगता है।[3] अर्थात् एक मात्राकाल उतने ही समय को कहा जाता है, जितने समय में स्वाभाविक रूप से पलक गिरती है।

पाराशरी शिक्षा में क्षिप्र संज्ञा का विधान एकमात्रा काल को द्योतित करता है। इसमें क्षिप्र संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि क्षिप्र दीर्घ स्वर का अर्धमात्रिक होता है। इसका काल चुटकी बजाने के बराबर होता है। एक दीर्घ स्वर को और अधिक दीर्घ नहीं किया जा सकता। जितनी मात्रा दीर्घी की होती है उतनी ही मात्रा ऊष्म की होती है, अत एव दीर्घ एवम् ऊष्म के बराबर समय में उच्चारित होने के कारण क्षिप्र को ऊष्म के आधे समय में उच्चारित करना चाहिए।[4] इससे प्रतीत होता है कि क्षिप्र का उच्चारण-काल एकमात्रा हैं क्योंकि

---

1. सूर्यरश्मिप्रतीकाशात्कणिका यत्र दृश्यते।
   अणुत्वस्य तु सा मात्रा मात्रा च चतुराणवा॥ (या० शि० 1/11)
2. मानसं चाणवं विद्यात् कण्ठे विद्याद्विराणवम्।
   त्रिराणवं तु जिह्वाग्रे निःसृतं मात्रिकं विदुः॥ (या० शि० 1/12)
3. अक्ष्णोर्निमेषमात्रेण यो वर्णः समुदीर्यते॥ (माध्यन्दिन शि० 1/13)
4. क्षिप्रं दीर्घं समाख्यातमङ्गुल्यामेकमन्तरम्।
   दीर्घस्यार्धं भवेत् क्षिप्रं नास्ति दीर्घस्य दीर्घता॥
   यथासंख्या तु दीर्घस्य तथा चोष्मा प्रकीर्तिता।
   ऊष्मा दीर्घसमत्वं च क्षिप्रं कुर्यात् तदर्धकम्॥
   (पाराशरीशि०; शि० सं० पृ० 55)

दीर्घ का उच्चारणकाल दो मात्रा होता है। क्षिप्र का काल चुटकी बजाने में लगे समय के बराबर ही होता है; अतः एकमात्रा में उतना ही समय लगता है जितना कि चुटकी बजाने में।

इसके अतिरिक्त अन्य वेदों से सम्बन्धित प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में मात्राकाल का निर्धारण किया गया है किन्तु उनका विवेचन यहाँ संगत नहीं है।

उच्चारणकाल के आधार पर स्वर वर्णों का विभाजन

उच्चारणकाल के आधार पर स्वर वर्णों के तीन भेद हैं—(1) ह्रस्व, (2) दीर्घ तथा (3) प्लुत।

ह्रस्व

ह्रस्व स्वर वे कहलाते हैं; जिनका उच्चारण एकमात्रा काल में होता है। याज्ञवल्क्यशिक्षा के अनुसार एक मात्रा-काल वाला स्वर ह्रस्व कहलाता है।[1] वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा, माध्यन्दिन शिक्षा तथा पाराशरी शिक्षा में भी इसी तथ्य को उद्घाटित किया है। इनमें ह्रस्व संज्ञा का विधान तो नहीं हुआ है किन्तु प्रयोग अवश्य हुआ है जिससे स्पष्ट होता है कि अ, इ, उ, ऋ तथा ऌ ह्रस्व स्वर हैं।

पाराशरी शिक्षा में इसके लिए क्षिप्र संज्ञा का विधान किया गया है तथा उसे दीर्घ स्वर के आधे काल वाला बताया गया है।[2] अतः क्षिप्र का उच्चारण काल एकमात्रा होता है जिसका उल्लेख स्वयं शिक्षाकार ने किया है।[3]

दीर्घ

दो मात्रा काल में उच्चारित होने वाले स्वर वर्ण दीर्घ कहलाते हैं। इस विषय में सभी शिक्षा ग्रन्थों में मतसाम्य है। या० शि० में विधान किया गया है कि दीर्घ स्वरों का उच्चारण दो मात्राकाल में होता है।[4] वर्णरत्न-प्रदीपिका

---

1. एकमात्रो भवेद् ह्रस्वो……। (या० शि० 1/7)
2. मात्रा सह भवेद् दीर्घं ह्रस्वं मात्रां विना भवेत्।
   इत्यक्षरं विजानीयात् क्षिप्रं दीर्घं भवेदिति ॥
   (पाराशरी शि०, शि० सं० पृ० 55)
3. दीर्घस्यार्धं भवेत् क्षिप्रं नास्ति दीर्घस्य दीर्घता।
   (पाराशरी शि०, शि० सं० पृ० 55)
4. द्विमात्रो दीर्घमुच्यते……। (या० शि० 1/16)

शिक्षा, माध्यन्दिनशिक्षा तथा पाराशरी शिक्षा में भी इसी तथ्य को प्रतिपादित किया गया है।[1] इन शिक्षाओं में दीर्घ संज्ञा का विधान तो नहीं किया गया है किन्तु उनका प्रयोग अवश्य हुआ है। उनके अनुशीलन से पता चलता है कि आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ, ए, ऐ, ओ तथा औ दीर्घ स्वर हैं। यद्यपि ऌकार के भी दीर्घ रूप का प्रतिपादन हुआ है किन्तु माध्यन्दिनसंहिता में इसका दीर्घ रूप उपलब्ध नहीं होता है।[2]

प्लुत

ह्रस्व के तिगुने उच्चारण-काल वाला स्वर प्लुत कहलाता है। ह्रस्व का उच्चारण-काल एक मात्रा है अतः प्लुत का उच्चारण-काल तीन मात्रा होता है। या० शि० में इसी तथ्य को निर्दिष्ट किया गया है।[3] वर्णरत्न-प्रदीपिका तथा माध्यन्दिनशिक्षा में भी तीन मात्राकाल में उच्चारित स्वर को प्लुत कहा गया है। इन शिक्षाओं में प्लुत स्वरों का निर्देश नहीं किया गया है किन्तु इनके विधानों के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि आ३; ई३; ऊ३; ॠ३; ॡ३; ए३; ऐ३; ओ३; तथा ओ३; ये प्लुत स्वर हैं।

उल्लेखनीय है कि शुक्लयजुर्वेदसंहिता में या० शि० के अनुसार ऊ३; अग्ना३इ, लाजी३न्, शाची३न्, विवेशा३; अधः स्विदासी३त् तथा उपरि स्विदासी३त्—ये सात स्थल प्लुत के हैं। इनके अतिरिक्त माध्यन्दिनसंहिता में कोई आठवाँ प्लुत उपलब्ध नहीं होता।[4]

वस्तुतः संस्कृत में कोई भी स्वर अपने मूलरूप में प्लुत उच्चारित नहीं होता। दीर्घस्वर को ही अधिक देर तक उच्चारित करने से दीर्घस्वर प्लुत स्वर

---

1. मात्रा सह भवेद् दीर्घं ह्रस्वं मात्रां विना भवेत्।
   इत्यक्षरं विजानीयात् क्षिप्रं दीर्घं भवेदिति ॥
   (पाराशरी शि०, व० प्र० शि०, मा० शि०, शि० सं० पृ० 55)
2. ऌकारस्य तु दीर्घत्वं नास्ति वाजसनेयिनः। (या० शि० 2/4)।
3. त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयः। (या० शि० 1/16)।
4. ऊँकारस्तु प्लुतो ज्ञेयः प्लुतमग्नाद्वितीयकम्।
   लाजीनिति तृतीयञ्च शाचीनिति चतुर्थकम् ॥
   पञ्चमं तु विवेशाधः स्विदासीदितिषष्ठकम्।
   सप्तमन्तूपरिस्विदासीदष्टमं नैव विद्यते ॥ (या० शि० 2/22–23)

का रूप ग्रहण कर लेता है। ऋ० तं० में इसके लिए वृद्ध संज्ञा का प्रयोग हुआ है।[1]

प्लुत शब्द कमू कूदना अर्थ वाली प्लु धातु से क्त प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है—कूदा हुआ। गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार बाण की भाँति दूरगामी होने से इसे प्लुत कहा जाता है।[2] दूरगामी कहने का तात्पर्य यह है कि प्लुत स्वर एकमात्रा से तीन मात्रा को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् एकमात्रिक स्वर जब कूदकर तीन मात्राकाल में उच्चारित होता है तब प्लुत कहलाता है तथा द्विमात्रिक दीर्घ स्वर बढ़कर तीन मात्राकाल में उच्चारित होता है तब उसे वृद्ध (बढ़ा हुआ) स्वर कहते हैं। इसी तथ्य को डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने स्वीकारा है। उन्होंने इस विषय में कतिपय शिक्षाओं के मतों का उल्लेख करते हुए कहा है कि दो मात्राओं से संयुक्त ह्रस्व स्वर प्लुत कहा जाता है जबकि एकमात्रा से संयुक्त दीर्घ स्वर वृद्ध कहलाता है।[3] पतञ्जलि के अनुसार प्लुत सन्ध्यक्षरों (ऐ तथा औ) का उच्चारण काल चार मात्रा होता है।[4] पतञ्जलि के अनुसार सन्ध्यक्षरों में द्वितीय तत्त्व (परवर्ती भाग) प्लुत उच्चारित होता है। द्वितीय तत्त्व की मात्रा में ही वृद्धि होती है। वहीं पर महाभाष्यकार ने शाकटायन का मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि उनके अनुसार ऐ तथा ओ के दोनों तत्त्व (पूर्ववर्ती कण्ठ्य भाग तथा परवर्ती क्रमशः तालव्य एवम् ओष्ठ्य भाग) बराबर मात्रा वाले होते हैं। इस विषय में शाकटायन द्वारा दी गयी उपमा का भी उल्लेख हुआ है कि जिस प्रकार माता के गर्भ में स्थित शिशु के भी प्रत्येक अवयव समान-रूप से वृद्धि को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार इन सन्ध्यक्षरों के प्रत्येक अवयव

---

1. तिस्रो वृद्धम्। (त० 44)
2. शरादिवद्दूरगामित्वात्प्लुत इत्युच्यते।
   (तै० प्रा० 1/38 पर वैदिकाभरणभाष्य)
3. ह्रस्वं द्विमात्रासंयुक्तं प्लुतमाहुर्मनीषिणः।
   दीर्घं तु मात्रासंयोगाद् वृद्धमित्यभिधीयते ॥
   ह्रस्वं द्विमात्रं संयुक्तं प्लुतमाहुर्मनीषिणः।
   वृद्धः त्रिमात्रमेवापि व्यञ्जने त्वर्धमात्रिके ॥
   डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा कृत—A Critical Studies in the Phonetics Observations of Indian Grammaraians
4. पा० सू० 8/2/106 पर महाभाष्य।

समानरूपेण वृद्धि को प्राप्त होते हैं।[1] इस प्रकार अन्य प्लुत स्वरों की भाँति ऐ तथा ओ का उच्चारण भी तीन मात्रा में होता है। परन्तु महाभाष्यकार को शाकटायन का यह मत मान्य नहीं है। उनके अनुसार ऐकार तथा औकार में क्रमशः परवर्ती भाग तालव्य तथा ओष्ठ्य को तीन मात्रा काल के साथ पूर्ववर्ती कण्ठ्य भाग की एक मात्रा संयुक्त होने के कारण इन सन्ध्यक्षरों का उच्चारण चार मात्रा में होता है।

विशेष

उपर्युक्त स्वरों का उच्चारण-काल विषयक विधान केवल मध्यम वृत्ति को ध्यान में रखकर किया गया है। द्रुत तथा बिलम्बित वृत्तियों में उच्चारण का यह समय क्रमशः कम तथा अधिक लगता है। स्वर वर्णों का उच्चारण अपनी निर्धारित मात्रा से अधिक काल में भी हो सकता है। परन्तु परम्परागत इनका उच्चारण सामान्य दृष्टि से उपर्युक्त विवेचन के अनुसार ही होता है। संगीतशास्त्र में इन स्वरों का उच्चारण अधिक समय तक किया जाता है। गायक आलाप लेते समय किसी किसी स्वर को लम्बे समय तक उच्चारित करते रहते हैं।

व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण-काल

प्रायः सभी शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों में व्यञ्जन के उच्चारण-काल का प्रतिपादन किया गया है। इनके अनुसार व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण आधी मात्रा में होता है।[2] या० शि० तथा व० प्र० शि० के अनुसार व्यञ्जन आधी मात्राकाल वाला होता है।[3] अर्थात् व्यञ्जन का उच्चारण आधी मात्रा में होता है।

यहाँ शङ्का होती है कि जब अर्ध मात्रा में उच्चारित होने वाला वर्ण कण्ठ तक ही पहुँचता है तो ऐसी दशा में अर्धमात्रा में व्यञ्जन का श्रुतिगोचर होना असम्भव है। या० शि० शिक्षावल्ली में इस शङ्का को उठा कर उसका

---

1. इमावेचो समाहारवर्णो मात्रावर्णस्य मात्रेवर्णोवर्णयोरिति तयो प्लुत उच्यमाणे उभयवृद्धिं प्राप्नोति। तद्यथा अभिवर्द्धमानो गर्भः स्वाङ्गपरिपूर्णो वर्धते।
(पा० सू० 8।2।106 पर महाभाष्य)
2. इतरे च। (ऋ० प्रा० 1।34) ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनम् (तै० प्रा० 1।37)।
3. व्यञ्जनश्चार्धमात्रिकम्। (या० शि० 1/16 व० प्र० शि० 22)

समाधान किया गया है कि स्वर वर्ण सहित व्यञ्जन का उच्चारण स्वर की एक मात्रा की अपेक्षा आधी मात्रा अधिक में होता है।[1] तात्पर्य यह है कि व्यञ्जन अपने अंगी स्वर के सहित उस स्वर वर्ण के उच्चारण-काल से आधी मात्रा अधिक काल में उच्चारित होता है। ह्रस्वस्वर से संश्लिष्ट होने पर व्यञ्जन का उच्चारण उस स्वर सहित $1+\frac{1}{2}=1\frac{1}{2}$ मात्रा में तथा दीर्घ स्वर से संश्लिष्ट होने पर उसका उच्चारण उस स्वर-सहित $2+\frac{1}{2}=2\frac{1}{2}$ मात्रा में होता है। इस प्रकार व्यञ्जन का उच्चारण काल प्रत्येक दशा में आधी मात्रा ही है। वा० प्रा० में भी व्यञ्जन का काल आधी मात्रा माना गया है।[2] ऋ० तं० में तो व्यञ्जन के उच्चारण काल के विषय में विकल्प प्रस्तुत है। उसके अनुसार व्यञ्जन अर्धमात्रिक होता है किन्तु कतिपय आचार्य एकमात्रिक मानते हैं।[3] च० अ० (अथर्ववेदप्रातिशाख्य) में व्यञ्जन का उच्चारण-काल एकमात्रा माना गया है।[4] तै० प्रा० के भाष्यकार गार्ग्यगोपालयज्वा ने व्यञ्जन के परिस्थिति विशेष में उच्चारण-काल विषयक निर्देश किया है। इसके अनुसार ङ् ञ् ण् न् म् के उच्चारण में अधिक समय लगता है। ह्रस्व स्वर वर्ण से परवर्ती उच्चारित होने वाले नासिक्य व्यञ्जनों के उच्चारण में दो मात्रा का समय लगता है तथा दीर्घ और प्लुत स्वरों से परवर्ती उच्चारित होने वाले नासिक्य व्यञ्जनों के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है।[5] किन्तु ऐसा उच्चारण पदपाठ में ही होता है। संहितापाठ में यह उच्चारण सम्भव नहीं है जैसा कि भाष्य-

---

1. ननु व्यञ्जस्यार्धमात्रिकस्योच्चारणमसङ्गतम् । आणवद्वयमितायाः अर्ध-मात्रायाः कण्ठे परिसमाप्तत्वादिति । स्वरवर्णसहितस्य व्यञ्जनस्य स्वराधिष्ठितमात्राकालापेक्षयाधिकार्धमात्रयोच्चारणं कर्त्तव्यमित्यभिप्रेतत्वात् ।
(या० शि० 1/16 पर शि० वल्ली०)
2. व्यञ्जनमर्धमात्रा । (वा० प्रा० 1।59) ।
3. मात्रार्धमात्रा वा । (त० 38)
4. एकमात्रा ह्रस्वः । व्यञ्जनानि च । (च० अ० 1।59–60)
5. ङ्ञणनमां त्ववसानवर्तिनां कालाधिक्यं शिक्षायां स्मर्यते—
ह्रस्वात्परं तु नासिक्यं द्विमात्रं यत्तदुच्यते ।
दीर्घप्लुताच्च तन्मात्रमेकमात्रमिति श्रुतिः ॥
(तै० प्रा० 1।37 पर वैदिकाभरणभाष्य)

कार ने भाष्य में शिक्षा की कारिका को उद्धृत करके स्पष्ट किया है।[1] जैसे— प्राङ् प्रत्यङ् इत्यादि स्थलों पर ह्रस्व स्वर से परवर्ती का उच्चारण-काल दो मात्रा तथा लाजी3न्, शाची3न् इत्यादि स्थलों पर प्लुत स्वर से परवर्ती नकार का उच्चारण काल एक मात्रा है। भाष्यकार ने अवसानस्थ लकार के उच्चारण काल के विषय में शिक्षा की कारिका को उद्धृत किया है जिसके अनुसार अवसानस्थ लकार का उच्चारण-काल तीन चौथाई मात्राकाल होता है। व्यासशिक्षा में भी इसी तथ्य का उद्घाटन किया गया है।[2] अवसानस्थ ङकारादि की भाँति यह उच्चारणकाल पदपाठस्थ लकार-विषयक है। भाष्यकार ने स्वर-विहीन व्यञ्जन का उच्चारणकाल अणुमात्रा ($=\frac{1}{4}$ मात्रा) माना है।[3] व्यास शि० में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।[4] इसके उदाहरण के रूप में "अत्यन्यानगाम्" मन्त्रांश को उद्धृत किया गया है जिसमें अवसानस्थ मकार का उच्चारण अणु मात्राकाल में करने का उल्लेख हुआ है। ह्रस्व-स्वर से परवर्ती अवसानस्थ यकार, वकार तथा लकार का उच्चारण दो मात्रा काल में, व्यञ्जन परवर्ती इनका उच्चारण डेढ़ ($1\frac{1}{2}$) मात्राकाल में तथा दीर्घ स्वर से परवर्ती इनका उच्चारण एक मात्राकाल में होने का विधान हुआ है।[5] पाराशरी शिक्षा में ऊष्म तथा दीर्घ स्वर वर्णों का उच्चारण काल समान होता है।[6] दीर्घ का उच्चारण काल दो मात्रा होता है। इस प्रकार ऊष्म वर्णों का भी

---

1. अवसाने विशेषो यमन्येषां च न विद्यते।
संहितायां तु तन्मात्रः पदकालेऽधिको भवेत्।
(तै० प्रा० 1।37 पर वै० भाष्य)
2. अवसाने लकारस्य त्रिपादत्वं सदा भवेत्।
(तै० प्रा० 1।37 पर वै० भा०)
अवसाने लस्त्रिपादता। (व्या० शि० 448)।
3. अस्वरव्यञ्जनं नित्यमणुमात्रं प्रयुज्यते।
(तै० प्रा० 1/37 पर वै० भाष्य)
4. हल्युक्तं हलुत्तरं तदणुमत्रं प्रकीर्तितम्। (व्या० शि० 445)
5. द्विमात्रा यलवा ह्रस्वादध्यर्द्धा व्यञ्जनान्तरः।
दीर्घपूर्वात्परा रेफान्मात्रिका इति निर्णयः॥
(तै० प्रा० 1/37 पर वैदिकाभरणभाष्य)
6. यथा संख्या तु दीर्घस्य तथा वोष्मा प्रकीर्तिता।
ऊष्मा दीर्घसमत्वं च क्षिप्रं कुर्यात्तदर्धकम्॥ (पाराशरी शिक्षा 27)

उच्चारण-काल दो मात्रा निश्चित होता है। सर्वसम्मतशिक्षा में स्वर-विहीन व्यञ्जन का उच्चारणकाल अणुमात्रा तथा स्वर-युक्त व्यञ्जन का उच्चारण-काल आधी मात्रा माना गया है।[1]

आधुनिक ध्वनिवैज्ञानिकों ने यन्त्रों की सहायता से व्यञ्जन के उच्चारण में लगने वाले समय को ह्रस्व स्वर वर्ण के उच्चारण में लगने वाले समय के बराबर एक मात्रा माना हैं।

व्यञ्जन के उच्चारण-काल-विषयक उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि सामान्यतया परिस्थिति विशेष को छोड़कर अन्यत्र व्यञ्जन का उच्चारण-काल आधी मात्रा माना गया है जो आधुनिक वैज्ञानिकों की विचार-धारा से मेल नहीं खाता। प्राचीन आचार्यों के व्यञ्जनोच्चारणविषयक विधानों के सूक्ष्म निरीक्षण से यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः आधी मात्रा में श्रुतिगोचर होने के कारण ही आचार्यों ने व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण-काल आधी मात्रा माना है। स्पर्श वर्णों के उच्चारण में स्फोटन होने पर ही वर्ण सुनाई पड़ता है। जितने समय तक वायु स्फुटित होती रहती है उतने समय तक वर्ण श्रुतिगोचर होता है। अतः उतने ही काल को प्राचीन ध्वनि-वैज्ञानिक आचार्यों ने व्यञ्जन-वर्णों का उच्चारण-काल माना है। परन्तु व्यञ्जन के उच्चारण में आभ्यन्तर प्रयत्न से लेकर स्फोटन होने की स्थिति तक लगने वाला समय व्यञ्जन का उच्चारण-काल माना जाता है। इस विषय में च० अ० में प्रतिपादित व्यञ्जन वर्ण का उच्चारण काल एक मात्रा मानना अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।

विराम-काल

विराम का शाब्दिक अर्थ है—रुकना, उच्चारण का अभाव। जब किसी वाक्य अथवा पद का उच्चारण करते समय किसी स्थल-विशेष पर रुक कर पुनः अग्रवर्ती वर्ण का उच्चारण किया जाता है तो वहाँ कुछ समय के लिए उच्चारण का अभाव हो जाता है। इसी उच्चारण के अभाव वाले काल को विराम-काल कहा जाता है। व्या० शि० में विराम-काल का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि वर्णों (के उच्चारण) का अभाव (अनुच्चारण) विराम है।[2] व्या० शि० की एक टीका में भी वर्णों के अनुच्चारण को विराम कहा जाता है।[3] इस प्रकार

1. अस्वरं व्यञ्जनं नित्यमणुमात्रं प्रयुज्यते।
संसर्गाच्चेति बाहुल्यान् मात्रा वृद्धै प्रकीर्तिताः॥ (सर्वसम्मतशिक्षा–7)
2. वर्णाभावो विरामः…। (व्या० शि० 25)।
3. विरामः तूष्णीम्भूतः कालः स्यात्। (व्या० शि० 25 की व्याख्या)

विराम-काल वह काल है जो किसी वर्ण अथवा पद के उच्चारण के बाद दूसरे वर्ण या पद के उच्चारण के बीच रुकने के फलस्वरूप लगता है। पा० व्या० में (वर्णों का) अवसान विराम कहलाता है।[1] इस सूत्र की व्याख्या में सिद्धान्त-कौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित ने वर्णों के अभाव को अवसान कहा है।[2] इससे स्पष्ट होता है कि जहाँ वर्णों का उच्चारण समाप्त किया जाता है, वह विराम कहलाता है तथा उस विराम में लगने वाले समय को विरामकाल कहा जाता है। वेद-मन्त्रों के उच्चारण में यह विराम कई स्थलों पर होता है। मा० शि० के अनुसार विराम पाँच प्रकार का होता है—1—पाद-विराम, 2—अर्धर्च-विराम, 3—पद-विराम, 4—अर्थ-विराम, तथा 5—शब्द-विराम।[3] मा० शि० में ऋचाओं के मध्य तथा ऋचाओं के अन्त में क्रमशः द्विमात्रिक तथा त्रिमात्रिक विराम का निर्देश हुआ है।[4] अर्थात् ऋचा के आधे भाग के उच्चारण के पश्चात् दो मात्रा काल तथा ऋचा की समाप्ति के पश्चात् तीन मात्रा रुक कर क्रमशः ऋचा के उत्तरार्ध तथा अन्य अग्रवर्ती ऋचा का उच्चारण करना चाहिए। तै० प्रा० में ऋग्विराम, पद-विराम, विवृति-विराम और समानपद-विवृत्ति-विराम को क्रमशः तीन मात्रा, दो मात्रा, एक मात्रा तथा आधी मात्रा के बराबर बतलाया गया है।[5] इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकारों ने अनेक प्रकार की होने वाली विवृतियों के मध्य होने वाले विराम-काल के विषय में पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। गार्ग्य गोपालयज्वा के अनुसार ऋग्विराम दो प्रकार का होता है—(1) ऋचा के अन्त में विराम तथा (2) ऋचा के मध्य में विराम। ये दोनों विराम तीन मात्रा-काल वाले होते हैं। तात्पर्य यह है कि ऋचाओं का पाठ करते समय प्रत्येक अर्द्धर्च की समाप्ति पर तीन मात्राकाल तथा ऋचा के अन्त में भी तीन मात्राकाल का विराम होता है। भाष्यकार के

---

1. विरामोऽवसानम्। (पा० व्या० 1/4/110)
2. वर्णानामभावः अवसानसंज्ञः स्यात्।
(पा० व्या० 1/4/110 पर सि० कौ०)
3. क्वचित्पादविभागेन क्वचिदर्धे क्वचित्पदे।
क्वचिदर्थे क्वचिच्छब्दे विरामः पञ्चधा स्मृतः॥
(मा० शि० 4/3)
4. अर्धर्चे तथा पादे त्रिमात्रं स्यादृगन्तरम्। (मा० शि० 2/13)
अवग्रहेऽर्धमात्रं स्यात्कालो मात्रा पदान्तरे॥ (मा० शि० 2/13)
5. द्रष्टव्य–तै० प्रा० 22/13

अनुसार दो अनुवाकों के बीच एक मात्रिक विराम होता है तथा यजुर्मन्त्रों के अन्त में और प्रतीक मन्त्रों के अन्त में डेढ़ ($1\frac{1}{2}$) मात्रिक विराम होता है। एक ब्राह्मण का उच्चारण करने के उपरान्त डेढ़ ($1\frac{1}{2}$) मात्रिक विराम के बाद अगले ब्राह्मण का उच्चारण करना चाहिए।[1] पदपाठ में प्रगृह्य स्वर के बाद तथा इतिकरण होने पर ऋचा के अन्त में भी दो मात्रा-काल का विराम होता है। क्रमपाठ में प्रगृह्य स्वर के बाद में तीन मात्रा-काल वाला ऋग्विराम होता है।

या० शि० के अनुसार अर्धर्च पर दो मात्रा तथा ऋचा की समाप्ति के बाद में तीन मात्रा का विराम होता है।[2]

दो पदों के मध्य में होने वाला विराम पदविराम कहलाता है। या० शि० में इस विराम का काल एक मात्रा बतलाया गया है।[3]

पदपाठ में पदों को अलग-अलग करके पढ़ा जाता है। पदपाठ में पदों को अलग-अलग करके पाठ किया जाता है तो एक पद का उच्चारण करने के बाद एक मात्राकाल रुककर अगले पद का पाठ करते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक पद का पाठ एक-एक मात्रा रुक-रुक कर किया जाता है। पदों के बीच इस एकमात्रिक विराम को पदविराम कहा जाता है। पदपाठ में समस्त पदों, कुछ उपसर्ग तथा प्रत्यय वाले पदों को अवग्रह द्वारा अलग कर दिया जाता है। इन पदों को अवगृह्य पद कहा जाता है। अवगृह्य पदों को शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों में अवग्रह द्वारा अलग हुए पूर्ववर्ती तथा परवर्ती भाग को स्वतन्त्र (अलग-अलग) पद माना जाता है। अतः पदपाठ में इन अवगृह्य पदों के दोनों भागों के उच्चारण के मध्य में भी उच्चारण-काल का विराम होता है। इस अवग्रह-कालिक विराम को गार्ग्यगोपाल यज्वा ने एकमात्रिक माना है।[4] ऋ० प्रा० में इसी तथ्य का प्रतिपादन हुआ है।[5]

---

1. ऋचो विरामः ऋग्विरामः स द्विविधः'''ऋचोऽन्तेमध्ये चेति। अनुवाकमध्यवर्तिनो विरामस्तेषामध्यर्धमात्राकालः शिक्षायां स्मर्यते। ये शब्दाः यजुरन्तप्रतीकान्तब्राह्मणमध्यविरामस्तेषां विरामः षड्भिर्मात्रा पादेस्संमिता भवन्तीति। (तै० प्रा० 22।13 पर वै० भा०)
2. ऋचोऽर्धे तु द्विमात्रः स्यात् त्रिमात्रः स्यादृगन्तके। (या० शि० 1।14 पू०)
3. पदयोन्तरे कालः एकमात्रा विधीयते। (या० शि० 1।13)
4. अवग्रहाणामन्ते च विरामो मात्रिकस्मृतः।
(तै० प्रा० 22।13 पर वैदिकाभरण)
5. तावदवग्रहान्तरम्। (ऋ० प्रा० 1।28)

या० शि० में अवगृह्य पदों के मध्य में अवग्रह कालिक विराम को अर्ध-मात्रिक माना गया है।[1]

दो स्वरों के मध्य में विवृत्ति होती है। जब दो स्वर व्यञ्जन से अव्यवहित होते हैं तथा उन दोनों स्वरों की सन्धि के परिणाम-स्वरूप दोनों प्रकृतिभाव से रहते हैं तो उस अवस्था में दोनों स्वरों के उच्चारण के बीच में थोड़ा रुका जाता है। प्रथम स्वर वर्ण का उच्चारण करने के बाद थोड़ा रुककर तब दूसरें स्वरवर्ण का उच्चारण किया जाता है। उच्चारण-काल के इस व्यवधान को विवृत्ति कहा जाता है। यह विवृत्ति भी उच्चारण में विराम का कार्य करती है। इन दोनों स्वरों के बीच उच्चारणकाल के विराम को विवृत्तिविराम कहा जाता है। इस विवृत्ति के विराम-काल का प्रतिपादन शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों में किया गया है। या० शि० के अनुसार आकाश में बिजली के चमकने में लगे समय के बराबर तथा बाल काटते समय कैंची के एक बार किट् की ध्वनि करने के समय के बराबर विवृत्ति का विराम होता है[2]। सोमयार्य ने चारों प्रकार की विवृत्तियों का काल-निर्धारण अलग-अलग किया है।[3] उन्होंने इस विषय में किसी शिक्षा की एक कारिका उद्धृत की है इसके अनुसार वत्सानुसृति, वत्सानुसारिणी का उच्चारणकाल एकमात्रा, पाकवती का उच्चारणकाल तीन चौथाई (3/4) तथा पिपीलिका का उच्चारण काल एक चौथाई (1/4) मात्रा होता है।[4]

भाष्यकार उवट का मत इस विषय में सौमयार्य द्वारा उदधृत मत से भिन्न है। उनके अनुसार पिपीलिका नामक विवृत्ति जिसमें दोनों स्वर दीर्घ होते हैं, वह कम से कम 3/4 मात्रा वाली होती है। पाकवती जिसमें दोनों स्वर ह्रस्व होते हैं; वह एक चौथाई मात्रा वाली होती है तथा वत्सानुसृति एवं वत्सानुसारिणी विवृत्तियाँ आधी मात्राकाल वाली होती हैं।[5]

---

1. अवग्रहे तु कालः स्यादर्धमात्रात्मको हि सः। (या० शि० 1|13)
2. आकाशस्य यथा विद्युत्स्फुटिता मणिसूत्रवत्।
   एषच्छेदो विवृत्तीनां यथा बालेषु कर्त्तरी॥ (या० शि० 2/8)
3. विवृत्तियों के लिए द्रष्टव्य—सन्तान-प्रकरण
4. मात्रा च वत्सानुसृतिस्तथावत्सानुसारिणी।
   पादोना स्यात्पाकवती, पादमात्रा पिपीलिका॥
   (तै० प्रा० 22|13 पर त्रिभाष्यरत्नभाष्य में उद्धृत)
5. द्रष्टव्य—ऋ० प्रा० 2/4 पर उवटभाष्य।

इस प्रकार अनेक विरामकालों के विधान शिक्षाग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। वे विधान किसी न किसी प्रकार पाठविशेष की प्रक्रियाओं से सम्बन्धित है। विस्तारभय से उनका विवेचन नहीं किया जा रहा है।

अनुस्वार का उच्चारण-काल

अनुस्वार के उच्चारण-काल के विषय में शिक्षाग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण विधान प्रस्तुत किए गये हैं जो अत्यधिक सूक्ष्म तथा ध्वनिवैज्ञानिक हैं। शिक्षा-ग्रन्थों में अनुस्वार के तीन भेद किये गये हैं—(1) ह्रस्व, (2) दीर्घ तथा (3) गुरु। ह्रस्व स्वर वर्ण से परवर्ती अनुस्वार दीर्घ कहलाता है। दीर्घ स्वर से परवर्ती अनुस्वार ह्रस्व तथा गुरु अक्षर बाद में होने पर अनुस्वार गुरु कहलाता है।[1] इस विधान में संयोग बाद में होने पर अनुस्वार को गुरु कहा गया है। या० शि० में ह्रस्व स्वर वर्ण से परवर्ती अनुस्वार को द्विमात्रिक तथा दीर्घ स्वर वर्ण से परवर्ती अथवा संयोग से परवर्ती अनुस्वार को एकमात्रिक कहा गया है किन्तु संयुक्त व्यञ्जन बाद में होने पर भी अनुस्वार को ह्रस्व ही कहा गया है।[2]

वा० प्रा० के अनुसार ह्रस्व स्वर वर्ण से परवर्ती अनुस्वार का उच्चारण-काल डेढ़ मात्रा तथा पूर्ववर्ती स्वर का उच्चारण-काल आधी मात्रा होता है।[3] इसी प्रकार दीर्घ स्वर से परवर्ती अनुस्वार का उच्चारण-काल आधी मात्रा तथा पूर्ववर्ती स्वर डेढ़ ($1\frac{1}{2}$) मात्रिक होता है।[4] इससे स्पष्ट होता है कि ह्रस्व अनुस्वार का उच्चारण आधी मात्रा तथा दीर्घ अनुस्वार का उच्चारण डेढ़ मात्रा में होता है। उक्त विधान से यह भी स्पष्ट होता है कि अनुस्वार ह्रस्व हो अथवा दीर्घ; दोनों के पूर्ववर्ती स्वर वर्ण सहित उच्चारण में कुल दो मात्राओं का समय

---

1. ह्रस्वो दीर्घो गुरुश्चेति त्रिविधः परिकीर्तितः।
   ह्रस्वात्परो भवेद्दीर्घो हंस इति दर्शनम्॥
   दीर्घात्परो भवेद् ह्रस्वो माँसेभ्य इति दर्शनम्।
   गुरौ परे ह्यनुस्वारो गुरुरेव हि स स्मृतः॥ (ल० मा० शि० 13–14)
2. वर्णे तु मात्रिके पूर्वे ह्यनुस्वारो द्विमात्रिकः।
   द्विमात्रिके मात्रिकः स्यात् संयोगाद्यश्च यो भवेत्॥
   अनुस्वारस्योपरिष्टात्संयोगो यत्र दृश्यते।
   ह्रस्वं तं तु विजानीयात् संस्थामिति दर्शनम्॥ (या० शि० 2/46–47)
3. अनुस्वारो ह्रस्वपूर्वोऽध्यर्धमात्रा पूर्वा चार्धमात्रेति। (वा० प्रा० 4/150)
4. दीर्घादर्धमात्रा पूर्वा चाध्यर्धा (वा० प्रा० 4/151)

लगता है किन्तु या० शि० में विहित विधान से प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती स्वर सहित अनुस्वार का उच्चारण त्रिमात्रिक होता है क्योंकि उसमें कहा गया है कि एकमात्रिक स्वर के बाद अनुस्वार द्विमात्रिक होता है। इस प्रकार पूर्ववर्ती एक-मात्रिक स्वर तथा परवर्ती द्विमात्रिक अनुस्वार मिलकर तीन मात्राकाल में उच्चारित होता है। इसी प्रकार द्विमात्रिक स्वर वर्ण के बाद में एक-मात्रिक अनुस्वार होता है। अतः पूर्ववर्ती द्विमात्रिक स्वर वर्ण के सहित परवर्ती एकमात्रिक अनुस्वार के उच्चारण में कुल तीन मात्रा का समय लगता है। पाराशरी शिक्षा में भी अनुस्वार के ह्रस्व तथा दीर्घ-दो भेदों का प्रतिपादन हुआ है। इससे भी अनुस्वार के उच्चारण में या० शि० में प्रतिपादित विधान का समर्थन होता है।[1] पा० शि० में ऋवर्ण से संयुक्त व्यञ्जन बाद में होने पर ऋकार को द्विमात्रिक कहा गया है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अनुस्वार के उच्चारणकाल के विषय में अत्यधिक मतवैभिन्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये भिन्नतायें विभिन्न क्षेत्रों के उच्चारण को प्रदर्शित करती हैं।

1. अनुस्वारस्योपरिष्टात्संयोगो दृश्यते यदि।
ह्रस्वत्वं विजानीयात्स अवभागस्थेति दर्शनम् ॥
अनुस्वारस्योपरिष्टात्संवृतं यत्र दृश्यते।
दीर्घं तं तु विजानीयाच्छ्रोतां ग्रावाणेति दर्शनम् ॥
अनुस्वारस्तु यो दीर्घाक्षराच्च भवेत्ततः।
स तु ह्रस्वः इति प्रोक्तो मन्त्रेष्वेव विभाषया ॥
(पा० शि० 27–29, या० शि० 2/49)

2. अनुस्वारो द्विमात्रः स्यादृवर्णव्यञ्जनादिषु।
दीर्घं तं तु विजानीयाद्देवानां हृदयेभ्यः इति दर्शनम् ॥
(पा० शि० 31)

चतुर्थ अध्याय

बल-प्रकरण

* उच्चारणवयवो का संक्षिप्त परिचय
* वर्णोंच्चारण में वायु का महत्त्व
* वर्णोंच्चारण की सामान्य-प्रक्रिया
* वर्णोंच्चारण में प्रयत्न
* वर्णोंचारण में स्थान तथा करण
* कतिपय वर्णों के स्वरूप के विषय में विशेष
* संयोग

बल

बल शिक्षा-ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसके अन्तर्गत वर्णों के उच्चारण में होने वाले प्रयत्न, स्थान तथा करण का विवेचन किया जाता है। बल शब्द बल् धातु से अद् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। इसका शाब्दिक अर्थ है— शक्ति। वस्तुतः वर्णों के उच्चारण में कुछ न कुछ शक्ति अवश्य लगती है। यह शक्ति बाह्य प्रयत्न के फलस्वरूप स्वरतन्त्रियों पर तथा अभ्यन्तर प्रयत्न के फल-स्वरूप स्थान-करण पर लगती है। अतः बल के अन्तर्गत बाह्य तथा आभ्यन्तर-प्रयत्नों और उच्चारण स्थान तथा करण का अध्ययन किया जाता है।

उच्चारणावयवों का संक्षिप्त परिचय तथा उनके कार्य

फेफड़े

ये आकार में थैले के समान तथा संख्या में दो होते हैं। श्वास द्वारा वायु के पहुँचने पर ये फूल जाते हैं तथा इनके सिकुड़ने पर वायु बाहर निकल जाती है। यद्यपि ध्वनियों के उत्पादन में इनका योगदान प्रत्यक्षरूप से नहीं दिखलायी पड़ता तथापि ये परोक्षरूप से सहायक होते हैं क्योंकि वायु को बाहर फेंकना इनका ही कार्य है। ये श्वास-प्रश्वास क्रिया के मुख्य अङ्ग हैं।

श्वासनलिका

फेफड़े से जुड़ी हुई मुखविवर की ओर जाती हुई एक नलिका होती है जिससे होकट श्वास-क्रिया में वायु अन्दर फेफड़े में जाती है तथा प्रश्वास-प्रक्रिया द्वारा फेफड़े से बाहर जाती है।

स्वरयन्त्र

श्वासनलिका के ऊपरी सिरे पर स्वरयन्त्र होता है जिसमें पतली झिल्ली के दो लचीले पर्दे होते हैं जिन्हें स्वरतन्त्री कहते हैं। इन स्वरतन्त्रियों के बीच के भाग को कण्ठ या स्वरयन्त्रमुख कहा जाता है। इसी विवर से होकर वायु फेफड़े के अन्दर अथवा फेफड़ों से बाहर निकलती रहती है। फेफड़ों से बाहर निकलती हुई वायु का प्रथम विकार यहीं होता है। जहाँ बाह्य प्रयत्न के फलस्वरूप वायु नाद, श्वास या मध्यम नामक अवस्था को प्राप्त करती है जिसका विस्तृत विवेचन प्रयत्न से प्रसङ्ग में किया जायेगा।

गलबिल या उपालिजिह्व

नासारन्ध्र तथा स्वरयन्त्र के बीच तथा जिह्वामूल के पीछे जो खाली स्थान है वही उपालिजिह्व या गलबिल कहा जाता है। ध्वनियों के उत्पादन में इसका भी योगदान होता है। जिह्वा के पिछले भाग को पीछे हटाकर गलबिल को विभिन्न प्रकार से संकुचित करके ध्वनियों के स्वरूप में परिवर्तन लाया जाता है। इसी स्थल से होकर वायु कोमलतालु की स्थिति के अनुसार मुखविवर या नासिका-विवर से निकलती है।

अलिजिह्व या कौवा

कोमल तालु से जुड़ा हुआ इसके अन्तिम सिरे के रूप में छोटा-सा गोलाकार एक मांस पिण्ड होता है जो उपालिजिह्व के अन्दर रहता है। यह मांस-पिण्ड अलिजिह्व या कौवा कहलाता है। यह ऊपर नीचे होता रहता है। उच्चारण प्रक्रिया में यह तीन स्थितियों में होकर योगदान करता है। प्रथम स्थिति में यह ढीला होकर लटकता रहता है जिससे मुख-विवर तथा श्वास-नलिका का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और वायु नासिका-विवर से होकर निकल जाती है। द्वितीय स्थिति में यह तन कर खड़ा हो जाता है जिससे मुख-विवर तथा श्वास-नलिका का सम्बन्ध हो जाता है और वायु मुख-विवर से होकर निकल जाती है। तृतीय अवस्था में यह मध्य स्थिति में रहता है जिससे कुछ वायु नासिका से तथा कुछ वायु मुख से निकलती है।

मुख-विवर

कौवे के एक तरफ मुख-विवर तथा दूसरी तरफ नासिका-विवर होता है। मुख का ध्वनियों की उत्पत्ति में महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुख में जिह्वा, तालु, दन्त तथा ओष्ठ इत्यादि उच्चारणावयव स्थित होते हैं।

जिह्वा

वर्णोच्चारण में जिह्वा का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। साधारण अवस्था में यह ढीली होकर स्थित रहती है। कोमल तया लचकदार होने के कारण यह सहज रूप से आगे-पीछे तथा ऊपर-नीचे हो सकती है। यह होठों से लेकर कोमल तालु के अन्त तक के प्रत्येक मुखावयव का स्पर्श कर सकती है। अतः यह कई स्थानों से सम्बन्ध करके वायु को मुख में विकृत करती है। जिह्वा के कई विभाग किये जा सकते हैं—(1) जिह्वामूल, (2) जिह्वापश्च, (3) जिह्वामध्य,

(4) जिह्वाग्र तथा जिह्वा-नोक। जिह्वामूल जिह्वा का वह भाग है जो कौवा के समीप रहता है तथा समयानुसार कौवा तथा कोमल तालु का स्पर्श करता है। जिह्वामूल के आगे वाला भाग जिह्वापश्च कहलाता है। जिह्वापश्च के थोड़ा सा आगे बीच में जिह्वामध्य होता है। जिह्वा के सबसे आगे वाले नुकीले भाग को जिह्वानोक कहा जाता है। जिह्वानोक तथा जिह्वामध्य के बीच में जिह्वाग्र होता है।

तालु

मुख-विवर में ऊपर की ओर तालु होता है जो मुख की छत का काम करता है। इसके चार भाग किए जा सकते हैं—कोमल तालु, मूर्धा, कठोर तालु तथा बर्स्व। जिह्वा के विभिन्न भागों से इन्हें स्पर्श कराकर विभिन्न ध्वनियाँ उच्चारित की जाती हैं।

कोमल तालु

कौवा से प्रारम्भ करके कण्ठ-बिल की तरफ झुके हुए तालु के भाग को कोमल-तालु कहा जाता है। यह भाग मुख-छत का सबसे कोमल भाग है। कोमल तालु की ही स्थिति के अनुसार ध्वनियाँ सानुनासिक या निरनुनासिक होती है।

मूर्धा

मुख-छत का सबसे ऊपरी भाग मूर्धा कहलाता है। मूर्धा का अर्थ है—सिर। किन्तु सिर से किसी भी वर्ण की उत्पत्ति नहीं होती। अतः मूर्धा का लाक्षणिक इष्ट अर्थ है—मुख का छत, ऊपरी भाग। मूर्धा के एक ओर कोमल तालु तथा दूसरी ओर कठोर तालु होता है।

कठोर तालु

मूर्धा के आगे मुख छत में बाहर की ओर कठोर तालु होता है। यह मुख छत का सबसे बड़ा भाग है। सामान्य भाषा में इसे ही तालु कहा जाता है। जिह्वा इसके सम्बन्ध द्वारा विभिन्न प्रकार से वायु को विकृत करती है जिसके फलस्वरूप तालव्य ध्वनियों का उच्चारण होता है।

बर्स्व

ऊपरी दाँतों के मूल से कठोर तालु तक का विस्तृत एवम् उभड़ा हुआ भाग मसूड़ा कहलाता है। प्रातिशाख्य तथा शिक्षा ग्रन्थों में इसी को बर्स्व कहा गया है।

दन्त

मुख के अन्दर निचले तथा ऊपरी जवड़े में दाँतों की एक-एक पंक्तियाँ होती हैं। वर्णोच्चारण में ऊपर की दन्त-पंक्ति के सामने के कुछ दाँत ही कार्य में लाए जाते हैं। अतः यहाँ दन्त का अभिप्राय वर्णोच्चारण में योगदान करने वाले ऊपरी जवड़े के सामने के दाँतों से है। दाँतों के मुख्य दो भाग होते हैं—(1) दन्ताग्र-यह दातों का अगला भाग होता है, (2) दन्तमूल—दाँत का यह भाग मसूड़े के अत्यधिक सन्निकट होता है। मुख में दाँत मसूड़े के साथ भीतर तथा वाहर दोनों ओर से जुड़े होते हैं। अतः दाँत की जड़ दोनों ओर रहती है। अन्दर की ओर की ऊपरी दाँत की जड़ के ऊपरी भाग को प्रत्यग्दन्तमूल कहा जाता है।

हनु

मुखविवर में स्थित उच्चारणावयवों के अतिरिक्त मुखविवर की दीवारों को जवड़ा कहा जाता है। प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों में इसे हनु कहा गया है। इसके भी दो भाग किए जा सकते हैं—हनुमूल तथा हनु।

ओष्ठ

उच्चारणावयवों में ओष्ठ मुख के बाहर स्थित तथा दृश्यमान अवयव हैं। ऊपर और नीचे स्थित दोनों ओष्ठ विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न ध्वनियों की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। ऊपरी ओष्ठ स्थिर तथा निचला ओष्ठ गतिशील होता है।

नासिका

उच्चारणावयवों में सर्वाधिक प्रत्यक्ष अवयव नासिका है। नासिका में एक छिद्र होता है जिसे नासिका-विवर कहते हैं। नासिका-विवर मुख-विवर के ऊपर स्थित होता है। साधारण स्थिति में जव मुख बन्द करके श्वास-प्रश्वास क्रिया की जाती है तव वायु नासिका विवर से ही आती-जाती है। कौवा के मध्यम अवस्था में होने पर फेफड़े से बाहर निकलती हुई वायु मुख-विवर तथा नासिका-विवर दोनों से बाहर निकलती है। कौवा के इस स्थिति में होने पर नासिक्य वर्णों का उच्चारण होता है।

वर्णोच्चारण में वायु का महत्त्व

वर्णोच्चारण में वायु ही प्रमुख कारण है। यह वायु नासिका द्वारा श्वास के रूप में श्वासनलिका से होकर फेफड़े में जाती है तथा वहाँ से पुनरावर्तित

होती है। यह फेफड़े से बाहर निकलती हुई वायु वाग्यन्त्रों द्वारा विभिन्न विकारों को प्राप्त करके ध्वनि का रूप प्राप्त करती है। इस सम्बन्ध में प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में विविध प्रकार के विवेचन प्राप्त होते हैं। वा० प्रा० के अनुसार फेफड़े से बाहर आने के पश्चात् वायु कण्ठविवर से होकर बाहर आती है और वह वायु ध्वनि हो जाती है।[1] यहाँ शङ्का होती है कि यदि वायु ही ध्वनि हो जाती है तो वायु के सर्वत्र व्याप्त होने से सभी समय, सभी स्थलों पर ध्वनि की प्राप्ति होनी चाहिए। इस शङ्का के समाधान में स्वयं वाजसनेयिप्रातिशाख्यकार ने कहा है कि समुचित करणों से हृदय (छाती) में रखी हुई वायु बाँसुरी, शङ्ख इत्यादि के द्वारा ध्वनि हो जाती है, वह वायु पुरुष-प्रयत्न इत्यादि को प्राप्त करके वाणी हो जाती है।[2] वा० प्रा० में यह भी कहा गया है कि वह फेफड़े (शरीर) से निकलती हुई वायु मुख में विकृत होकर मात्रा इत्यादि से विशिष्ट ककारादि वर्णरूप व्यक्ति (शरीर) को प्राप्त करती है।[3] भाष्यकार उवट ने भी वायु को ध्वनि का कारण बतलाया है[4] तथा ध्वनि को वाय्वात्मक स्वीकार किया है।[5] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार शरीरस्थ वायु के गतिमान होने से कण्ठ और उर (छाती) के मध्य देश में ध्वनि की उत्पत्ति होती है।[6] इस सूत्र पर त्रिभाष्यरत्नकार ने कई प्रकार की व्याख्याएँ की हैं किन्तु सभी व्याख्याओं में एक ही तथ्य प्रतिभासित होता है कि ध्वनि का मूलकारण वायु है। ऋ० प्रा० के अनुसार फेफड़े से बाहर निकलती हुई प्राणवायु ही श्वास, नाद इत्यादि रूपों में परिणत होती है।[7] किन्तु फेफड़े से निकली हुई वायु तभी श्वास या नाद में परिणत होती है जब वक्ता बोलने की चेष्टा करता है।[8] जब मनुष्य बोलने की चेष्टा नहीं करता तब वायु अबाधगति से मुख-विवर से अथवा नासिका-विवर से

---

1. वायुः खात्। शब्दस्तत् (वा० प्रा० 1/6–7)
2. सङ्करोपहितः। सङ्घातादीन् वाक् (वा० प्रा० 1/8–9)।
3. शारीरात्। शरीरम्। शारीरे (वा० प्रा० 1/12–14)
4. वायुः कारणभूतः शब्दस्य (वा० प्रा० 1/6 पर उवट)।
5. शब्दस्तदात्मकः वाय्वात्मकः इत्यर्थः (वा० प्रा० 1/7 पर उवट)।
6. वायुः शरीरसमीरणात् कण्ठोरसोः सन्धाने (तै० प्रा० 2/2)।
7. वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानः कण्ठस्थ रवे संवृते विवृते वा।
   वक्त्रीहायाम् (ऋ० प्रा० 13/1)।
8. द्रष्टव्य—तै० प्रा० 2/2 पर त्रिभाष्यरत्न।

बाहर निकल जाती है। फलतः कोई भी वर्ण उच्चारित नहीं होता। वक्ता द्वारा प्रेरित वायु स्वरतन्त्रियों के अवकाश से नाद अथवा श्वास का रूप ग्रहण कर लेती है। यही श्वास तथा नाद ध्वनियों का मूलकारण है।[1] ऋक्तन्त्र में भी विधान किया गया है कि वायु ध्वनि का मूलकारण है।[2] शिक्षाग्रन्थों में भी वायु को वर्णों का मुख्य कारण बतलाया गया है। पाणिनीय शिक्षा-सूत्र के अनुसार वायु ही ध्वनि है अर्थात् वायु ही वर्णोच्चारण में कारण है।[3] व्यास-शिक्षा, पाणिनि-शिक्षा, हारीत-शिक्षा, इत्यादि सभी शिक्षाओं में वायु को वर्णों के मूलकारण के रूप में प्रतिपादित किया गया है।[4]

वर्णोच्चारण की सामान्य-प्रक्रिया

जैसा ऊपर विचार किया गया है कि वायु ही वर्णोच्चारण में मूलकारण है तथा वह ही विविध उच्चारणाङ्गों द्वारा वर्णरूप में परिवर्तित होती है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि वायु का किस प्रकार वर्णरूप में परिवर्तन होता है? क्या वक्ता की इच्छा मात्र होने से वर्णोच्चारण हो जाता है? इन सबका समाधान प्रातिशाख्यों और शिक्षाग्रन्थों में किया गया है। पाणिनिशिक्षा में वायु के ध्वनि-रूप में परिणत होने के सभी प्रयोजक तत्त्वों का सम्यक् उल्लेख हुआ है। इसके अनुसार जब वक्ता बोलने की इच्छा करता है तब सर्वप्रथम आत्मा कथनीय अर्थों को इकट्ठा करके उन अर्थो का सम्पर्क बुद्धि से कराता है। फिर बुद्धि को मन से मिलता है। मन शरीर में स्थित अग्नि को धक्का देता है। कायाग्नि शरीरस्थ वायु को प्रेरित करता है। इस प्रकार कायाग्नि द्वारा प्रेरित वायु फेफड़े में विचरण करता हुआ मन्द्र ध्वनि को उत्पन्न करता है।[5] इस प्रकार वक्ता द्वारा बोलने

1. ताः वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति (ऋ० प्रा० 13/3)।
2. वायुं प्रकृतिमाचार्याः। (ऋक्तन्त्र 1/1)।
3. आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन्...सशब्दः (पाणिनिशिक्षासूत्र–1)।
4. वायो चरत्युरस्यन्तर्मन्द्र उद्भवति ध्वनिः।
   कण्ठे च मध्यमो ज्ञेयः शीर्षे तारः स्वशक्तितः॥
   व्यास शि० 389 उत्तरार्धं, 390 पूर्वा
   मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्। (हारीत शिक्षा 27 उत्तरा०)
5. आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनोयुङ्क्ते विवक्षया।
   मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
   सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
   वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥ (पाणिनिशि० 6, 8)

की इच्छा करने पर आत्मा कहे जाने वाले पदों का संयोग बुद्धि से कराती है तत्पश्चात् बुद्धि मन को तथा मन कायाग्नि को प्रेरित करता है। मन के द्वारा प्रेरित शरीरस्थ अग्नि शरीर में विद्यमान वायु को प्रेरित करता है। तब फेफड़े में पहुँची हुई श्वासरूप में गृहीत वायु फेफड़े में विचरण करती हुई मन्द्र स्वर में परिणत हो जाती है। इसी तथ्य को हारीत-शिक्षा में भी स्पष्ट किया गया है। मन शरीर की अग्नि को प्रेरित करता है और कायाग्नि शरीरस्थ वायु को प्रेरित करता है। उरस् में विचरण करती हुई वायु मधुर स्वर (ध्वनि) को उत्पन्न करती है।[1] पाणिनि-शिक्षासूत्र में भी इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। उसके अनुसार आकाश से उत्पन्न जो वायु है वह शरीर (फेफड़े) से बाहर निकलती हुई नाद (श्वास, नाद ध्वनि) रूप होकर मुख में आती है। वहाँ विभिन्न स्थानों पर विभाजित (=विकृत) होकर वर्णत्व को प्राप्त करती है अतः वही (ध्वनि) शब्द है अर्थात् ध्वनि का मूलकारण है।[2]

वक्ता की बोलने की इच्छानुसार कायाग्नि द्वारा प्रेरित शरीरस्थ वायु में एक प्रकार का संक्षोभ होता है। यह संक्षुभित वायु श्वासनलिका द्वारा बाहर की ओर आती है। वस्तुतः वायु में ध्वनि के रूप में परिणस होने का गुण सर्वप्रथम फेफड़े में ही आ जाता है। अर्थात् फेफड़े से जब वायु बाहर निकलती है उससे पूर्व ही उसमें वर्ण के रूप में परिवर्तित होने की योग्यता हो जाती है। इस वर्णोच्चारण के गुण से युक्त फेफड़ों से बाहर निकलती हुई वायु जब स्वरतन्त्रियों में आती है तो वहाँ बाह्य-प्रयत्न के परिणामस्वरूप वह नाद अथवा श्वास रूप में विकृत हो जाती है। वास्तव में वायु जब फेफड़े से निकलती है तभी उसे नाद अथवा श्वास के रूप में परिवर्तित होने के लिए प्रेरित कर दिया जाता है। इस प्रेरणा को पाकर ही वायु स्वरतन्त्रियों में जाती है तथा वायु की योग्यता के अनुसार स्वरतन्त्रियाँ तदनुकूल मार्ग प्रदान करती हैं। अर्थात् जब वायु में घोष वर्णों को उत्पन्न करने की योग्यता होती है तब संवृत नामक बाह्य प्रयत्न के फलस्वरूप स्वरतन्त्रियाँ समीप में आ जाती हैं जिससे कण्ठविवर बन्द-सा हो जाता है। फलतः वायु "नाद" नामक विकार को प्राप्त करती है तथा

---

1. मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥ (हारीत शि० 27)।
2. आकाशवायुप्रभवः शरीरात्, समुच्चरन् वक्त्रमुपेति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः॥
(पाणिनिशिक्षा-सूत्र, वृद्धपाठ, 1)

जब वायु में अघोष वर्णों को उत्पन्न करने की योग्यता होती है तब विवृत नामक बाह्य प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप स्वरतन्त्रियाँ परस्पर दूर हो जाती हैं जिससे कण्ठविवर खुला-सा रहता है। जिससे वायु 'श्वास' नामक विकार को प्राप्त करती है।

इस प्रकार स्वरतन्त्रियों द्वारा नाद अथवा श्वास रूप में विकृत वायु गल-विवर में आगे आती है तो उसकी योग्यतानुसार कौवा एवं कोमल-तालु सक्रिय हो जाते हैं। यदि वायु में अनुनासिक वर्ण की योग्यता होती है तो कोमल तालु कुछ नीचे लटक जाता है जिससे वायु मुख में आने के साथ ही नासिका-विवर से निकलने के लिए मार्ग पा जाती है। यदि उसमें अनुनासिक वर्ण की योग्यता नहीं होती तो कोमल तालु ऊपर की ओर रहता है जिससे वायु को नासिका-विवर में जाने का एकदम मार्ग नहीं मिलता तथा पूरी वायु को मुख-विवर में ही आना पड़ता है। मुख में आयी वायु विभिन्न आभ्यन्तर प्रयत्नों द्वारा विभिन्न स्थानों पर विभिन्न करणों द्वारा विकृत होकर विभिन्न वर्णों का रूप धारण करती है। इन विभिन्न वर्णों के उत्पत्ति की प्रक्रिया का विवेचन इसी अध्याय में आगे किया गया है।

इस प्रकार वर्णोच्चारण में वायु के साथ-साथ आत्मा, बुद्धि, मन तथा शरीरस्थ वायु का भी महत्त्वपूर्ण सहयोग होता है तथा ये सभी क्रियाएँ वक्ता की इच्छा के अनुसार ही होती हैं।

वर्णोच्चारण में प्रयत्न

उच्चारण-कर्त्ता को प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में वायु को विकृत करने के लिए कुछ न कुछ चेष्टा करनी पड़ती है जिसके परिणाम स्वरूप उच्चारणावयवों में व्यापार होता है। वर्णोच्चारण में उपयोगी उच्चारणावयवों के इस व्यापार को प्रयत्न कहा जाता है। यह प्रयत्न दो प्रकार का होता है—(1) बाह्य प्रयत्न तथा (2) आभ्यन्तर प्रयत्न।

बाह्य प्रयत्न

मुख के बाहर होने के कारण इस प्रयत्न को बाह्य प्रयत्न कहा जाता है। यह प्रयत्न स्वर-यन्त्र में होता है। इस प्रयत्न द्वारा फेफड़े से श्वास-नलिका में होकर बाहर निकलती हुई वायु स्वर-यन्त्र पर विकृत हो जाती है। बाह्य प्रयत्न में स्वर-तन्त्रियाँ ही मुख्य सक्रिय उच्चारणावयव होती हैं। बाह्य प्रयत्न को अनुप्रदान भी कहा जाता है। इसको अनुप्रदान कहने का कारण बतलाते

हुए गार्ग्यगोपालयज्वा ने कहा है कि अनु शब्द पश्चात् अर्थ में प्रयुक्त है। फेफड़े से बाहर निकलती हुई वायु स्वर-यन्त्र पर इस प्रयत्न द्वारा तीन रूपों में विकृत होने के पश्चात् वर्णों में परिवर्तित होने के लिए तत्तत् स्थानों को प्रदान की जाती है अर्थात् दी जाती है। यह प्रदान-रूप क्रिया बाह्यप्रयत्न द्वारा विकार के अनु अर्थात् बाद में होती है। अतः इसे अनुप्रदान कहा जाता है।[1]

बाह्य प्रयत्न तीन प्रकार के होते हैं—(1) संवार, (2) विवार, (3) मध्यम। इन तीन प्रयत्नों द्वारा स्वर-तन्त्रियों में तीन प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं जिससे कण्ठ-विवर की तीन स्थितियाँ होती हैं तथा इन तीन अवस्थाओं के कारण फेफड़े से बाहर निकलती हुई वायु में तीन प्रकार के विकार होते हैं जिससे तीन प्रकार के द्रव्य प्राप्त होते हैं। संवार नामक प्रयत्न से कण्ठ-विवर संवृत अवस्था को प्राप्त करता है इस अवस्था में विकृत वायु नाद कहलाती है। विवार नामक प्रयत्न से कण्ठ-विवर विवृत हो जाता है। इस दशा में विकार को प्राप्त वायु श्वास कहलाती है तथा मध्यम बाह्य-प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप कण्ठ-विवर अपनी सामान्य अवस्था में रहता है तथा इस अवस्था में विकृत वायु मध्यम या हकार संज्ञक होती है।

( ) संवार

संवार नामक बाह्य प्रयत्न के परिणाम स्वरूप कण्ठ-विवर की संवृत अवस्था होती है। संवृत का अर्थ है—बन्द। इस अवस्था में स्वर-तन्त्रियाँ फैली हुई होती हैं जिससे कण्ठ-विवर (=स्वर-यन्त्र-मुख) बन्द-सा हो जाता है। कण्ठ-विवर की इस अवस्था को संवृत्त कण्ठ कहा जाता है। इस अवस्था में फेफड़े से बाहर निकलती हुई वायु स्वरयन्त्र पर स्वर-तन्त्रियों से संघर्षण करके बाहर निकलती है जिससे स्वर-तन्त्रियों में अत्यधिक कम्पन भी होता है। इस संघर्षण तथा कम्पन के कारण फेफड़े से बाहर आती हुई वायु के रूप में विकार हो जाता है। यह विकृत वायु एक विशेष द्रव्य के रूप में प्राप्त होती है। कण्ठ की इस संवृत अवस्था में प्राप्त वायु-रूप द्रव्य-विशेष नाद संज्ञक होती है।

(2) विवार

विवार नामक बाह्य प्रयत्न के फलस्वरूप कण्ठ-विवर विवृत अवस्था में रहता है। विवृत का अर्थ है—खुला हुआ। इस अवस्था में स्वर-यन्त्रियाँ संकु-

1. तै० प्रा० 2/8 पर वै० भा०।

चित रहती हैं जिससे कण्ठ-विवर (=स्वरयन्त्रमुख) खुला रहता है। कण्ठ-विवर की इस अवस्था को विवृत कण्ठ कहा जाता है। कण्ठ-विवर की इस अवस्था में कोई व्यवधान न होने के कारण फेफड़े से बाहर निकलती हुई वायु निर्बाध रूप से बाहर निकल जाती है। इस अवस्था में स्वर-यन्त्र पर वायु में कोई विकार तथा स्वर-तन्त्रियों में कोई कम्पन नहीं होता। कण्ठ की इस अवस्था में भी वायु-रूप एक द्रव्य-विशेष की प्राप्ति होती है। वायु-रूप प्राप्त इस द्रव्य-विशेष को श्वास कहा जाता है।

(3) मध्यम

इस बाह्य प्रयत्न में कण्ठ की सामान्य अवस्था रहती है। मध्यम का अर्थ है—वीच वाला, न अधिक खुला हुआ और न अधिक बन्द अर्थात् सामान्य अवस्था। इस अवस्था में स्वर-तन्त्रियाँ न अधिक फैली हुई होती हैं और न पूर्णतः संकुचित ही, प्रत्युत सामान्य अवस्था में होती हैं जिससे कण्ठ-विवर न पूर्णतः बन्द होता है और न पूर्णतः खुला हुआ। कण्ठ-विवर की इस अवस्था को मध्यम अवस्था कहा जाता है। यह कण्ठ-विवर की स्वाभाविक अवस्था है। इस अवस्था में फेफड़े से वाहर आती हुई वायु न अधिक संघर्षण के साथ निकलती है और न निर्बाध गति से। इस अवस्था में वायु थोड़ा संघर्षण करके निकलती है जिससे स्वरतन्त्रियों में थोड़ा सा कम्पन होता है तथा वायु में थोड़ा-सा विकार आ जाता है किन्तु संवृत अवस्था की अपेक्षा कम। कण्ठविवर की इस अवस्था में भी विकृत वायु एक द्रव्य-विशेष के रूप में प्राप्त होती है। इस अवस्था में प्राप्त द्रव्य मध्यम या हकार संज्ञक होती है।

बाह्य प्रयत्न द्वारा प्राप्त द्रव्यों से उत्पन्न वर्ण

जैसा उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संवार नामक बाह्य प्रयत्न के फल-स्वरूप कण्ठ-विवर की संवृत अवस्था में "नाद", विवार नामक बाह्य प्रयत्न के फलस्वरूप कण्ठ-विवर की विवृत अवस्था में "श्वास" तथा मध्य नामक बाह्य-प्रयत्न के फलस्वरूप कण्ठ की मध्यम अवस्था में मध्यम अथवा हकार संज्ञक वायु के विकार-रूप द्रव्यों की प्राप्ति होती है। इस बाह्य प्रयत्न के विषय में शिक्षा-ग्रन्थ तथा प्रातिशाख्यों में मतैक्य नहीं है। कतिपय प्राचीन शिक्षाकार केवल संवार तथा विवार दो ही बाह्य प्रयत्न को मानते हैं किन्तु कतिपय शिक्षाकारों के अनुसार बाह्य प्रयत्न के तीन भेद हैं। या० शि० के सम्यक् अनुशीलन से प्रतीत होता है कि शिक्षाकार को संवार तथा विवार दो ही बाह्य प्रयत्न अभि-

मत थे। उसके अनुसार सघोष वर्ण संवृत तथा अघोष वर्ण विवृत होते हैं।[1] संवृत तथा विवृत कण्ठ-विवर की दो अवस्थाएँ होती हैं। संवार नामक बाह्य-प्रयत्न से कण्ठ की संवृत अवस्था तथा विवार नामक वाह्य प्रयत्न से विवृत अवस्था होती है। इससे स्पष्ट होता है कि याज्ञवल्क्य-शिक्षाकार को संवार तथा विवार—दो वाह्य प्रयत्न ही मान्य है। जिससे उन्होंने सघोष तथा अघोष दो प्रकार के वर्णों का उल्लेख किया है। पाराशरी शिक्षा में वर्णों के दो विभागों—घोष तथा अघोष में[2] विभाजन से भी यह प्रतीत होता है कि इस शिक्षाकार को दो ही बाह्य प्रयत्न अभिमत हैं किन्तु पारिशिक्षा इत्यादि के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि इन्हें तीन आभ्यन्तर प्रयत्न स्वीकार थे क्योंकि इसमें कण्ठ की संवृत तथा विवृत अवस्थाओं से क्रमशः नाद तथा श्वास संज्ञक द्रव्य के साथ कण्ठ-विवर की मध्यम अवस्था में हकार संज्ञक द्रव्य का भी उल्लेख हुआ है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्लतजुर्वेदीय शिक्षाकारों को दो ही आभ्यन्तर प्रयत्न मानते थे—(1) संवार तथा (2) विवार। या० शि० के अनुसार संवार से सघोष तथा विवार से अघोष वर्णों की उत्पत्ति होती है।[4]

सघोष वर्ण

या० शि० में सघोष वर्णों का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि ग् ज् ड् द् व्, घ् झ् ढ् ध् भ्, ङ् ञ् ण् न् म् य् र् ल् व् तथा हकार—ये बीस वर्ण घोष हैं।[5] इससे स्पष्ट है कि इन वर्णों की उत्पत्ति नाद संज्ञक वायु-रूप द्रव्य-विशेष से होती है। नादरूप द्रव्यविशेष की प्राप्ति कण्ठ-विवर की संवृत अवस्था होने पर होती है। कण्ठ-विवर की यह अवस्था संवार नामक बाह्य प्रयत्न के परिणान स्वरूप होती है। अतः इन वर्णों की उत्पत्ति संवार नामक बाह्य प्रयत्न से

---

1. संवृताः घोषाः। विवृता अघोषाः। (या० शि० पृ० 53)
2. विंशतिर्घोषाः···त्रयोदशाघोषाः······। (पाराशरी शि० 56, 57)
3. नादश्च संवृते श्वासस्तु विवृते सति।
   हकारः क्रियते मध्ये वर्णप्रकृतयश्च ताः ॥ (पारिशिक्षा 30)
4. संवृताः घोषाः। विवृताः अघोषाः। (या० शि० पृ० 53)
5. विंशतिर्घोषास्ते गजडदबाः घझढधभाः ङञणनमाः हयरलवाश्चेति।
   (पाराशरी शि० 56)

होती है। पाराशरी शिक्षा में भी या० शि० की ही भाँति विधान किया गया है।[1] इसके अनुसार भी ग्, ज्, ड्, द्, ब्, घ्, झ्, ढ्, भ्, ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, ह्, य्, र्, ल्, व्—ये बीस वर्ण सघोष होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्गों के तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम स्पर्श, सभी अन्तःस्थ तथा हकार की उत्पत्ति संवार नामक वाह्य प्रयत्न के परिणाम स्वरुप कण्ठ-विवर की संवृत अवस्था में प्राप्त नाद नामक द्रव्य से होती हे।

यहाँ उल्लेखनीय है कि स्वरों के बाह्य-प्रयत्न का निर्धारण शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षा-ग्रन्थों के आधार पर नहीं किया जा सकता क्योंकि इनमें स्वरों के उत्पादक तत्त्व विशेष-नाद, श्वास अथवा उनके सघोषत्व, अघोषत्व का विधान उपलब्ध नहीं होता। स्वरों के लिए शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य में सघोष वर्णों का विधान करते हुए कहा गया है कि अघोष (जित्) संज्ञक वर्णों से अन्य सभी वर्ण सघोष (धि) कहलाते हैं।[2] उसमें जित् संज्ञक वर्णों के प्रथम, द्वितीय स्पर्श तथा श, ष और स का ग्रहण किया गया है। तदतिरिक्त वर्गों के तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम स्पर्श, अन्तःस्थ तथा स्वर वर्ण हैं। इस प्रकार वहाँ स्वर वर्णों की भी सघोषता का उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट है कि स्वर वर्ण भी सघोष होते हैं। अतः इनकी भी उत्पत्ति कण्ठ-विवर की संवृत अवस्था में होती है। यह अवस्था संवार नामक प्रयत्न के परिणाम स्वरूप आती है। अतः स्वर वर्णों का भी बाह्य प्रयत्न संवार सिद्ध होता है।

अघोष

या० शि० तथा या० शि० के अनुसार क्, च्, ट्, त्, प्, ख, छ्, थ्, फ्, श्, ष्, स्—ये तेरह वर्ण अघोष है।[3] अघोष वर्णों की उत्पत्ति कण्ठ-विवर की विवृत अवस्था में उपलब्ध श्वासनात्मक वायु-रूप द्रव्य-विशेष से होती है। कण्ठ-विवर की विवृत अवस्था विवार नामक बाह्य प्रयत्न के परिणाम स्वरूप होती है। इस प्रकार सिद्ध है कि इनका विवार नामक बाह्य प्रयत्न होता है। पाराशरी शिक्षा

---

1. विंशतिर्घोषास्ते गजडदबाः घझढधभाः ङञणनमाः यरलवाः हकारश्चेति।
(या० शि० पृ० 53)
2. धिशेषः (वा० प्रा० 1/53)। द्वौ द्वौ प्रथमो जित् (वा० प्रा० 1/50)।
3. त्रयोदशाघोषास्ते कचटतपा खछठथफाः शषसाश्चेति (या० शि० पृ० 53)।

के अनुसार भी क् च् ट् त् प् ख् छ् ठ् थ् फ् श् ष् स्—वर्ण अघोष कहलाते हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि वर्गों के प्रथम, द्वितीय तथा हकार-व्यतिरिक्त ऊष्म अघोष कहलाते हैं जिनकी उत्पत्ति विवार नामक बाह्य प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप कण्ठ-विवर की विवृत अवस्था में प्राप्त श्वास नामक वायु-रूप द्रव्य-विशेष से होती है।

आभ्यन्तर प्रयत्न

मुख के भीतर होने वाले प्रयत्न को आभ्यन्तर प्रयत्न कहा जाता है। प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा ग्रन्थों में इसके लिए करण,[2] आस्य-प्रयत्न[3] तथा मुख-प्रयत्न इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप मुखस्थ उच्चारणावयव, मुख में आयी हुई नाद तथा श्वास नामक विकृत वायु-रूप द्रव्य-विशेष को पुनः अनेक रूपों में विकृत करते हैं जिससे वर्ण-विशेष की उत्पत्ति होती है।

आभ्यन्तर प्रयत्न का वर्णोत्पत्ति में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस प्रयत्न के अभाव में बाह्य प्रयत्न द्वारा नाद तथा श्वास के रूप में विकृत वायु उप-योग-विहीन हो जाती है। इस प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप मुखस्थ उच्चारणावयव करण, जिह्वा, ताल्वादि स्थानों पर विभिन्न प्रकार की क्रियाओं द्वारा नाद तथा श्वास संज्ञक तत्त्व-विशेष को विभिन्न प्रकार से विकृत करती है जिससे विभिन्न वर्ण-विशेष की उत्पत्ति होती है।

आभ्यन्तर-प्रयत्नों की संख्या

आभ्यान्तर प्रयत्नों की संख्या के विषय में प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में मतवैभिन्य है। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में स्पृष्ट, दुःस्पृष्ट तथा अस्पृष्ट—इन तीन

---

1. त्रयोदशाघोषास्ते कचटतपा खछठथफा शषसाश्चेति। (पाराशरी शि० 57)
2. करण शब्द का प्रयोग इन ग्रन्थों में दो अर्थों में हुआ है—(1) आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए तथा (2) सक्रिय उच्चारणावयव के लिए। क्रियत इति करणम् अर्थात् जो किया जाता है वह करण है। इस निर्वचन के अनुसार करण शब्द का प्रयोग आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए होता है। क्रियतेऽनेनेति करणम् अर्थात् इस (करण) के द्वारा वर्णों के उच्चारण के लिए इच्छित व्यापार (आभ्यन्तर प्रयत्न) किया जाता है। इस निर्वचन के आधार पर करण शब्द का सक्रिय एवम् गतिशील मुखावयव के लिए प्रयोग किया गया है।
3. मुख के भीतर होने के कारण इस प्रयत्न को आस्य-प्रयत्न या मुख-प्रयत्न कहा जाता है।

आभ्यन्तर प्रयत्नों का उल्लेख हुआ है।[1] तै० प्रा० तथा वा० प्रा० इस विषय में मौन हैं। ऋक्तन्त्र में स्पृष्ट, दुःस्पृष्ट तथा विवृत एवं विवृततर—इन चार आस्य-प्रयत्नों का निर्देश हुआ है।[2] पाणिनीय शिक्षा में स्पृष्ट, अस्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, अर्धस्पृष्ट, विवृत तथा संवृत—इन छः आभ्यन्तर प्रयत्नों का उल्लेख हुआ है।[3] आपिशलि-शिक्षा, पाणिनिशिक्षासूत्र तथा चान्द्रवर्णसूत्र में स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत, विवृततर, विवृततम, अतिविवृततम तथा संवृत—इस प्रकार भेद-प्रभेद की दृष्टि से आठ आभ्यन्तर प्रयत्नों का उल्लेख हुआ है।[4]

माण्डूकी शिक्षा में स्पृष्ट, अस्पृष्ट, संवृत तथा विवृत—इन चार आभ्यन्तर प्रयत्नों का निर्देश हुआ है।[5] शैशरीय शिक्षा में भी इन्हीं चार आभ्यन्तर प्रयत्नों को स्वीकार किया गया है।[6]

---

1. तद्विशेषः करणमस्थितम्,
दुःस्पृष्दं तु प्राग्धकाराच्चतुर्णाम्।
स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम्,
नैके कण्ठस्य स्थितमाहुरूष्मणः॥ —ऋ० प्रा० 113
2. स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्। दुःस्पृष्टमन्तःस्थानाम्। विवृतं स्वरोष्मणाम्। विवृततरमाकारैकारौकाराणाम्।
3. अचो स्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेभि स्पृष्टाः शलः स्मृताः।
शेषा स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः॥
स्वराणामूष्मणाञ्चैव विवृतं करणं स्मृतम्।
तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैव च॥ (पाणिनि शि० 38, 21)
4. आभ्यन्तरस्तावत् स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः। ईषत्स्पृष्टकरणा अतःस्थाः। ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः। विवृतकरणाः स्वराः। तेभ्य ए औ विवृततरा, ताभ्याम् औ। ताभ्यामप्याकारः संवृतोऽकारः। इत्येषोन्तः प्रयत्नः।
आपिशलि-शिक्षा3/3–12; पा० शि० सू० 3/4–13, चान्द्रवर्णसूत्र 21–29.
5. वर्णानां तु प्रयोगेषु करणं स्याच्चतुर्विधम्।
संवृतं विवृतञ्चेव स्पृष्टमस्पृष्टमेव च॥
(माण्डूकी शिक्षा, 8)
6. स्पर्शानां करणं स्पृष्टमन्तःस्थास्त्वीषदुच्यते।
स्वराणामूष्मणाञ्चैव विवृतं करणं स्मृतम्।
संवृतञ्चेत्यकारस्य सर्ववर्णो निगद्यते। (शैशरीय शिक्षा)

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं के अनुसार आभ्यन्तर प्रयत्न

या० शि० में स्पृष्ट, अस्पृष्ट, संवृत तथा विवृत—इन चार प्रयत्नों का उल्लेख हुआ है।[1] इसके सम्यक् अनुशीलन से प्रतीत होता है कि इस शिक्षाकार को केवल दो ही आभ्यन्तर प्रयत्न मान्य थे—(1) स्पृष्ट तथा (2) अस्पृष्ट। संवृत तथा विवृत—ये दोनों वाह्य प्रयत्न प्रतीत होते हैं क्योंकि वहाँ यह विधान किया गया है कि संवृत प्रयत्न घोष तथा विवृत प्रयत्न अघोष वर्णों का होता है। यह वर्णों की सघोपता तथा अघोपता क्रमशः नाद तथा श्वास नामक वायुरूप द्रव्यविशेष के कारण होती है जो संवार तथा विवार नामक वाह्य प्रयत्न के परिणामस्वरूप कण्ठविवर की क्रमशः संवृत तथा विवृत अवस्था में प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट है कि शिक्षाकार ने केवल स्पृष्ट तथा अस्पृष्ट—दो ही आभ्यन्तर-प्रयत्न स्वीकार किया है।

वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, अर्धस्पृष्ट, अस्पृष्ट, संवृत तथा विवृत—इन छः आभ्यन्तर प्रयत्नों का उल्लेख हुआ है।[2] अन्य शिक्षाओं में आभ्यन्तर प्रयत्न विषयक विधान उपलब्ध नहीं होते। इस प्रकार स्पष्ट है कि शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं में से केवल वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में ही आभ्यन्तरप्रयत्न-विषयक स्पष्ट निर्देश है। उसी के आधार पर आस्य प्रयत्नों का विवेचन किया जा रहा है—

स्पृष्ट

स्पृष्ट का अर्थ है—स्पर्श किया गया। इस प्रयत्न द्वारा करण (गतिशील उच्चारणमुखावयव) उच्चारण स्थान को पूर्णरूप से स्पर्श करके मुख के अन्दर आयी हुई नाद तथा श्वास संज्ञक द्रव्य-विशेष को रोक लेता है। इस स्पर्श-काल में ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती क्योंकि उस समय वायु का पूर्णरूपेण अवरोध हो जाता है। स्पर्श समाप्त होते ही स्फुटित होकर वायु बाहर निकलती है तभी ध्वनि सुनायी पड़ती है। वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा के अनुसार स्पर्शवर्णों का आस्य प्रयत्न स्पृष्ट होता है।[3] ककार से मकार पर्यन्त वर्ण स्पर्श कहलाते हैं। इन वर्णों

---

1. चतुर्विधं करणम् स्पृष्टमस्पृष्टं संवृतं विवृतञ्चेति।
(या० शि० पृ० 53)
2. संवृतं विवृतं तद्वदस्पृष्टं स्पृष्टमेव च।
ईषत्स्पृष्टं चार्धस्पृष्टमास्यप्रयत्नस्तु षड्विधः॥ (व० प्र० शि० 39)
3. स्पष्टाः स्पर्शास्तु विज्ञेयाः··· । (व० प्र० शि० 41)

के उच्चारण में करण स्थान का पूर्णरूपेण स्पर्श करता है। इसी स्पर्श क्रिया के परिणामस्वरूप उच्चारित होने के कारण ये वर्ण भी स्पर्श कहे जाते हैं।

ईषत्स्पृष्ट

ईषत्स्पृष्ट का अर्थ है—थोड़ा सा स्पर्श। इस आभ्यन्तर प्रयत्न में करण उच्चारणस्थान का न पूर्णरूपेण स्पर्श करता है और न तो दूर ही रहता है। प्रत्युत थोड़ा-सा स्पर्श करता है जिससे मुख में आयी हुई नादसंज्ञक वायुरूपद्रव्य का न तो पूर्णतः अवरोध होता है और न निर्बाधगति से निष्कासन। प्रत्युत वायु थोड़ी अवरुद्ध होकर बाहर निकलती है। ईषत्स्पृष्ट करण द्वारा अन्तःस्थ वर्ण उच्चारित होते हैं।[1] स्वरवर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न अस्पृष्ट होता है। अतः स्पृष्ट तथा अस्पृष्ट के मध्य की अवस्था में उच्चारित होने के कारण ही ये वर्ण अन्तःस्थ या अर्धस्वर कहलाते हैं।

अर्धस्पृष्ट

अर्द्धस्पृष्ट का अर्थ है—आधा स्पर्श किया गया। इस मुखप्रयत्न में करण का आधा भाग उच्चारणस्थान का स्पर्श करता है और आधा भाग नहीं। अतः मुख में आयी हुई वायु संघर्षण करती हुई मुख से बाहर निकलती है। इसीलिए इस प्रयत्न से उत्पन्न वर्ण ऊष्म या संघर्षी कहलाते हैं। ऊष्म वर्णों के उच्चारण में यह मुखप्रयत्न होता है।

अस्पृष्ट

अस्पृष्ट का अर्थ है—स्पर्श न किया गया। इस आभ्यन्तर प्रयत्न में करण उच्चारण स्थान के समीप में जाता है किन्तु उसका स्पर्श नहीं करता अतः वायु का अवरोध नहीं होता। मुख में आयी हुई वायु विना अवरोध तथा संघर्षण के मुख से बाहर निकलती रहती है। इस प्रयत्न से स्वर वर्णों का उच्चारण होता है।[2] इस प्रयत्न को दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है—(1) संवृत तथा (2) विवृत।

---

1. अन्तःस्था ईषत्स्पृशः। (व० प्र० शि० 41)
3. अस्पृष्टास्यप्रयत्नाश्च स्वराः सर्वे भवन्ति हि। (व० प्र० शि० 40)

संवृत

संवृत का अर्थ है—बन्द। इस प्रयत्न में मुख के सभी उच्चारणावयव अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहते हैं। इस प्रयत्न द्वारा अकार का उच्चारण होता है।[1]

विवृत

विवृत का अर्थ है—खुला हुआ। इस प्रयत्न में मुख अपनी स्वाभाविक अवस्था से अधिक खुल जाता है जिससे वायु अबाध गति से बाहर निकल जाती है। यह प्रयत्न बहुत देर तक हो सकता है। अतः इस प्रयत्न द्वारा उच्चारित होने वाले वर्णों का अधिक देर तक उच्चारण हो सकता है। यह मुखप्रयत्न अकार से अन्य स्वरों के उच्चारण में होता है।[2]

वर्णोच्चारण में स्थान तथा करण

वर्णों के उच्चारण करने के लिए कण्ठ-विवर में विकृत होकर प्राप्त वायु-रूप द्रव्य को मुख में आने पर भी उसे विकृत करना पड़ता है। ऐसा करने के लिए मुखस्थ उच्चारणावयव कार्य करते हैं। इस क्रिया में भाग लेने वाले दो प्रकार के अङ्ग होते हैं जिनमें से एक को उच्चारण का स्थान तथा दूसरे को करण कहा जाता है। उच्चारण स्थान प्रायः निष्क्रिय तथा अचल होता है और करण सक्रिय तथा गतिशील होता है। इस प्रकार करण वह अंगविशेष है जो उच्चारण के लिए विशेष व्यापार (प्रयत्न) करता है तथा स्थान वह अंगविशेष है जहाँ मुख में आयी हुई वायु को करण द्वारा विकृत होना पड़ता है।

उच्चारण स्थान

स्थान शब्द गति अवरोधक स्था धातु से अधिकरण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। वर्णोच्चारण के समय जहाँ स्पर्श अथवा उपसंहार द्वारा मुख में आयी हुई वायु को विकृत किया जाता है वह स्थान कहलाता है। उदाहरणार्थ किसी वर्ण के उच्चारण में मुख में आयी हुई वायु को तालु पर विकृत किया जाता है तो उस वर्ण का उच्चारण स्थान तालु होता है। यदि मूर्धा पर विकृत किया जाय तो उसका उच्चारण स्थान मूर्धा होता है।

---

1. अकारः संवृतो ज्ञेयः······। (व० प्र० शि० 40)
2. ······विवृताश्चेतरे स्वराः। (वही 40)

उच्चारणकरण

"करोति अनेनेति करणम्" के अनुसार जिस अङ्ग के द्वारा उच्चारणार्थ वायु को विकृत किया जाता है वह करण कहलाता है। करण शब्द करणार्थक कृ धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। करण वह अंग-विशेष है जिसके द्वारा वायु को उच्चारण स्थान पर विकृत किया जाता है। उदाहरणार्थ किसी वर्ण के उच्चारण में जिह्वामध्य से तालु पर मुख में आयी हुई वायु को विकृत किया जाता है तो जिह्वामध्य करण होता है।

वर्णों के उच्चारण में निर्दिष्ट स्थान तथा करण

यद्यपि वर्णों के उच्चारण स्थान तथा करण के विषय में प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों में अत्यधिक वैषम्य दिखलायी देता है तथापि शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षा-कारों के अनुसार उनका विवेचन किया जा रहा है—

स्वर वर्णों के उच्चारण में स्थान तथा करण

स्वर-वर्णों के उच्चारण में कण्ठविवर में विकृत नाद नामक द्रव्य के रूप में उपलब्ध वायु मुखविवर में आती है वहाँ भी उसका विकार होता है। वहाँ यह विकार स्थान पर करण द्वारा होता है। यह विकार आभ्यन्तर प्रयत्न के फलस्वरूप होता है। स्वर वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न अस्पृष्ट है जिसके परि-णामस्वरूप करण का स्थान पर उपसंहार होता है। उपसंहार का अर्थ है—समीप में जाना। अर्थात् स्वर वर्णों के उच्चारण में करण स्थान के समीप में जाकर नाद नामक वायु को विकृत करके स्वर वर्णों का उच्चारण कराता है। शुक्ल-यजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में स्वरवर्णों के उच्चारण स्थान तथा करण का विधान इस प्रकार हुआ है—

अवर्ण

या० शि० के अनुसार अवर्ण अर्थात् अ आ तथा आ३ का उच्चारण-स्थान कण्ठ है[1], इसमें इन वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त करण का निर्देश नहीं हुआ है। व० प्र० शि० में भी अवर्ण का उच्चारण स्थान कण्ठ बतलाया गया है तथा इसके अनुसार अवर्ण का करण हनुमध्य है।[2] षोडशश्लोकी शिक्षा में भी अकार के

1. त्रयः कण्ठ्या अ आ आ३; इत्यवर्णः।
(या० शि० 2/97 तथा 2/98 के बीच गद्यभाग)

2. अवर्णश्च विसर्गश्च हकारश्चापि केवलः।
कण्ठ्या वर्णा स्मृता ह्येषां हनुमध्यं तु कारणम्॥
व० प्र० शि०, शि० सं० पृ० 120.

कण्ठस्थानीय होने का विधान किया गया है।[1] अन्य शिक्षाओं में अवर्ण के उच्चारणस्थान तथा करण का निर्देश नहीं उपलब्ध होता। इस प्रकार शुक्ल-यजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में उपलब्ध विधानों के अनुसार अवर्ण का स्थान कण्ठ है। कण्ठ स्थान से उच्चारित होने के कारण ये वर्ण कण्ठ्य कहलाते हैं। इनका उच्चारण हनुमध्य करण से होता है। इससे प्रतीत होता है कि अवर्ण के उच्चारण में कण्ठ स्थान पर हनुमध्य करण द्वारा नाद नामक वायु-रूप द्रव्य को विकृत किया जाता है।

इवर्ण

या० शि० में इवर्ण का स्थान तालु बतलाया गया है।[2] व० प्र० शि० के अनुसार इवर्ण का उच्चारण स्थान तालु तथा करण जिह्वामध्य निर्दिष्ट है।[3] षोडशश्लोकी शिक्षा में भी इवर्ण को तालु स्थान से उच्चारित होने वाला बतलाया गया है।[4] अन्य शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाएँ इवर्ण के उच्चारण स्थान तथा करण के विषय में मौन हैं। इस प्रकार इस वेद की शिक्षाओं के विधानों के अनुसार इवर्ण का उच्चारण स्थान तालु तथा करण जिह्वामध्य है। अर्थात् इसके उच्चारण में जिह्वामध्य द्वारा तालु स्थान पर नाद नामक वायु-रूप द्रव्य को विकृत किया जाता है।

उवर्ण

या० शि० के अनुसार उवर्ण उ, ऊ तथा ऊ3 का उच्चारण स्थान ओष्ठ है।[5] व० प्र० शि० में उवर्ण के उच्चारण स्थान तथा करण—दोनों को ओष्ठ बतलाया गया है।[6] यहाँ उल्लेखनीय है कि उच्चारण स्थान निष्क्रिय तथा अचल

1. अकुविसर्जनीयानां स्यात् कण्ठ्यम् ।(षोडशश्लोकी शि० 11)
2. नव तालव्या इ ई ई3; इतिइवर्णः च छ ज झ ञ एकारश्चेति।
   (या० शि० 2/97 तथा 2/98 के मध्यगद्य)
3. इवर्णोऽथ चवर्गश्च एऐकारो यशैः सह।
   तालुस्थानः भवन्त्येषा जिह्वामध्यं तु कारणम् ।।
   व० प्र० शि० (शि० सं० 119)
4. यिश्चु तालुकम् (षो० श्लो० शि० 11)
5. नव ओष्ठ्या उ ऊ ऊ3; इत्युवर्णः पफबभमवकारोपध्मानीया ओकारश्चेति।
   (या० शि० 2/97 तथा 2/98 के बीच का मध्य भाग)
6. उवर्णोऽथ...ओष्ठ्या एते स्मृताः...समानस्थानकरणनासिक्योष्ठ्याः प्रकीर्तिताः
   (व० प्र० शि०, शि० सं० पृ० 119–20)

एवम् करण सक्रिय तथा चंचल होता है। अतः इसके उच्चारण में अचल होने के कारण ऊपरी ओष्ठ स्थान तथा सक्रिय चंचल होने के कारण निचला ओष्ठ करण का कार्य करता है। षोडशश्लोकी शिक्षा का उवर्ण के उच्चारण स्थान विषयक विचार, या० शि० तथा व० प्र० शि० के मत से अलग है। उसके अनुसार उवर्ण का उच्चारण स्थान दन्तोष्ठ है।[1] इस प्रकार उवर्ण के उच्चारण में ऊपरी ओष्ठ स्थान तथा निचला ओष्ठ करण होता है।

ऋवर्ण

या० शि० में प्रतिपादित किया गया है कि ऋवर्ण (ऋ ॠ तथा ॠ3 वर्ण) जिह्वामूलीय हैं। अर्थात् इन वर्णों का उच्चारण स्थान जिह्वामूल है।[2] व० प्र० शि० के अनुसार ऋवर्ण जिह्वामूलीय है[3] अर्थात् इस वर्ण का उच्चारण स्थान जिह्वामूल है। इस शिक्षा में जिह्वामूल को ही इसका करण भी वतलाया गया है।[4] षोडशश्लोकी शिक्षा में ऋकार का स्थान दन्त बतलाया गया है।[5] इसमें इसके करण का विधान नहीं किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाकारों ने भी ऋवर्ण के उच्चारण स्थान के विषय में मतैक्य नहीं है। याज्ञवल्क्य तथा वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा के कर्त्ताओं को ऋकार का उच्चारण-स्थान कण्ठ अभिमत है जबकि षोडशश्लोकी शिक्षा के प्रणेता को दन्त।

ऌवर्ण

या० शि० के अनुसार ऌवर्ण अर्थात् ऌ ॡ तथा का ॡ३ उच्चारण स्थान दाँत है।[6] व० प्र० शि० के अनुसार ऌवर्ण दन्त्य है अर्थात् इनका उच्चारण स्थान

---

1. वोदन्तोष्ठं··· (षो० श्लो० शि० 12)
2. सप्त जिह्वामूलीया ऋ ॠ ॠ3, इत्यृवर्ण क् ख् ग् घ् ङ् इति। (या० शि० 2/97–98 के मध्य)
3. ऋवर्णोऽथ कवर्गश्च जिह्वामूलीय एव च। (व० प्र० शि०, शि० सं० 119 पूर्वार्द्ध)
4. जिह्वामूलेन भवन्त्येषां जिह्वामूलं तु कारणम्। (व० प्र० शि०, शि० सं० पृ० 119 उत्तरार्द्ध)
5. ऋटुर्कस्लतुला दन्तम्··· (षोडशश्लोकी शि० 11)
6. अष्टो दन्त्याः ऌ ॡ ॡ३ इति ऌवर्णः तथदधनलकार सकाराः इति। (या० शि० 2/97–98 के मध्य, गद्य)

दन्त है। इसके अनुसार इसका करण जिह्वाग्र है[1] अर्थात् ऌवर्ण के उच्चारण में जिह्‌वा के अग्रभाग से दाँतों के समीप में नाद संज्ञक वायु-रूप द्रव्य-विशेष को विकृत किया जाता है। षोडशश्लोकी शिक्षा के अनुसार ऌवर्ण का उच्चारण स्थान भी दन्त ही है। अन्य शिक्षाएँ इस विषय में मौन हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं में उपलब्ध विधानों के अनुसार ऌवर्ण का उच्चारण स्थान दन्त है।

एकार

शिक्षा-ग्रन्थों में एकार के उच्चारण स्थान के विषय में दो मत प्रतीत होते हैं। एक मत के अनुसार इसका उच्चारण समानाक्षर स्वर वर्णों के समान एक ही स्थान से होता है वह है तालु। द्वितीय मत वाले इन्हें सन्ध्यक्षर मानकर दो स्थानों से उच्चारित होने वाला बतलाते हैं। इसका विस्तृत विवेचन इसी प्रकरण के कतिपय वर्णों के स्वरूप के विषय में विचार करते समय ,किया जायेगा। यहाँ उनका निर्देश मात्र किया जा रहा है। या० शि० के अनुसार एकार का उच्चारण स्थान तालु है।[2] इसी शिक्षा में एकार के कण्ठ तथा तालु दोनों स्थानों से उच्चारित होने का विधान हुआ है।[3] यहाँ सन्ध्यक्षर के रूप में एकार को दो स्थानों से उच्चारित होने वाला बतलाया गया है जिसमें कण्ठ तथा तालु दोनों स्थानों का उपयोग होता है। वर्णरत्नप्रदीपशिक्षा में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है। इसमें एकार के उच्चारण-स्थान के साथ इसके उच्चारण में प्रयुक्त करण का भी निर्देश हुआ है। इसके अनुसार एकार का उच्चारण स्थान तालु तथा करण जिह्‌वामध्य है।[4] इस प्रकार अस्पृष्ट नामक प्रयत्न के परिणाम स्वरूप एकार के उच्चारण में जिह्‌वा का मध्य भाग तालु स्थान के समीप जाकर कण्ठ-

---

1. ऌलसिता स्मृता दन्त्या जिह्‌वाग्रकरणा हि ते।
शि० सं० पृ० 119 (व० प्र० शि०)

2. नव तालव्याः इ ई ई3, इतीवर्णः चछजझञयशाएकारश्चेति।
(या० शि० 2/97 तथा 98 के मध्य)

3. अर्धमात्रा तु कण्ठस्य एकारोकारयोर्भवेत्।
तालव्यस्य तथौष्ठ्यस्य द्वितीया च यथाक्रमात्॥ (या० शि० 2/21)

4. इवर्णोऽथ चवर्गश्च एऐकारो यशैः सहः।
तालुस्थाना भवन्त्येषां जिह्‌वामध्यं तु कारणम्॥
(शि० सं० पृ० 119, व० प्र० शि०)

विवर में विकृत होकर नाद नामक द्रव्य को प्राप्त वायु को विकृत करता है। इसमें भी सन्ध्यक्षर मानकर एकार को दो स्थानों से उच्चारित होने का भी विधान हुआ है। इसके अनुसार एकार कण्ठ-तालव्य वर्ण है।[1] इसके उच्चारण में कण्ठ तथा तालु दोनों स्थानों का उपयोग किया जाता है। इसी शिक्षा में कण्ठ्य वर्णों के उच्चारण में हनुमध्य तथा तालव्य वर्णों के उच्चारण में जिह्वामध्य को करण बतलाया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि एकार के उच्चारण में पहले हनुमध्य कण्ठ के समीप तत्पश्चात् जिह्वामध्य तालु के समीप जाकर मुख-विवर में आयी हुई वायु को विकृत करता है। इसी तथ्य का उद्घाटन करते हुए षोडशश्लोकी शिक्षा में भी एकार को कण्ठ-तालु स्थानीय बतलाया गया है।[2]

ऐकार

ऐकार के उच्चारण के विषय में भी एकार के समान दो प्रकार के विवेचन उपलब्ध होते हैं। प्रथम मत समानाक्षर के समान एक स्थानीय तथा द्वितीय मत सन्ध्यक्षर के समान द्विस्थानीय मानता है। विस्तृत विवेचन के लिए वर्णों के स्वरूप के विषय में विचार द्रष्टव्य है। शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षा ग्रन्थों के उपलब्ध विधानों में ऐकार को द्विस्थानीय बतलाया गया है। या० शि० में विधान किया गया है कि एकार तथा ओकार में पूर्व का भाग कठ्य तथा परवर्ती भाग क्रमशः तालव्य और ओठ्य है। इसी प्रकार क्रमशः दूसरे अर्थात् ऐ और औ के विषय में भी समझना चाहिए।[3] इससे प्रतीत होता है कि ऐकार का उच्चारण एकार के समान कण्ठ तथा तालु दोनों स्थानों से होता है इसी तथ्य का उद्घाटन व० प्र० शि० तथा षोडशश्लोकी शिक्षा में भी किया गया है।[4] व० प्र० शि० के अनुसार कण्ठ्य

---

1. एऐ तु कण्ठतालव्यो ओ औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ।
   शि० प्र० पृ० 120 (व० प्र० शि०)
2. ओदौतोरपि कण्ठोष्ठं त्वेदैतोः कण्ठतालुकम्।
   (षोडशश्लोकी शिक्षा, शि० सं० पृ० 165।)
3. अर्धमात्रा नु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेत्।
   तालव्यस्य तथौष्ठ्यस्य द्वितीया च यथाक्रमात्॥ (या० शि० 2/21)
4. एऐ तु कण्ठ्यतालव्यौ ओ औ कण्ठ्योष्ठजौ स्मृतौ।
   शि० सं० पृ० 120 (व० प्र० शि०)
   · आदोतोरपि कण्ठोष्ठं त्वेदैतोः कण्टतालुकम्।
   शि० सं० पृ० 165 (षो० श्लो० शि०)

वर्णों का करण हनुमध्य तथा तालव्य वर्णों का जिह्वामध्य है। इससे स्पष्ट होता है कि ऐकार के उच्चारण में पहले हनुमध्य कण्ठ स्थान के तत्पश्चात् जिह्वामध्य तालुस्थान के समीप जाकर वायु को विवृत करता है।

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में एकार तथा ऐकार के उच्चारण स्थान में समान प्रकार का निर्देश किया गया है किन्तु इनके उच्चारण में वैषम्य श्रुतिगोचर होता है। इसका स्पष्टीकरण कतिपय वर्णों के स्वरूप के विषय में विचार करते समय इसी अध्याय में किया जायेगा।

ओकार

ओकार भी सन्ध्यक्षर है अतः इसके उच्चारण में द्विस्थानता होनी चाहिए। ऐकार भी भाँति इसके उच्चारण में कतिपय आचार्य एक स्थान तथा कतिपय आचार्य दो स्थानों के उपयोग को स्वीकारते हैं। या० शि० में इसकी एक स्थानता तथा द्विस्थानता दोनों का उल्लेख हुआ है। इसके अनुसार ओकार कण्ठस्थानीय है।[1] इसी में इसकी द्विस्थानता का भी प्रतिपादन किया गया है।[2] व०प्र० शि० में भी ओकार को ओष्ठस्थानीय बतलाया गया है।[3] इसमें औष्ठ्य वर्णों का करण (निचला) ओष्ठ बतलाया गया है। इस प्रकार ओकार के उच्चारण में करण (निचला ओष्ठ) स्थान ऊपरी ओष्ठ से समीप में जाकर वायु को विकृत करता है। इसी शिक्षा में ओकार की द्विस्थानता का भी प्रतिपादन हुआ है। इसके अनुसार ओकार कण्ठ्य-ओष्ठ्य है।[4] अर्थात् ओकार का उच्चारण कण्ठ तथा ओष्ठ—दोनों स्थानों से होता है। इस शिक्षा में कण्ठ्य वर्णों का करण हनुमध्य तथा ओष्ठ्य वर्णों का करण निचला ओष्ठ बतलाया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अस्पृष्ट आभ्यन्तरप्रयत्न के परिणाम-स्वरूप ओकार के उच्चारण में पहले हनु का मध्य-

---

1. नव ओष्ठ्या उ ऊ उ3, इत्युवर्णः पफबभमवकारोपध्मानीय ओकारश्चेति।
(या० शि० 2/97 तथा 98 के बीच का गद्यभाग)
2. अर्धमात्रा तु कण्ठ्ययस्य एकारौकारयोर्भवेत्।
तालव्यस्य तथौष्ठ्यस्य द्वितीया च यथाक्रमात्॥ (या० शि० 2/21)
3. उवर्णोऽथ पवर्गश्च ओऔकारो तथा च वः।
ओष्ठ्या एते स्मृता वर्णाः उपध्मानीय एव च॥
समानस्थानकरणनासिक्योष्ठ्याः प्रकीर्तिताः।
(व० प्र० शि० शि० सं० पृ० 119–20)
4. एऐ कण्ठ्यतालव्यौ औ कण्ठ्योष्ठजो स्मृतो।
शि० सं० पृ० 120 (व० प्र० शि०)

भाग कण्ठस्थान तथा पुनः निचला ओष्ठ ऊपरी ओष्ठ स्थान के समीप जाकर वायु को विकृत करता है। इसी तथ्य को षोडशश्लोकी शिक्षा में भी प्रतिपादित किया गया है।[1]

औकार

औकार की द्विस्थानता को सभी शिक्षाग्रन्थों में प्रतिपादित किया गया है। इसका विस्तृत विवेचन इसी अध्याय में किया जायेगा। या० शि० में औकार को कण्ठ तथा ओष्ठ दोनों स्थानों से उच्चारित होने का विधान करते हुए कहा गया है कि एकार तथा ओकार में पूर्ववर्ती भाग कण्ठ्य तथा परवर्ती भाग क्रमशः तालव्य और ओष्ठ्य होता है।[2] इसी प्रकार क्रमशः दूसरों (ऐकार तथा औकार) को भी समझना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि ऊौकार का पूर्ववर्ती भाग कण्ठ तथा परवर्ती भाग ओष्ठ स्थान से उच्चारित होता है। व० प्र० शि० के अनुसार भी औकार कण्ठ्योष्ठ्य वर्ण है। इसमें कण्ठ्य वर्ण का करण हनुमध्य तथा ओष्ठ्य वर्ण का करण निचला ओष्ठ्य बतलाया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ओकार के उच्चारण में पहले हनुमध्य के तत्पश्चात् निचला ओष्ठ ऊपरी ओष्ठ के समीप जाकर मुख में आयी हुई वायु को विकृत करते हैं। यही तथ्य षोडशश्लोकी शिक्षा में भी उद्घाटित किया गया है।[3]

व्यञ्जन वर्णों का स्थान तथा करण

व्यञ्जन वर्णों के उच्चारण में कण्ठविवर में विकृत नाद तथा श्वास नामक द्रव्यविशेष के रूप में उपलब्ध होकर मुख-विवर में आती है। वहाँ विभिन्न स्थानों पर विभिन्न करणों द्वारा विभिन्न आभ्यन्तर प्रयत्नों द्वारा पूर्णतः स्पर्श थोड़ा स्पर्श अथवा आधा स्पर्श द्वारा विभिन्न वर्णों से स्वरूप को धारण करती है। उनके स्थान तथा करण का शिक्षाग्रन्थों में उल्लेख किया गया है।

स्पर्श वर्णों के उच्चारण में स्थान तथा करण

स्पर्श वर्ण के उच्चारण में स्पृष्ट नामक आभ्यान्तर प्रयत्न द्वारा स्थान तथा करण का पूर्णतः स्पर्श होता है जिससे वायु पूर्णतः अवरुद्ध हो जाती है। यह स्पर्श

---

1. ओदौतोरपि कण्ठोष्ठम् त्वेदैतोः कण्ठतालुकम्।
   षो० श्लो० शि०, शि० सं० पृ० 165
2. अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेत्।
   तालव्यस्य तथौष्ठ्यस्य द्वितीया च यथाक्रमात् (या० शि० 2/21)
3. ओदौतोरपि कण्ठोष्ठम् त्वेदैतोः कण्ठतालुकम्।
   षो० श्लो० शि०, शि० सं० पृ० 165

किया उच्चारण स्थान पर करण द्वारा होती है। उच्चारण स्थान अचल तथा निष्क्रिय होते हैं तथा करण चञ्चल तथा सक्रिय होते हैं। स्पर्श वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त स्थान तथा करण का शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

कवर्ग

या० शि० में विधान किया गया है कि क ख ग घ ङ—ये जिह्वामूलीय है।[1] अर्थात् इन वर्णों का उच्चारण-स्थान जिह्वामूल है। इसी तथ्य का समर्थन व० प्र० शि० में किया गया है[2] किन्तु इसमें कवर्ग के उच्चारण के साथ-साथ उसके करण का भी निर्देश हुआ है। इसके अनुसार इन वर्णों का करण भी जिह्वा-मूल है। षो० श्लो० शिक्षाकार को यह मत मान्य नहीं है। उसने कवर्गीय वर्णों को कण्ठ्य कहा है।[3] अन्य शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं में स्थान तथा करण का निर्देश नहीं मिलता। इस वेद से सम्बन्धित शिक्षाग्रन्थों में उपलब्ध विधानों में ऐसा प्रतीत होता है कि कवर्ग के उच्चारण के स्थान के विषय में सभी शिक्षाकार एक-मत नहीं हैं।

चवर्ग

या० शि० के अनुसार चवर्ग (=क् छ् ज् झ् ञ्) तालव्य हैं अर्थात् इन वर्णों का उच्चारण स्थान तालु है।[4] वर्णरत्नप्रदीप तथा षो० श्लो० शि० में भी इन वर्णों का उच्चारणस्थान तालू बतलाया गया है।[5] वर्णरत्नप्रदीप शि० के अनुसार तालव्य वर्णों का करण जिह्वामध्य है। इस प्रकार चवर्ग के वर्णों के उच्चारण में जिह्वा के मध्य भाग से तालु का स्पर्श किया जाता है। इस वर्ण के उच्चारण स्थान के सन्दर्भ में सभी शिक्षाग्रन्थों में उपलब्ध विधानों में साम्य है।

---

1. सप्तजिह्वामूलीयाः ऋ ॠ ऋ३ इत्यृवर्ण ⌒ क, क् ख् ग् घ् ङ् इति।
या० शि० 2/97–98 के मध्य
2. ऋवर्णोऽथ कवर्गश्च जिह्वामूलीय एव च।
जिह्वामूलेन भवन्त्येषां जिह्वामूलं च कारणम्॥ व० प्र० शि० 2
3. अकुविसर्जनीयानां स्यात् कण्ठ्यम्...। (षो० श्लो० शि० 11)
4. नवतालव्याः इ ई ई३ इती वर्ण च छ ज झ न य श एकारश्चेति।
या० शि० 2/97–98 के मध्य यिश्चु तालुकम् (षो० श्लो० शि० 11)
5. इवर्णोऽथ चवर्गश्च ए ऐकारो, यशैः सह।
तालुस्थाना भवन्त्येषा जिह्वामध्यं तु कारणम्॥
व० प्र० शि० (शि० सं० 119)

टवर्ग

या० शि० में प्रतिपादित किया गया है कि टवर्ग (=ट् ठ् ड् ढ् ण्) मूर्धन्य कहलाते हैं अर्थात् इनका उच्चारण स्थान मूर्धा है।[1] मूर्धा का शाब्दिक अर्थ होता है—सिर। किन्तु सिर से वर्णों का उच्चारण नहीं होता। अतः मूर्धा का लाक्षणिक अर्थ है—मुख-विवर की छत का सबसे ऊँचा भाग। व० प्र० शि० के अनुसार भी टवर्ग मूर्धन्य हैं जिसका करण प्रतिवेष्ठित जिह्वाग्र।[2] प्रतिवेष्ठित जिह्वाग्र का अर्थ है—मुड़ी हुई जिह्वा का अगला भाग। इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा को मोड़कर उसके अगले भाग से मूर्धा का स्पर्श किया जाता है। षो० श्लो० शि० के अनुसार भी टवर्ग का उच्चारण स्थान मूर्धा है।[3]

तवर्ग

सभी शिक्षा-ग्रन्थों में तवर्ग को दन्त्य कहा गया है। अर्थात् तवर्ग का उच्चारणस्थान दन्त है। या० शि० के अनुसार त् थ् द् ध् न्—इन वर्णों का उच्चारण स्थान दन्त है।[4] व० प्र० शि० में इसी तथ्य का उद्घाटन किया गया है। इसके अनुसार इन वर्णों का उच्चारण स्थान दन्त तथा करण जिह्वाग्र है।[5] इससे स्पष्ट है कि इनके उच्चारण में दाँतों पर जिह्वाग्र का स्पर्श होता है। इसमें जिह्वा की साधारण स्थिति अर्थात् सीधी पड़ी अवस्था में विद्यमान जिह्वा के अग्रभाग से ऊपरी जबड़े के अगले भाग के दाँतों पर स्पर्श किया जाता है। षो० श्लो० शि० में भी यही प्रतिपादित हुआ है कि तवर्ग का उच्चारण स्थान दन्त है।[6]

पवर्ग

शिक्षाग्रन्थों में पवर्ग को ओष्ठ्य कहा गया है; अर्थात् इसका उच्चारण—

---

1. षण्मूर्धन्याः टठडढणषा इति (या० शि० 2/97–98 के मध्य का गद्यभाग)
2. षकारोऽथ टवर्गश्च मूर्धन्याः परिकीर्तिताः।
   जिह्वायाः प्रतिवेष्ट्याग्रमेतेषां कारणं स्मृतम्॥
   व० प्र० शि० (शि० सं०, पृ० 119)
3. ऋटुर्क······(षोडशश्लो० शि० 11)
4. अष्टौ दन्त्याः लृ लृ लृ३ इति लृवर्णः तथदधनलकारसकारा इति स्मृताः।
   (या० शि० 2/97–98 के मध्य का गद्य)
5. लृलसिता दन्त्याः जिह्वाग्रकरणा हि ते। (व प्र० शि०; शि० सं० पृ० 119)
6. ऋटुर्क स्लृतुला दन्तम्······(षो० श्लो० शि० 11)

स्थान ओष्ठ हैं। या० शि० के अनुसार प् फ् ब् भ् म्—ये वर्ण ओष्ठ्य हैं।[1] व० प्र० शि० पवर्गीय वर्णों के उच्चारण स्थान तथा करण दोनों को बतलाया गया है।[2] यहाँ उल्लेखनीय है कि इन वर्णों के उच्चारण में ऊपरी तथा निचले दोनों ओष्ठों का उपयोग होता है। इनमें से एक ओष्ठ स्थान तथा दूसरा (=निचला ओष्ठ) करण का कार्य करता है। उच्चारणस्थान वह अंग होता है जो अचल एवं निष्क्रिय हो। सक्रिय तथा चंचल उच्चारणावयव करण कहलाता है। इस प्रकार स्थिर होने के कारण पवर्गीय वर्णों के उच्चारण में भी ऊपरी ओष्ठ स्थान का कार्य करता है तथा सक्रिय एवम् चञ्चल होने के कारण निचला ओष्ठ करण का। षो० श्लो० शि० के अनुसार भी पवर्ग वाले वर्णों का स्थान ओष्ठ है।[3] अन्य शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थ इस विषय में मौन हैं।

अन्तःस्थ वर्णों का उच्चारण स्थान तथा प्रयत्न

अन्तःस्थ वर्णों के उच्चारण में ईषत्स्पृष्ट नामक आभ्यन्तर प्रयत्न के परिणामस्वरूप करण उच्चारण स्थान को थोड़ा सा स्पर्श करता है। इनके उच्चारण में स्थान तथा करण का थोड़ा सा स्पर्श होने के कारण वायु का पूर्णतः अवरोध नहीं होता प्रत्युत थोड़े से अवरोध के पश्चात् वायु का स्फोटन हो जाता है।

यकार

यकार के उच्चारण स्थान के विषय में सभी शिक्षाग्रन्थों में मतैक्य है। या० शि० में यकार को तालव्य बतलाया गया है। अर्थात् यकार का उच्चारण स्थान तालु है।[4] षो० श्लो० शि० में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।[5] व० प्र० शि० में उच्चारण स्थान के साथ-साथ इस वर्ण के उच्चारण में

---

1. नव ओष्ठ्या उ ऊ ऊ३; इत्युवर्णः पफबभमवकारोपध्मानीय ओकारश्चेति।
(या० शि० 2/97–98 के मध्य का मद्य भाग)

2. उवर्णोऽथ पवर्गश्च ओऔकारो तथा च वः।
ओष्ठ्या एते स्मृता वर्णा उपध्मानी एव च॥
समानस्थानकरणा नासिक्याः प्रकीर्तिताः।
(व० प्र० शि०; शि० सं० पृ० 119)

3. ......पूपध्मानीयमोष्ठजम् (षो० श्लो० शि० 11)

4. नव तालव्याः इ ई ई३ इतवर्णः चछजझञयशा एकारश्चेति।
(या० शि० 2/97–98 के मध्य का गद्यभाग)

5. यिरचु तालुकम् (षो० श्लो० शि० 11)

प्रयुक्त करण का भी निर्देश किया गया है। इसके अनुसार यकार का उच्चारण स्थान तालु तथा करण जिह्वामूल है।[1] अर्थात् यकार के उच्चारण में जिह्वा का मध्य भाग ईषत्स्पृष्ट नामक आभ्यन्तर प्रयत्न के परिणामस्वरूप तालु स्थान पर थोड़ा सा स्पर्श करता है। शुक्लयजुर्वेद की अन्य शिक्षाओं में यकार के उच्चारण-स्थान तथा करण के विषय में विधान नहीं उपलब्ध होता।

रेफ

रेफ के उच्चारण-स्थान के विषय में शिक्षाग्रन्थों में ऐकमत्य नहीं है। यहाँ तक कि शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाकारों के मत में भी वैभिन्य है। या० शि० के अनुसार रेफ का उच्चारण स्थान दन्तमूल है।[2] व० प्र० शि० में भी रेफ का उच्चारण स्थान दन्तमूल बतलाया गया है। इसके अनुसार रेफ के उच्चारण में दन्तमूल (=स्थान) तथा जिह्वाग्र करण होता है।[3] तात्पर्य यह है कि रेफ के उच्चारण में ईषत्स्पृष्ट नामक आभ्यन्तर प्रयत्न के परिणामस्वरूप जिह्वा का अग्र भाग दाँतों के मूल पर थोड़ा सा स्पर्श करता है। पो० श्लो० शिक्षाकार को रेफ के उच्चारण स्थान के विषय में उपर्युक्त दोनों शिक्षाकारों का मत मान्य नहीं है। उसके अनुसार रेफ का उच्चारण स्थान मूर्धा है।[4] शुक्लयजुर्वेद के अन्य शिक्षाकार इस विषय में मौन हैं। इस प्रकार शुक्लयजुर्वेद की शिक्षाओं में भी रेफ के उच्चारण स्थान के विषय में विवाद है। कतिपय शिक्षाकार इसे दन्तमूलीय स्वीकारते हैं तो कतिपय मूर्धन्य।

लकार

या० शि० में प्रतिपादित किया गया है कि लकार का उच्चारण दन्त-स्थान पर होता है।[5] व० प्र० शि० के अनुसार भी लकार दन्त्य है जिसका करण

---

1. इवर्णोऽथ चवर्गश्च एऐकारो यशौः सह।
   तालुस्थाना भवन्त्येषां जिह्वामध्यं तु कारणम्
   व० प्र० शि०, शि० सं० पृ० 119
   यिश्चु तालुकम्। (पो० श्लो० शि० 11)
2. एकोदन्तमूलीयो रेफः। (या० शि० 2/97–98 के मध्य, गद्य)।
3. रेफस्तु दन्तमूलस्थो जिह्वाग्रेण विधीयते। (व० प्र० शि० 30)।
4. ऋटुर्क…… (पो० श्लो० शि० 11)
5. अष्टौ दन्त्याः ल लृ लृ३ इति लृवर्णं तथदधनलकारसकारा इति
   (या० शि० 2/97–98 के मध्य का गद्यभाग)।

जिह्वाग्र है।[1] इससे स्पष्ट होता है कि ल्कार के उच्चारण में ईषत्स्पृष्ट नामक आभ्यन्तर प्रयत्न के फलस्वरूप जिह्वा का अग्रभाग दन्त पर थोड़ा-सा स्पर्श करता है। षो० श्लो० शि० में भी लकार का उच्चारण स्थान दन्त बतलाया गया है।[2] इस प्रकार शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाकारों द्वारा प्रतिपादित विद्वानों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि लकार का उच्चारण स्थान दन्त है।

वकार

शुक्लयजुर्वेदीय कतिपत शिक्षा ग्रन्थों में वकार का उच्चारण स्थान ओष्ठ बतलाया गया है तो कतिपय शिक्षाकारों के अनुसार इसका उच्चारण स्थान दन्तोष्ठ है। या० शि० में विधान किया गया है कि वकार ओष्ठ्य है।[3] इस प्रकार इसका उच्चारण स्थान ओष्ठ बतलाया गया है। व० प्र० शि० में भी इसी तथ्य को स्वीकारते हुए कहा गया है कि वकार का उच्चारण स्थान ओष्ठ है। इसमें दन्ताग्र को वकार का करण बतलाया गया है।[4] इस प्रकार वकार के उच्चारण में ईषत्पृष्ट नामक आभ्यन्तर प्रयत्न के परिणामतः उच्चारण स्थान ऊपरी ओष्ठ पर करण दाँतों का अग्र भाग थोड़ा सा स्पर्श करता है किन्तु षोडश-श्लोकी शिक्षा में वकार का उच्चारण स्थान दन्तोष्ठ बतलाया गया है।[5]

वकार के भेद

शिक्षा ग्रन्थों में वकार को तीन प्रकार का बतलाया गया है। अमोघ-नन्दिनी शि० के अनुसार वकार तीन प्रकार का होता है—गुरु, लघु तथा लघुत्तर।

गुरु वकार

अमोघ नन्दिनी शि० के अनुसार पदादि वकार गुरु होता है।[6] अर्थात् पद के प्रारम्भ में विद्यमान वकार को गुरु जानना चाहिए। जैसे—व्वसो मम। यहाँ पद के आदि में विद्यमान वकार गुरु है। या० शि० के अनुसार पदादि में

---

1. ल्लसिताः स्मृताः दन्त्याः जिह्वाग्रकरणा हि ते।
(व० प्र० शि०, शि० प्र० पृ० 119)
2. ...स्ल्तुला दन्तम्... (षो० श्लो० शि० 11)
3. नव ओष्ठ्या उ ऊ ऊ3; इत्युवर्णः पफबभमवकारोपध्मानीयाः ओकारश्चेति।
(या० शि० 2/97–98 के मध्य का गद्य भाग)
4. वकारः ओष्ठसम्भूतो दन्ताग्रकरणः स्मृतः। (व० प्र० शि० 32)
5. वोदन्तोष्ठं... (षो० श्लो० शि० 12)
6. आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्ते च लघूत्तरः। (अमोघा० शि० 27)

स्थित वकार गुरु होता है।[1] या० शि० के अनुसार पद के आदि में, पाठ के आदि में तथा अवग्रह के समय वकार का उच्चारण गुरु के समान करना चाहिए। अर्थ के समय उसे ह्रस्व मानना चाहिए।[2]

लघु वकार

अमोघ नन्दिनी शि० के अनुसार पद के मध्य में विद्यमान वकार लघु होता है।[3] जैसे—वायवस्थ। यहाँ मध्य में स्थित वकार लघु कहलाता है। या० शि० में भी विधान किया गया है कि पद के मध्य में स्थित वकार लघु होता है।[4] लघु अमोघ नन्दिनी शि० के अनुसार उपसर्ग से परवर्ती तथा वो वां वा वे वि वो में वकार लघु होता है।[5] अथ मा स न शब्द के बाद में स्थित तथा आम्रेडित (दो बार पठित) पद में स्थित वकार विकल्प से लघु होता है।[6]

लघुतर वकार

अमोघ नन्दिनी शिक्षा के अनुसार पदान्त वकार लघुतर होता है।[7] या० शि० के अनुसार भी पदान्त वकार लघुतर होता है।[8] पदान्त ओकार तथा पदादि अकार के होने पर सन्धि के परिणाम स्वरूप उपलब्ध वकार लघुतर होता है। जैसे—अग्नौ + अग्निः = अग्नावग्निः .[9] यहाँ पदान्त औकार तथा पदादि अकार के विद्यमान होने पर सन्धि के परिणाम-स्वरूप प्राप्त आव् का वकार लघुतर है। या० शि० 2/58 के अनुसार इको यणचि-आदि सन्धि के परिणाम-स्वरूप

---

1. आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्तश्च लघूत्तरः। (या० शि० 2/53)
2. पादाद्यश्च पदाद्यश्च तथावग्रहकालिकम्।
   सुस्पृष्टं तं विजानीयात् तत्कालनिबन्धनम्॥ (या० शि० 2/55)
3. ...आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्ते च लघूत्तरः। (अमोघ० शि० 27)
4. आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्तश्च लघूत्तरः। (या० शि० 2/53)
5. वो वां वा वे वि वो पाठे उपसर्गात्परो लघु। (ल० अमो० शि० 9 पूर्वार्ध)
6. अथ मा स न शब्देभ्यो विभाषाम्रेडिते यवौ। (ल० अमो० शि० 9 उ०)
7. आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्ते च लघूत्तरः। (अमोघा शि० 27)०
8. पदान्तश्च लघूत्तरः। (या० शि० 2/53)
9. औकारे च पदे पूर्वं अकारः परतः स्थिते।
   लघूत्तरं विजानीयादग्नावग्निर्निदर्शनम्॥ (अमोघ० शि० 28)

तथा उपसर्गों के बाद में आने वाले यकार तथा वकार का उच्चारण लघुत्तर होता है। अथ, मा, स तथा न शब्द से परे आम्रेडित संज्ञक यकार तथा वकार का भी उच्चारण लघुत्तर होता है।[1]

ऊष्म वर्णों का स्थान तथा करण

ऊष्म वर्णों के उच्चारण में कण्ठ-विवर पर स्वर-तन्त्रियों द्वारा विकृत वायु-रूप नाद तथा श्वास संज्ञक द्रव्य-विशेष जब मुख-विवर में आता है तो वहाँ अर्धस्पृष्ट नामक आभ्यन्तर प्रयत्न के फलस्वरूप स्थान तथा करण का आधा स्पर्श होता है जिससे वायु-मार्ग न तो पूर्णरूपेण खुला रहता है और न पूर्णरूपेण बन्द। अतः मुख में आयी नाद तथा श्वास-संज्ञक वायु संघर्षण के बाद बाहर निकलती है जिससे ऊष्म वर्णों की उत्पत्ति होती है। ऊष्म वर्ण चार हैं—श, ष, स तथा ह। श, ष, स अघोष वर्ण हैं अतः इनके उच्चारण में श्वास संज्ञक द्रव्य मुख-विवर में आती है तथा हकार सघोष वर्ण है अतः इसके उच्चारण में नाद संज्ञक। इस प्रकार ऊष्म वर्णों के उच्चारण में उच्चारण स्थान पर करण का आधा भाग स्पर्श करता है। इस वर्णों के उच्चारण में किस-किस उच्चारण स्थान तथा करण का प्रयोग करता है? इसका विवेचन शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षा ग्रन्थों में प्रतिपादित किया गया है जो इस प्रकार है—

शकार

या० शि० में विधान किया गया है कि शकार तालव्य है।[2] इस प्रकार इसका उच्चारण तालु स्थान पर होता है। वर्णरत्नप्रदीपशिक्षा के अनुसार भी शकार का उच्चारण स्थान तालु है।[3] इसमें इस वर्ण के करण का विधान किया गया है। इसके अनुसार शकार का उच्चारण जिह्वामध्य करण से होता है।[4] इस प्रकार शकार के उच्चारण में जिह्वा के मध्य भाग का तालु स्थान पर आधा स्पर्श होता है। षो० श्लो० शि० के अनुसार भी शकार का उच्चारण स्थान तालु

---

1. सन्धिजौ च पदान्तीयावुपवसर्गपरौ लघू।
अथ-मा-स-न शब्देभ्यो विभाषाम्रेडिते यवौ॥—या० शि० 2/58
2. नवतालव्याः इ ई ई3, च छ ज झ ञ य श। एकारश्चेति।
(या० शि० 2/97–98 के मध्य का गद्यभाग)
3. इवर्णोऽथ चवर्गश्च एऐकारौ यशैः सह।
4. तालुस्थाना भवन्त्येषा जिह्वामध्यं तु कारणम्। (व० प्र० शि० 28)

है।[1] इससे स्पष्ट है कि शकार के उच्चारण में स्थान के विषय में सभी शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाकारों में ऐकमत्य है।

षकार

सभी शिक्षाकार षकार को मूर्धन्य मानते हैं। अतः इस वर्ण का उच्चारण स्थान मूर्धा है। या० शि० के अनुसार षकार का उच्चारण स्थान मूर्धा है।[2] व० प्र० शि० में षकार का उच्चारण स्थान मूर्धा तथा उसका करण प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र निर्दिष्ट है।[3] अर्थात् षकार का उच्चारण कण्ठ-विवर में विकृत वायु श्वास नामक द्रव्य को प्राप्त होकर मुखविवर में आती है। वहाँ मूर्धा पर मुड़ी हुई जिह्वा के अग्रभाग का अर्धस्पृष्ट आभ्यन्तर प्रयत्न के परिणामस्वरूप अर्धस्पर्श होता है। पो० श्लो० शि० में भी षकार को मूर्धास्थानीय माना गया है[4]

सकार

शुक्लयजुर्वेदीय सभी शिक्षाग्रन्थों में सकार को दन्त्य कहा गया है।[5] अतः इसका उच्चारणस्थान दाँत है। व० प्र० शि० के अनुसार इस वर्ण का उच्चारण स्थान दन्त तथा करण जिह्वाग्र है।[6] इस प्रकार स्पष्ट है कि सकार के उच्चारण में जिह्वा का अग्रभाग अर्धस्पृष्ट नामक आभ्यन्तर प्रयत्न के फलस्वरूप दन्त पर आधा स्पर्श करता है।

हकार

हकार के उच्चारण स्थान के विषय में शिक्षाग्रन्थों में अनेक प्रकार के विधान हैं। या० शि० के अनुसार हकार का उच्चारण स्थान कण्ठ है।[7] इसमें

---

1. ···यिश्चु तालुकम्··· (पो० श्लो० शि० 11)
2. षण्मूर्धन्याः टठडढणषा इति (या० शि० 2/97–98 के मध्य का गद्यभाग)
3. षकारो टवर्गश्च मूर्धन्याः परिकीर्तिताः।
   जिह्वायाः प्रतिवेष्ट्याग्रमेतेषां कारणं स्मृतम्॥
   (व० प्र० शि०, शि०सं० पृ० 119)
4. द्रष्टव्य—शि० सं० पृ० 165 (षो० श्लो० शि०)।
5. अष्टौ दन्त्याः ऌ ॡ ऌ३; इति ऌवर्णः तथदधनलकारसकारा इति
   (या० शि० 2/97–98 के मध्य, गद्य)
   ······स्लृतुला दन्तम् (पो० श्लो० शि० 11)
6. ऌलसिता स्मृताः दन्त्याः जिह्वाग्रकरणा हि ते।
   (व० प्र० शि०, शि० सं० पृ० 119)
7. त्रयः कण्ठ्या अ आ आ३ इत्यवर्णः हकारविसर्जनीया इति।
   (या० शि० 2/97–98 के मध्य गद्यभाग)

ह्व तथा म्ह के हकार के उरस् स्थानीय होने का भी उल्लेख है।[1] वास्तव में इसके अनुसार हकार को दो प्रकार का बतलाया गया है—(1) कण्ठस्थानीय, (2) उरस् स्थानीय। कौन-सा हकार कण्ठ स्थान से उच्चारित होता है और कौन सा उरस् से ? इसका विवेचन करते हुए कहा गया है कि वर्गों के पञ्चम वर्ण अर्थात् ङ् ञ् ण् न् म् तथा अन्तःस्थ अर्थात् य् र् ल् व् से संयुक्त हकार का उच्चारण उरस् स्थान से होता है और इनसे असंयुक्त हकार का उच्चारण स्थान कण्ठ होता है।[2] षो० श्लो० शि० में हकार को कण्ठस्थानीय बतलाया गया है।[3] इसमें हकार के विषय में या० शि० की भाँति विशेष विधान उपलब्ध नहीं होता। व० प्र० शि में असंयुक्त हकार को कण्ठस्थानीय बतलाया गया है। इसके अनुसार कण्ठ्य वर्णों के उच्चारण में हनुमध्य करण होता है।[4] इस प्रकार असंयुक्त हकार के उच्चारण में हनुमध्य से कण्ठ स्थान पर आधा स्पर्श होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हकार का उच्चारण कण्ठ स्थान से होता है। केवल पञ्चम स्पर्श तथा अन्तःस्थ वर्णों से संयुक्त होने पर हकार का उच्चारण उरस् स्थान से होता है।

विसर्जनीय

या० शि० के अनुसार विसर्जनीय का उच्चारण स्थान कण्ठ है।[5] वर्णरत्नप्रदीप शि० में विसर्जनीय को कण्ठस्थानीय प्रतिपादित किया गया है।[6] षो० श्लो० शि० में भी इसी तथ्य का विधान उपलब्ध होता है।[7] लघुमाध्यन्दिनी

---

1. तत्र द्वावौरसौ ह्व इति म्ह इति (या० शि० 2/97–98 के मध्य गद्यभाग)
2. हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम्।
   औरसं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम्॥ (या० शि० 61)
3. हकुविसर्जनीयानां स्यात् कण्ठम्। (षो० श्लो० शि० 11)
4. अवर्णश्च विसर्गश्च हकारश्चापि केवलः।
   कण्ठ्याः वर्णा स्मृताःह्येषां हनुमध्यं तु कारणम्॥
   (व० प्र० शि०, शि० सं० पृ० 120)
5. त्रयः कण्ठ्या अ आ आ३ इत्यवर्ण हकार विसर्जनीया इति
   (या० शि० 2/97–98 के मध्य)
6. अवर्णश्च विसर्गश्च हकारश्चापि केवलः।
   कण्ठ्याः वर्णाः स्मृताः ह्येषां हनुमध्यं तु कारणम्॥
   (व० प्र० शि०, शि० सं० पृ० 120)
7. हकुविसर्जनीयानां स्यात् कण्ठ्यम् (षो० श्लो० शि० 11)

शिक्षा में विसर्जनीय के स्थान के विषय में अत्यधिक सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत है। इसके अनुसार अवर्ण (अ आ आ३;) तथा ऋकार से परवर्ती विसर्जनीय का उच्चारण कण्ठ से होता है। इ उ ऐ तथा औ से परवर्ती विसर्जनीय तालु, एकार से परवर्ती विसर्ग कण्ठतालु तथा ओकार से परवर्ती विसर्ग कण्ठोष्ठ स्थान से उच्चारित होता है।[1] उल्लेखनीय है कि विसर्ग अपने पूर्ववर्ती स्वर वर्ण के आश्रित होता है। अतः उसका उच्चारण पूर्ववर्ती स्वरवर्ण के स्थान से होता है। इसी अवर्ण से परवर्ती विसर्ग का उच्चारण अवर्ण के सदृश ही कण्ठ से होता है। इस शिक्षा में इ उ ऐ तथा औ से परवर्ती विसर्ग को तालव्य कहना असंगत सा लगता है क्योंकि इवर्ण तथा एकार का उच्चारण स्थान तालु होने से उससे परवर्ती विसर्ग को तालव्य होना चाहिए तथा उवर्ण एवम् ओकार से परवर्ती विसर्जनीय को ओष्ठ्य होना चाहिए। ऐकार का उच्चारण स्थान कण्ठतालु होने से उससे परवर्ती विसर्ग का उच्चारण कण्ठतालु तथा ओकार का उच्चारण कण्ठोष्ठ होने के कारण उससे परवर्ती विसर्जनीय का उच्चारण कण्ठ तथा ओष्ठ से होता है। या० शि० में विसर्ग के आठ रूपों का निर्देश हुआ है—ओभाव, विवृति, शकार, षकार, सकार, रेफ, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय।[2]

ओभाव को प्राप्त विसर्जनीय केलि संज्ञक होता है।[3] इसे केलि कहने का अभिप्राय यह है कि उसका उच्चारण सुखपूर्वक हो जाता है। जहाँ विसर्जनीय

---

4. अवर्णाच्च ऋकाराच्च विसर्गः कण्ठ्य एव सः।
इवर्णा च तथोवर्णा तथा चैकारपूर्वकः॥
औकारपूर्वकश्चैव तालव्यो भवति ध्रुवम्।
एकाराच्च कण्ठतालुविसर्गो भवति ध्रुवम्॥
कण्ठ्योष्ठ्यस्तु तथोकाराद्विसर्गो भवति ध्रुवम्॥
(लघुमाध्यन्दिनी शि० 16–17)

1. ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टाविधोष्मणः॥ (या० शि० 2/50)

2. ओभावगता योष्मा तां तु केलिं विनिर्दिशेत्।
विवृत्तिप्रत्यया वोष्मा विज्ञेया विकटानना॥
लीढातिलीढविद्युच्च शषसेषु प्रकीर्तिता।
जिह्वामूले च रेफे च विज्ञेया विकटा शठा॥
उपध्मानीय सहिता पुष्पिणीन्तां विनिर्दिशेत्।
अन्यथा भवेदुष्मा सुलभां तां विनिर्दिशेत्॥ (या० शि० 2/52–54)

के पहले तथा बाद में स्वर वर्ण होता है तथा विसर्जनीय का लोप हो जाता है वहाँ विवृत्ति हो जाती है। उस विवृत्तिरूप प्राप्त विसर्जनीय को विकटा कहा जाता है क्योंकि उसका उच्चारण प्रयासपूर्वक किया जाता है शकाररूप प्राप्त विसर्जनीय को लीढा कहा जाता है क्योंकि उसका उच्चारण जिह्वा द्वारा तालु का आधा स्पर्श करके किया जाता है। जिह्वा द्वारा तालु को चाटकर स्वाद लेने को लीढ कहा जाता है। ष के रूपवाला विसर्जनीय अतिलीढ़ कहलाता है क्योंकि उसके उच्चारण में जिह्वा को अत्यधिक प्रयासपूर्वक मूर्धा का स्पर्श करना पड़ता है। सकाररूप प्राप्त विसर्जनीय को विद्युत् कहा जाता है क्योंकि उसका उच्चारण बिजली की चमक की भाँति झट से हो जाता है। रेफ रूप प्राप्त विसर्जनीय शठा कहलाती है। जिह्वामूल रूप को प्राप्त विसर्जनीय के उच्चारण में मुख को आयासित करने के कारण उसे विकटा कहा जाता है तथा उपध्मानीय रूप को प्राप्त विसर्जनीय पुष्पिणी कहलाता है क्योंकि उसके उच्चारण में मुख पुष्प की भाँति विकसित हो जाता है।

जिह्वामूलीय

जैसा नाम से ही स्पष्ट है कि इसका उच्चारण जिह्‌वामूल स्थान से होता है। जिह्‌वामूलीय वर्ण विसर्जनीय का ही रूप है। यदि विसर्जनीय से बाद ककार अथवा खकार आता है तो वह विसर्जनीय जिह्‌वामूलीय कहलाता है। सभी शिक्षा ग्रन्थों में इसका उच्चारण स्थान जिह्‌वामूल बतलाया गया है। या० शि० के अनुसार क जिह्‌वामूलीय है।[1] व० प्र० शि० में इसी तथ्य का प्रतिपादन हुआ है।[2] षो० श्लो० शि० में भी इस वर्ण के जिह्‌वामूल स्थान से उच्चारित होने का उल्लेख हुआ है।[3] अन्य शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाकार इस विषय में मौन हैं।

उपध्मानीय

विसर्जनीय से बाद में यदि पकार अथवा फकार हो तो वह विसर्जनीय उपध्मानीय कहलाता है। उपध्मानीय के उच्चारण स्थान के विषय में सभी शिक्षाकारों में मतैक्य दिखलायी पड़ता है। या० शि० के अनुसार उपध्मानीय

---

1. सप्तजिह्‌वामूलीया ऋ ॠ ॠ३ इत्यृवर्णं क् ख् ग् घ् ङ् इति।
(या० शि० 2/97–98 के मध्य, गद्य)
2. शि० सं० पृ० 119 (व० प्र० शि०)
3. जिह्‌वामूलीयमात्रस्य जिह्‌वामूलं हि चाष्टमम्। (षो० श्लो० शि० 13)

वर्ण का उच्चारण स्थान ओष्ठ है।[1] व० प्र० शि० में भी इसी बात का समर्थन किया गया है।[2] षो० श्लो० शि० के अनुसार भी उपध्मानीय का उच्चारण स्थान ओष्ठ है।[3]

अनुस्वार

अनुस्वार के उच्चारण स्थान नासिका को प्रतिपादित किया गया है। व० प्र० शि० के अनुसार अनुस्वार का उच्चारण स्थान नासिका-मूल है।[4] इससे स्पष्ट होता है कि अनुस्वार शुद्ध नासिक्य वर्ण है। इसके उच्चारण में कौवा मुख-विवर का भाग बन्द कर देता है जिससे वायु नासिका-विवर से निकलती है। इस प्रकार कौवा का भी अनुस्वार के उच्चारण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है।

अनुनासिक

अनुनासिक शब्द का शाब्दिक अर्थ है—नासिका का अनुगमन करने वाला। अर्थात् इसका उच्चारण मुख से होता है किन्तु वायु का कुछ भाग नासिका से भी निकलता रहता है। इसीलिए इसकी उत्पत्ति मुख तथा नासिका दोनों से होती है। व० प्र० शि० में स्पष्ट किया गया है कि मुख तथा नासिका से उच्चारित होने वाला वर्ण अनुनासिक कहलाता है।[5] इस वर्ण के उच्चारणत में कौवा अपनी सामान्य अवस्था में रहता है। अतः मुख-विवर तथा नासिका-विवर दोनों का मार्ग खुला रहता है जिससे वायु मुख तथा नासिका दोनों से निकलती है। पाराशरी शि० में भी अनुनासिक वर्ण के उच्चारण-स्थान के विषय में निर्देश हुआ है। उसमें अनुनासिक वर्ण को मुख तथा नासिका दोनों से उच्चारित होने वाला बतलाया गया है।[6] इस प्रकार सभी शिक्षा ग्रन्थों में अनुनासिक को मुख तथा नासिका से उच्चारित होने वाला बतलाया गया है।

---

1. नव ओष्ठ्या उ ऊ ऊ3 इत्युवर्णः पफबभमवकारोपध्मानीया ओकारश्चेति। (या० शि० 2|97–98 के मध्य, गद्य)
2. द्रष्टव्य—शि० सं० पृ० 119 (व० प्र० शि०)
3. ···पूपध्मानीयमोष्ठजम्। (षो० श्लो० शि० 11)
4. यमानुस्वारनासिक्या नासामूलभवा दश। (व० प्र० शि०, शि० प्र० पृ० 120)
5. मुखनासिकाकरणोऽनुनासिक इति स्मृतः। (व० प्र० शि०, शि० सं० पृ० 120)
6. मुखनासिकाभ्यामुच्चार्यमाणोऽनुनासिकः। (पाराशरी शि० 57)

नासिक्य तथा यम

नासिक्य ध्वनि के विषय में आचार्यों में अत्यधिक मत वैभिन्य है। उसका प्रयोग कहीं नासिका से उच्चारित वाले वर्ण के विशेषण के लिए हुआ है तो कहीं हकार एवम् अनुनासिक के बीच में आने वाले आगम के लिए। कहीं-कहीं यम को भी नासिक्य कहा गया है। वस्तुतः नासिक्य वह ध्वनि है जिसका उच्चारण नासिका से होता है।

कतिपय वर्णों के स्वरूप के विषय में विचार

ऋकार तथा ऌकार

ऋकार तथा ऌकार के विषय में प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा ग्रन्थों में अनेक विधान उपलब्ध होते हैं। किन्तु शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षा ग्रन्थों के आधार पर ही उसके स्परूप पर विचार किया जा रहा है। व० प्र० शि० में ऋ तथा ऌ में क्रमशः रेफ तथा लकार के अंश का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ऋकार तथा ऌकार में क्रमशः रेफ तथा लकार की आधी मात्रा होती है।[1] वा० प्रा० में भी ऋ तथा ऌ का ग्रहण मूलस्वरों के अन्तर्गत किया गया है। उसके अनुसार भी ऋ तथा ऌ में क्रमशः रेफ तथा लकार संश्लिष्ट हैं। इस रेफ तथा लकार का संश्लेष होने पर भी ये समान श्रुतिवाले एक वर्ण के समान है।[2] ऋ तथा ऌ में स्वरात्मक अंश के साथ-साथ क्रमशः रेफ तधा लकार का भी अंश है। यद्यपि इनमें दो वर्णों का भी संश्लेष है तथापि इनका उच्चारण समानश्रुति से होता है। पूरे ऋ तथा ऌ वर्णों के सभी अंश का उच्चारण समान ढंग से (एक समान) होता है। ये दो वर्णों के संश्लेष से निष्पन्न होने पर भी सन्ध्यक्षर नहीं हैं तथा अलग-अलग वर्ण भी नहीं हैं अपितु एक वर्ण हैं।

भाष्यकार उवट के अनुसार ऋकार तथा ऌकार के मध्य में क्रमशः रेफ तथा ऌकार अर्धमात्रिक होते हैं तथा दोनों ओर अणुमात्रिक कण्ठ्य स्वर (अकार) होता है।[3] इससे स्पष्ट है कि इन दोनों वर्णों में प्रथम अणुमात्रा (=$\frac{1}{4}$ मात्रा)

---

1. ऋलोर्मध्ये भवत्यर्धमात्रा रेफलकारयो। व० प्र० शि० 42 पू०
2. अर्धमात्रा स्वरं किञ्चित् पृथङ् न्यूनमिवोच्चरन्।
   ऋकारे च ऌकारे च हृत्कण्ठमनसापि च॥ (या० शि० 2/19)
3. ऋकारे ऌकारे च यथासख्यं रेफलकारौ कण्ठ्याणुमात्रयोर्मध्येऽर्धमात्रिको संश्लिष्टावेकीभूतो एकश्रुतिभूतौ भवतः॥
   (वा० प्रा० 4/147 पर उ० भा०)

अकार पुनः आधी मात्रा रेफ तथा लकार (क्रमशः) फिर अन्त में अणुमात्रा अकार की होती है। इस प्रकार ऋकार = $\frac{1}{4}$ मात्रा अकार + $\frac{1}{2}$ मात्रा रेफ + $\frac{1}{4}$ मात्रा अकार तथा ऌकार = $\frac{1}{4}$ मात्रा अकार + $\frac{1}{2}$ मात्रा लकार + $\frac{1}{4}$ मात्रा अकार।

ऋ तथा ऌ में स्वर तथा क्रमशः रेफ और लकार का कितना अंश है? इसका निवेचन करते हुए व० प्र० शि० में भी कहा गया है कि ऋ, ऌ में क्रमशः रेफ तथा लकार का आधा अंश होता।[1] इससे स्पष्ट होता है कि इन दोनों वर्णों में स्वर तथा व्यञ्जन का भाग आधा-आधा होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि इनमें मध्यवर्ती आधी मात्रा व्यञ्जन की होती है तथा उस व्यञ्जन के दोनों ओर स्वर होता है। उन दोनों ओर विद्यमान स्वर की कुल आधी मात्रा होती है। इस प्रकार एक ओर का स्वर अणुमात्रिक होता है। इन दोनों वर्णों में विद्यमान स्वर तथा व्यञ्जनात्मक ध्वनि का मिश्रण दूध तथा पानी के मिश्रण के समान है। जिस प्रकार दूध तथा पानी के मिश्रण में दोनों बराबर मिले रहते हैं उनका अलगाव दिखलायी नहीं पड़ता। उसी प्रकार ऋकार में स्वर अकार तथा रेफ और ऌकार में स्वर तथा लकार इस प्रकार संश्लिष्ट होते हैं कि दोनों की सत्ता अलग-अलग प्रतीत नहीं होती।

एकार का स्वरूप

एकार सन्ध्यक्षर है।[2] सन्ध्यक्षर स्वर दो स्वरों के मेल से निष्पन्न होता है। सन्ध्यक्षर होने के कारण एकार में भी दो स्वरों का मेल होना चाहिए तथा इसका उच्चारण उन दोनों स्वरों के स्थान तथा करण से होना चाहिए। शुक्ल-यजुर्वेदीय शिक्षाओं में इस वर्ण में सम्मिलित स्वरों का विवेचन नहीं किया गया है किन्तु इसके उच्चारण स्थान तथा करण का उल्लेख उपलब्ध होता है। या० शि० तथा व० प्र० शि० एकार का उच्चारण स्थान तालु बतलाया गया है।[3] किन्तु एक स्थान पर व० प्र० शि० में कहा गया है कि एकार में पूर्ववर्ती मात्रा

1. ऋलोर्मध्येभवत्यर्धमात्रा रेफलकारयोः (व० प्र० शि० 42 पू०)
2. एदेदोदो तु चत्वारो ह्रस्वा सन्ध्यक्षराणि। (षो० श्लो० शि० 3 उ०)
3. नवतालव्या इ ई ई३ इतीवर्णः चछजझनयशाएकाश्चेति।
(या० शि० 2/97 तथा 98 के मध्य, गद्य)
इवर्णोऽथ चवर्गश्च एऐकारो यशैः सह।
तालुस्थाना भवन्त्येषां जिह्वामध्यं तु कारणम्॥ (व० प्र० शि० 28)

कण्ठ्य की तथा परवर्ती मात्रा तालव्य की होती है।[1] कण्ठ-स्थानीय स्वर अकार[2] तथा तालुस्थानीय स्वर इकार है।[3] इससे स्पष्ट होता है कि एकार में पूर्ववर्ती मात्रा अकार की तथा परवर्ती इकार की होती है। षो० श्लो० शि० में भी एकार का स्थान कण्ठ तथा तालु बतलाया गया है।[4]

इससे प्रतीत होता है कि एकार में पूर्ववर्ती मात्रा अकार की तथा परवर्ती मात्रा इकार की मान्य थी क्योंकि इसमें भी कण्ठ्य स्वर अकार तथा तालव्य स्वर इकार को स्वीकार किया गया है।[5] सन्धि में अवर्ण से बाद में इवर्ण होने पर दोनों के स्थान पर एकार हो जाता है। यह सन्धि-विषयक विधान भी इसी तथ्य का उद्घाटन करता है कि एकार में अकार तथा इकार का मेल है। एकार दीर्घ स्वर है। दीर्घ (गुरु) स्वर का उच्चारणकाल दो मात्रा होता है। इस प्रकार दो मात्रा उच्चारण-काल वाले एकार में पूर्ववर्ती एक मात्रा अकार तथा परवर्ती एक मात्रा इकार की होती है।

भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। भारोपीय भाषा में एकार का उच्चारण अइ होता था। परवर्ती काल में इसका उच्चारण एकार के रूप में होने लगा। इसमें अ तथा इ का दूध तथा जल के समान इस प्रकार मिश्रण हो गया कि इसका उच्चारण समानाक्षर के सदृश होने लगा।

ऐकार का स्वरूप

ऐकार भी सन्ध्यक्षर है।[6] अतः इसमें भी दो स्वरों का मेल (सन्धि) होता है और उन्हीं दोनों स्वरों के उच्चारण स्थानों तथा करणों से इसका उच्चारण होता है। व० प्र० शि० के अनुसार ऐकार का उच्चारण स्थान तालु तथा करण जिह्वामध्य है।[7] इससे स्पष्ट होता है कि ऐकार के उच्चारण में

---

1. पूर्वामात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेत् ।
तालव्यस्य तथौष्ठ्यस्य परा प्रोक्ता यथाक्रमम् ॥ (व० प्र० शि० 35)
2. अवर्णश्च······ कण्ठ्य वर्णं (व० प्र० शि० 33)
3. इवर्णोऽथ······तालुस्थानाभवन्त्येषां······ । (व० प्र० शि० 28)
4. एवैतोः कण्ठतालुकम् । (षो० श्लो० शि० 12 उ०)
5. हकुविसर्जनीयानां स्यात्कण्ठ्यम् । यिश्चु तालुकम् ॥ (षो० श्लो० शि० 12)
6 एवैदोदौ तु चत्वारो ह्रस्वा सन्ध्यक्षराणि (षो० श्लो० शि० 3 उ०)
7. इवर्णोऽथ चवर्गश्च एऐकारौ यशैः सह ।
तालुस्थाना भवन्त्येषां जिह्वामध्यं तु कारणम् ॥ (व० प्र० शि० 28)

जिह्वामध्य तालु उच्चारण-स्थान पर उपसंहार करता है। ऐकार के उच्चारण के विषय में प्रतिपादित यह विधान अधिक संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि यदि ऐकार का उच्चारण केवल तालु से होता है तो इसमें समानाक्षरत्व गुण अवश्य होता है किन्तु ऐसा नहीं है। इसीलिए इसे सन्ध्यक्षरों के अन्तर्गत रखा गया है। षो० श्लो० शि० में ऐकार का उच्चारण स्थान कण्ठ-तालु बतलाया गया है। इसके अनुसार ऐकार में पूर्ववर्ती मात्रा कण्ठ्य स्वर की तथा परवर्ती मात्रा तालव्य स्वर की होती है।[1] वा० प्रा० में विधान किया गया है कि ऐकार में पूर्ववर्ती अंश कण्ठ स्थान वाला तथा परवर्ती अंश तालु स्थान वाला है।[2] इससे स्पष्ट होता है कि ऐकार में पूर्ववर्ती मात्रा अकार की होती है किन्तु परवर्ती स्वर के विषय में सन्देह होता है क्योंकि तालव्य स्वर वर्ण इकार तथा एकार दोनों हैं। इनमें से कौन सा वर्ण एकार के उत्तरवर्ती भाग में संश्लिष्ट होता है। इस शङ्का का निवारण भाष्यकार उवट ने अपने भाष्य में किया है कि ऐकार में पूर्ववर्ती आधी मात्रा अकार तथा परवर्ती डेढ़ मात्रा एकार की होती है। पूर्ववर्ती अवर्ण तथा परवर्ती एकार के सन्धि के परिणाम-स्वरूप ऐकार-भाव होने से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। या० शि० में एकार के स्वरूप का निर्धारण हुआ है किन्तु ऐकार के स्वरूप के विषय में यह शिक्षा-ग्रन्थ मौन है। व० प्र० शि० में भी या० शि० के समान एकार के स्वरूप का विवेचन हुआ है किन्तु ऐकार का प्रतिपादन नहीं किया गया है। सम्भवतः इन शिक्षाकारों को एकार के समान ऐकार का भी स्वरूप मान्य रहा है। भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार भारोपीय भाषा में ऐकार का उच्चारण आई के रूप में होता रहा होगा। परवर्ती काल में इसका उच्चारण अइ अर्थात् भारोपीय भाषा के एकार के सदृश होने लगा और भारोपीय भाषा के एकार का उच्चारण समानाक्षर के सदृश होने लगा। इससे स्पष्ट है कि ऐकार के उच्चारण में पूर्ववर्ती मात्रा आकार तथा परवर्ती मात्रा ईकार की होती रही होगी जो भाषा के उच्चारण-परिवर्तन के कारण परिवर्तित होकर इस प्रकार होने लगा कि उसमें पूर्ववर्ती भाग अकार तथा परवर्ती भाग इकार का होता है।

ओकार का स्वरूप

ओकार भी सन्ध्यक्षर है।[3] अतः इसकी भी निष्पत्ति दो स्वरों से होती है। व० प्र० शि० में विधान किया गया है कि ओकार के उच्चारण में पूर्ववर्ती

1. एदैतोः कण्ठतालुकम्। (षो० श्लो० शि० 12)
2. एकारौकारयोः कण्ठ्या पूर्वामात्रा ताल्वोष्ठ्योरुत्तरा। (वा० प्रा० 1/73)
3. एदैदोदौ तु चत्वारो ह्रस्वा सन्ध्यक्षराणि। (षो० श्लो० शि० 3 उ०)

मात्रा कण्ठ्य स्वर की तथा परवर्ती मात्रा ओष्ठ्य स्वर की होती है।[1] तात्पर्य यह है कि ओकार में पूर्ववर्ती एक मात्रा कण्ठ्य स्वर तथा परवर्ती एक मात्रा ओष्ठ्य स्वर संश्लिष्ट होता है। कण्ठ्य स्वर अवर्ण[2] और ओष्ठ्य स्वर उवर्ण है।[3] इस प्रकार ओकार में पूर्व वाला भाग एक मात्रा अकार तथा परवर्ती भाग एक मात्रा उकार होता है। षो० श्लो० शि० में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। उसके अनुसार ओकार का उच्चारण कण्ठ तथा ओष्ठ से होता है।[4] अर्थात् ओकार में कण्ठ्य तथा ओष्ठ्य स्वर क्रमशः अवर्ण तथा उवर्ण होता है। या० शि० के अनुसार भी ओकार में आदि वाली मात्रा कण्ठ्य स्वर की तथा दूसरी मात्रा ओष्ठ्य स्वर की होती है।[5] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ओकार अकार तथा उकार—इन दो वर्णों के संश्लेष से बना है जिसका विवेचन शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षा ग्रन्थों में हुआ है। पूर्ववर्ती अवर्ण तथा परवर्ती उवर्ण की एकीभाव सन्धि के परिणाम स्वरूप ओकार ही होता है। इस सन्धि-विषयक विधान से भी ओकार में अकार तथा उकार के मेल होने का तथ्य स्पष्ट होता है। वा० प्रा० में ओकार का उच्चारण स्थान केवल ओष्ठ बतलाया गया है।[6] इससे प्रतीत होता है कि वा० प्रा० के रचना-काल तक ओकार का उच्चारण समानाक्षर की भाँति केवल ओष्ठ होने लगा था। भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि भारोपीय भाषा में ओकार का उच्चारण अउ होता रहा होगा किन्तु बाद में चल कर इसका उच्चारण (ओ) के सदृश होने लगा।

औकार का स्वरूप

ऐकार की भाँति औकार भी सन्ध्यक्षर है।[7] अतः इसकी भी निष्पत्ति दो स्वरों से हुई है। व० प्र० शि० के अनुसार औकार का उच्चारण स्थान तथा करण

---

1. पूर्वा मात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारोकारयोर्भवेत्।
   तालव्यस्य तथोष्ठ्यस्य परा प्रोक्ता यथाक्रमम्॥ (व० प्र० शि० 35)
2. अवर्णश्च…कण्ठ्या वर्णाः। (व० प्र० शि० 33)
3. इवर्णोऽथ…तालुस्थाना भवन्त्येषां…। (व० प्र० शि० 28)
   उवर्णोऽ पवर्गश्च…ओष्ठ्या एते स्मृता वर्णाः। (व० प्र० शि० 31)
4. …ओदौतोकण्ठोष्ठं…।
   (षो० श्लो० शि० 12)
5. आद्या मात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेत्।
   तालव्यस्य तथौष्ठ्यस्य द्वितीया च यथाक्रमम्॥ (या० शि० 2/20)
6. उवो ≍ पपा ओष्ठे। (वा० प्रा० 1/70)
7. एदैदोदौ तु चत्वारो ह्रस्वा सन्ध्यक्षराणि। (षो० श्लो० शि० 3 उ०)

ओष्ठ है।[1] इससे प्रतीत होता है कि औकार के उच्चारण में निचला ओष्ठ करण का कार्य करता है क्योंकि वह अधिक क्रियाशील होता है तथा निष्क्रिय एवम् स्थिर होने से उपरी ओष्ठ स्थान का कार्य करता है। उसी शिक्षा में औकार के उच्चारण के विषय में यह तथ्य अधिक संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि औकार सन्ध्यक्षर है और सन्ध्यक्षरों की निष्पत्ति दो स्वरों से होती है। केवल ओष्ठ स्थान से उच्चारण में औकार में सन्ध्यक्षरत्व का गुण नहीं आ सकता है। षो० श्लो० शि० में औकार का उच्चारण स्थान, कण्ठ तथा ओष्ठ बतलाया गया है।[2] षो० श्लो० शि० का यह तथ्य अत्यधिक ध्वनि-वैज्ञानिक प्रतीत होता है क्योंकि इसके अनुसार औकार के उच्चारण में पहले कण्ठ पर आभ्यन्तर प्रयत्न के परिणाम स्वरूप कण्ठ्य स्वर पुनः ओष्ठ स्थान पर ओष्ठ्य स्वर के मेल से उच्चारित होता है। इस प्रकार औकार में पूर्ववर्ती मात्रा कण्ठ्य स्वर की तथा परवर्ती मात्रा ओष्ठ्य स्वर की होती है। वा० प्रा० के अनुसार औकार का पूर्ववर्ती अंश कण्ठ स्थानीय तथा परवर्ती अंश ओष्ठ स्थानीय होता है।[3] कण्ठ्य स्वर अकार है तथा ओष्ठ स्थानीय स्वर उकार तथा ओकार दोनों है। औकार में पूर्ववर्ती अंश तो अकार का होता है किन्तु परवर्ती अंश उकार का होता है अथवा ओकार का? यह सन्देह होता है क्योंकि दोनों का उच्चारण स्थान ओष्ठ ही है। इस सन्देह का निवारण करते हुए भाष्यकार उवट का कथन है कि औकार में पूर्ववर्ती आधी मात्रा अकार की तथा परवर्ती डेढ़ मात्रा ओकार की होती है।[4] या० शि० के अनुसार भी औकार में पूर्ववर्ती मात्रा कण्ठ्य की तथा परवर्ती मात्रा ओष्ठ्य स्वर की होती है।[5] भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि भारोपीय भाषा में औकार का उच्चारण आऊ होता रहा होगा। परवर्ती-काल में इसका उच्चारण भारोपीय भाषा के ओ के सदृश होने लगा तथा ओ (अ+उ) का उच्चारण ओ के सदृश होने लगा।

---

1. उवर्णोऽथ पवर्गश्च ओऔकारो तथा च वः।
   ओष्ठ्या एते स्मृताः वर्णा उपध्मानीय एव च ॥ (व० प्र० शि० 31)
2. ...ओदौतोः कण्ठोष्ठम्...। (षो० श्लो० शि० 12)
3. ऐकारौकारयोः कण्ठ्या पूर्वा मात्रा ताल्वोष्ठ्योरुत्तरा। (वा० प्रा० 1/76)
4. अकारस्यार्धमात्रा ओकारस्याध्यर्धा ओकारे इति। (वा० प्रा० 1/73)
5. आद्या मात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेत्।
   तालव्यस्य तथोष्ठ्यस्य द्वितीया च यथाक्रमम् ॥ (या० शि० 2/20)

षकार का खकारोच्चारण

शुक्लयजुर्वेद में कतिपय परिस्थितियों में षकार का खकार उच्चारण होता है। इसका विधान प्रतिज्ञासूत्र, कात्यायनी शिक्षा, केशवी शिक्षा तथा या० शि० में किया गया है। प्रतिज्ञासूत्र के अनुसार मूर्धन्य ऊष्म वर्ण (षकार) यदि असंयुक्त हो अथवा टवर्ग के वर्णों से अन्य वर्ण से संयुक्त हो तो उसका उच्चारण खकार होता है।[1] तात्पर्य यह है कि किसी व्यञ्जन से न संयुक्त होने पर षकार का खकार उच्चारण होता है तथा टवर्ग के वर्ण से अन्य वर्ण से संयुक्त होने पर भी षंकार का खकार उच्चारण होता है। जैसे—(1) इषे त्वा का उच्चारण "इखे त्वा" होता है क्योंकि यहाँ षकार किसी व्यञ्जन से संयुक्त नहीं है, (2) विभर्ष्यं-स्तवे का उच्चारण विभर्ख्यंस्तवे होता है क्योंकि यहाँ षकार का संयोग टवर्ग के वर्ण से न होकर क्रमशः यकार तथा ककार से है। टवर्ग से संयुक्त होने पर षकार का उच्चारण षकार ही होता है। जैसे—प्रत्युष्टम्, श्रेष्ठतमाय तथा क्रृष्णः में षकार का उच्चारण खकार न होकर षकार ही होता है क्योंकि यहाँ इसका संयोग क्रमशः टकार, ठकार तथा णकार से है। ये वर्ण टवर्गीय हैं। षकार के खकार उच्चारित करने के विषय में कात्यायनी शि० में भी विधान किया गया है। इसके अनुसार असंयुक्त षकार का खकार उच्चारण होता है। टवर्ग से अन्य वर्ण से संयुक्त होने पर भी षकार का खकार उच्चारण होता है।[2] किन्तु इसके अनुसार षकार का ककार से संयोग होने पर खकार उच्चारण नहीं होता, षकार ही होता है। जैसे—"शुष्क्याय" में षकार का ककार से संयोग होने पर षकार ही उच्चारण होता है केशवी शि० में भी इसी प्रकार का विधान किया गया है। इसके अनुसार टवर्ग से अन्य व्यञ्जन से संयुक्त होने पर षकार का खकारोच्चारण होता है।[3]

यकार का जकारोच्चारण

शुक्लयजुर्वेद में कुछ परिस्थिति विशेष में यकार का जकार उच्चारण होता है। इसका विवेचन प्रतिज्ञासूत्र, या० शि०, कात्यायनी शि०, नवाङ्कसूत्र में

---

1. अथो मूर्धन्योष्मणो संयुक्तस्य टुमृते संयुक्तस्य च खकारोच्चारणम्।
(प्रा० प्र० शि० षकारोच्चारण-विधान में उद्धृत)
2. असंयुक्तस्य मूर्धन्योष्मषाः खोच्चारणं मतम्।
टुमृते संयुक्तस्यापि कस्य योगे ष एव हि॥ (कात्यायनी शिक्षा)
3. षः खष्टुमृते च। (केशवी शिक्षा 3)

किया गया है। प्रतिज्ञासूत्र के अनुसार यदि अन्य व्यञ्जन से असंयुक्त हो तो आदि अन्तःस्थ वर्ण (=यकार) पद के आदि में विद्यमान होने पर जकार उच्चारित होता है तथा रेफ और अन्तिम ऊष्म वर्ण (=हकार) तथा ऋकार से संयुक्त होने पर पद के मध्य और अन्त में भी यकार का जकार उच्चारण होता है।[1] तात्पर्य यह है कि (1) पदादि यकार का जकार उच्चारण होता है यदि वह अपने से अन्य व्यञ्जन से असंयुक्त हो। (2) पदादि, पदान्त तथा पद के मध्य में स्थित यकार का भी जकारोच्चारण होता है यदि वह रेफ, हकार अथवा ऋकार से संयुक्त हों। जैसे—(1) यन्ते, युञ्जते का उच्चारण क्रमशः जन्ते, जुञ्जते होता है, क्योंकि ये पदादि यकार किसी व्यञ्जन से संयुक्त नहीं हैं, (2) सूर्यः, हर्यंत का उच्चारण क्रमशः सूर्जः, हर्जंत होता है क्योंकि क्रमशः पदान्त तथा पद के मध्य में विद्यमान रेफ तथा यकार का संयोग है, (3) प्रवाह्याय, व्यृद्ध्ये का उच्चारण प्रवाह्जाय, व्यृद्धये होता है क्योंकि क्रमशः पद के मध्य में तथा अन्त में विद्यमान यकार क्रमशः हकार तथा ऋकार से संयुक्त है। कात्या० शि० में भी यकार के जकारोच्चारण का विधान किया गया है। उसके अनुसार पदादि में पठित आदि अन्तःस्थ वर्ण (=यकार) का जकार उच्चारण होता है किन्तु उपसर्ग से परवर्ती पदादि यकार का जकार उच्चारण नहीं होता है। पद के आदि मध्य तथा अन्त में विद्यमान यकार का भी जकारोच्चारण होता है यदि वह ऋकार, रेफ अथवा हकार से संयुक्त हो। यकार का दित्व होने पर उपसर्ग से परवर्ती यकार के जकारोच्चारण का निषेध नहीं होता है।[2] तात्पर्य यह है कि पदादि यकार का जकारोच्चारण होता है यदि वह अन्य व्यञ्जन से संयुक्त न हो। जैसे—यन्ते का जन्ते। किन्तु उपसर्ग से बाद में होने पर द्वित्व को न प्राप्त यकार का जकारोच्चारण नहीं होता है। जैसे—"अभियज्ञम्" में पदादि यकार का जकारोच्चारण होना चाहिए किन्तु वह यकार उपसर्ग अभि से बाद में है, अतः उसका जकारोच्चारण न होकर

---

1. अथान्तःस्थानामाद्यस्य पदादिस्थस्यान्यहलसंयुक्तासंयुक्तस्यापि रेफोष्मान्ताभ्यामृकारेण च विशेषेणादिमध्यावसानेपूच्चारणे जकारोच्चारणम् द्विर्भावेऽप्येवम्।
(प्रा० प्र० शि०, जकारोच्चारण-विषय में उद्धृत)
2. आद्यान्तःस्थस्य जोच्चारः पदादौ पठितस्य च।
उपसर्गपरो यस्तु तस्य छन्दसि नेष्यते ॥
पदस्याद्यन्तमध्ये स्यादृरहे संयुतस्य च।
द्विर्भावेऽप्येवमेव स्यादिति कात्यायनश्रुतिः ॥
(कात्यायनी शिक्षा)

यकारोच्चारण ही होता है। यह जकारोच्चारण विषयक निषेध द्वित्व होने पर ही होता है। यदि उपसर्ग से परवर्ती यकार का द्वित्व हो तो यह निषेध न होकर जकार ही उच्चारण होता है, जैसे—संयोमि का उच्चारण संजोमि होता है क्योंकि उपसर्ग से वाद में होने पर भी यकार का द्वित्व हो गया है। ऋकार, रेफ तथा हकार से संयुक्त पद के आदि, अन्त तथा मध्य में विद्यमान होने पर भी यकार का जकारोच्चारण होता है। उदाहरण पहले दिया गया है।

संहिता में उपसर्ग से बाद में स्थित होने पर भी पदादि यकार का जकार उच्चारण होता है उसका द्वित्व हो अथवा न हो। उपसर्ग से परवर्ती पदादि यकार के द्वित्व होने पर कात्या० शि० में जकारोच्चारण का निषेध किया गया है किन्तु सर्वत्र ऐसा उपलब्ध नहीं होता। इसीलिए केशवी शि० में कहा गया है कि केवल सम् उपसर्ग से परवर्ती ही पदादि यकार का जकारोच्चारण नहीं होता, अन्य सभी पदादि यकार का होता है। उसके अनुसार पदादि यकार का अन्य व्यञ्जन से संयोग न होने पर तथा सम् उपसर्ग पूर्व में न होने पर वेद में जकार उच्चारण होता है।[1] ऋकार, हकार अथवा रेफ में संयुक्त पद के अन्त, मध्य अथवा आदि में विद्यमान यकार को जकारोच्चारण होता है।[2] या० शि० में भी यकार के जकारोच्चारण-विषयक इसी प्रकार का विधान किया गया है।

संयोग

सम् उपसर्ग पूर्वक मेल अर्थ वाली युज् धातु से घञ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न संयोग शब्द का अर्थ है—भली-भाँति मिला हुआ। व्यञ्जनों के अत्यधिक सामीप्य को संयोग कहा जाता है। ऋ० प्रा० के अनुसार व्यञ्जनों का सन्निपात संयोग होता है।[3] ऋ० प्रा० के अनुसार ही अन्यत्र व्यञ्जनों के संगम को संयोग कहा गया है।[4] सन्निपात तथा संगम—दोनों शब्दों का अर्थ है—मेल। इससे स्पष्ट है कि यहाँ व्यञ्जनों के मेल के लिए ही संयोग शब्द प्रयुक्त है। वा० प्रा० में स्वर से अव्यवहित व्यञ्जन के लिए संयोग का प्रयोग किया गया है।[5] इस प्रकार व्यञ्जनों का व्यवधान-रहित मेल संयोग कहलाता है। भाष्यकार उवट के अनुसार

---

1. पदादोपूर्वाहल्वोर्द्धिर्योच्चारो सम्पूर्वयोश्छन्दसि। (केशवी शि० 1)
2. पदान्तमध्यऋहरेफयुग्मस्य यश्च। (केशवी शि० 2)
3. संयोगस्तु व्यञ्जनसन्निपातः। (ऋ० प्रा० 1/37)
4. संयोगं विद्याद्व्यञ्जनसंगमम्। (ऋ० प्रा० 18/40)
5. अनन्तरं संयोगः। (वा० प्रा० 1/48)

अव्यवहित व्यञ्जन, व्यञ्जन के साथ संयोग कहलाता है। जैसे—"पक्क्वम्" में दो ककार तथा वकार का संयोग है।[1] पाणिनि में भी संयोग के रूप को स्वीकार किया है। उनके अनुसार अव्यवहित व्यञ्जन (हल्) संयोग कहलाता है।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दो या दो से अधिक व्यञ्जन यदि एक साथ संयुक्त हों जिनके मध्य में किसी स्वर वर्ण का व्यवधान न हो तो इस प्रकार व्यञ्जनों को संयोग कहा जाता है। संयोग संयुक्त होने वाले व्यञ्जनों का समुदाय है। इन संयुक्त व्यञ्जनों में प्रथम व्यञ्जन को संयोगादि तथा अन्तिम व्यञ्जन को संयोगान्त कहा जाता है। शिक्षा ग्रन्थों में इसके लिए पिण्ड शब्द का प्रयोग किया गया है तथा इसके सात प्रकारों का उल्लेख है—(1) अयःपिण्ड, (2) दारुपिण्ड, (3) उर्णापिण्ड, (4) ज्वालापिण्ड, (5) मृत्पिण्ड, (6) वायुपिण्ड तथा (7) वज्रपिण्ड।[3] इनका परिचय इस प्रकार है—

अयःपिण्ड

या० शि० के अनुसार यम के प्राप्ति स्थल का संयोग अयःपिण्ड है।[4] अननुनासिक स्पर्श से बाद अनुनासिक स्पर्श का संयोग होने पर दोनों के बीच में यम होता है। इस विधान के अनुसार पूर्ववर्ती अननुनासिक स्पर्श तथा परवर्ती अनुनासिक स्पर्श का संयोग अयःपिण्ड कहलाता है। तात्पर्य यह है कि यदि संयोग का पूर्ववर्ती वर्ण वर्गों का प्रथम, द्वितीय, तृतीय अथवा चतुर्थ स्पर्श हो तथा परवर्ती वर्ण वर्गों का पञ्चम स्पर्श हो तो इस संयोग को अयःपिण्ड कहते हैं। अयःपिण्ड का अर्थ है—लोहे का गोला। जिस प्रकार लोहे के गोले को सरलतापूर्वक तोड़ा नहीं जा सकता उसी प्रकार इस अननुनासिक स्पर्श तथा अनुनासिक स्पर्श को सरलतापूर्वक अलग-अलग करके उच्चारित नहीं किया जा सकता। जैसे—रुक्क्मम्। यहाँ अननुनासिक स्पर्श ककार तथा अनुनासिक स्पर्श

1. अनन्तरमव्यवहितं व्यञ्जनं व्यञ्जनेन सह संयोग संज्ञं भवति। तद्यथा पक्क्वम् किति किति विति। (वा० प्रा० 1/48 पर उवट भाष्य)
2. हलोऽनन्तराः संयोगः। (पा० सू० 1/1/7)
3. अथ सप्तविधाः संयोगपिण्डाः अयःपिण्डदारुपिण्ड ऊर्णापिण्डो ज्वालापिण्डो मृतपिण्डो वायुपिण्डो वज्रपिण्डश्चेति।
   (या० शि० 1/94 तथा 95 के बीच गद्य भाग)
   अयस्पिण्डेन ते तुल्या···दारुपिण्डेन ते तुल्या ॥
   (व० प्र० शि० 176; 177)
4. यमान्विद्यादयः पिण्डान्···। (या० शि० 95 पू०)

मकार का संयोग है। इस संयोग में ककार तथा मकार के बीच में यम ध्वनि का उच्चारण होता है। इस विधान के अनुसार यह संयोग अयःपिण्ड है। व० प्र० शि० में अयःपिण्ड का विधान करते हुए कहा गया है कि अपञ्चम स्पर्श का पञ्चम स्पर्श के संयोग में जो यम का विधान किया गया है वह संयोग अयः-पिण्ड के समान है। यह अयःपिण्ड घनबन्ध होता है।[1] घनबन्ध का अर्थ है—अत्यन्त मजबूती से बँधा हुआ। जिस प्रकार अत्यन्त मजबूत बाँध को आसानी से अलग नहीं कर सकते उसी प्रकार इस संयोग को अलग करके उच्चारण नहीं किया जा सकता।

दारुपिण्ड

या० शि० के अनुमार अपञ्चम स्पर्श का अन्तःस्थ वर्णों से संयोग दारु-पिण्ड कहलाता है।[2] तात्पर्य यह है कि यदि वर्णों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय अथवा चतुर्थ स्पर्श का परवर्ती अन्तस्थ वर्ण से संयोग हो तो उस संयोग को दारुपिण्ड कहते हैं। जैसे—वल्क्य। यहाँ ककार तथा यकार का संयोग दारुपिण्ड कहलाता है। दारुपिण्ड का अर्थ है—लकड़ी का गोला। जिस प्रकार लकड़ी के गोले को लोहे के गोले की अपेक्षा आसानी से तोड़ा जा सकता है। उसी प्रकार अन्तःस्थ वर्णों के संयोग को उपर्युक्त संयोग की अपेक्षा आसानी से अलग किया जा सकता है। व० प्र० शि० में इस पिण्ड का विधान करते हुए कहा गया है कि अपञ्चम स्पर्श का अन्तःस्थ वर्णों से संयोग दारुपिण्ड कहलाता है।[3] यहाँ इस पिण्ड को श्लथबन्ध कहा गया है। श्लथबन्ध का तात्पर्य है—ढीला बन्धन। जिस प्रकार ढीले बन्धन को आसानी से खोला जा सकता है उसी प्रकार अपञ्चम स्पर्श तथा अन्तःस्थ वर्णों के संयोग को आसानी से अलग करके उच्चारित किया जा सकता है।

उर्णापिण्ड

या० शि० के अनुसार अन्तःस्थ तथा यम से रहित ऊष्म वर्णों का संयोग ऊर्णापिण्ड कहलाता है।[4] व० प्र० शि० के अनुसार ऊष्म तथा पञ्चम वर्ण के

1. स्पर्शानां पञ्चमैर्योगे चत्वारो ये यमाः स्मृताः।
   अयःपिण्डेन ते तुल्या घनबन्धा प्रकीर्तिताः॥ (व० प्र० शि० 177)
2. ...सान्तास्थानदारुपिण्डकान्। (या० शि० 2/95 पू०)
3. स्पर्शा अपञ्चमा ये च अन्तःस्थाभिश्च संयुताः।
   दारुपिण्डेन ते तुल्याः श्लथबन्धाः प्रकीर्तिताः॥
   (व० प्र० शि० 178 उ० 179 पू०)
4. अन्तःस्थयमवर्जं तमूर्णापिण्डं विनिर्दिशेत्। (या० शि० 95 उ०)

मध्य में यम नहीं होता है और वह संयोग उर्णापिण्ड होता है।[1] तात्पर्य यह है कि ऊष्म वर्ण तथा अनुनासिक स्पर्श के संयोग के बीच यम नहीं होता। इस प्रकार ऊष्म तथा अनुनासिक के संयोग को उर्णापिण्ड जानना चाहिए। जैसे—पाशेस्त्मन्न्या। यहाँ ऊष्म सकार तथा अनुनासिक मकार के बीच आगम में रूप में तकार है। उस तकार तथा मकार के बीच यम का निषेध हो गया है। अतः यह सकार तथा मकार का संयोग उर्णा-पिण्ड के समान है। उल्लेखनीय है कि यदि सकार तथा मकार का संयोग न होता तो बीच में तकार का आगम नहीं होता। ऊष्म वर्ण संघर्षी ध्वनि है क्योंकि इनका उच्चारण अर्ध-स्पृष्ट प्रयत्न के द्वारा संघर्षण के साथ निकलती हुई वायु से होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि संघर्षी ध्वनि के साथ अनुनासिक वर्ण का संयोग उर्णापिण्ड के समान है इस संयोग को उर्णापिण्ड कहने का तात्पर्य यह है कि ऊन के गोले से उसके प्रत्येक धागे अलग-अलग होते हैं। उनके संयोग में एक के प्रभाव से दूसरे धागे में किसी प्रकार का विकार नहीं होता उसी प्रकार इस संयोग में संघर्षी ध्वनि अनुनासिक ध्वनि से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होती है। इस संयोग में संयुक्त व्यञ्जनों को सरलतापूर्वक अलग करके उच्चारित किया जा सकता है। जैसे—उपश्मन् में शकार तथा मकार के संयोग से प्रत्येक को अलग करके सरलता से उच्चारित किया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि संघर्षी ध्वनि में हकार तथा अनुनासिक के संयोग का ग्रहण इस पिण्ड में नहीं होता क्योंकि हकार परवर्ती अनुनासिक ध्वनि से प्रभावित हो जाता है।

ज्वालापिण्ड

या० शि० के अनुसार नासिक्य वर्ण से युक्त संयोग ज्वालापिण्ड कहलाता है।[2] इस संयोग में पूर्ववर्ती ध्वनि स्पर्श व्यतिरिक्त होती है क्योंकि स्पर्श के बाद में पञ्चम स्पर्श होने पर यमागम होता है अतः वह संयोग अयःपिण्ड के समान होता है। यह पिण्ड हकार और अनुनासिक का संयोग होता है। जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला एक वस्तु से दूसरी वस्तु को अतिशीघ्र प्रभावित कर देती है उसी प्रकार अनुनासिक वर्ण की नासिक्य स्थानता समीपवर्ती ध्वनि को शीघ्र व्याप्त कर लेती है। जैसे—ब्रह्मन् वह्नितमम्। यहाँ प्रथम उदाहरण में मकार तथा द्वितीय में नकार की नासिक्य स्थानता हकार को शीघ्र प्रभावित कर लेती है जिससे हकार में

---

1. यमास्तदा निवर्तन्ते ऊष्मामध्ये भवेद्यदि।
उर्णापिण्डेन ते तुल्याः पाशेस्त्मन्न्या निदर्शनम्॥ (व० प्र० शि० 180)
2 ज्वालापिण्डान् नासिक्यान्···। (या० शि० 2/93 पू०)

अनुनासिकता आ जाती है। यह संयोग ज्वालापिण्ड है। शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षा ग्रन्थों में इस पिण्ड का विधान (या० शि० को छोड़कर किसी अन्य में) नहीं किया गया है।

मृत्पिण्ड

अनुस्वार तुल्य संयोग मृत्पिण्ड कहलाता है।[1] अर्थात् जिस संयोग में अनुस्वार तथा अन्य व्यञ्जन संयुक्त हों वह संयोग मृत्पिण्ड के समान होता है। जैसे—तां सवितुः, संस्थाम्, लोकाँ अकल्पयन्। इन उदाहरणों में पूर्ववर्ती अनुस्वार से परवर्ती वर्णों का संयोग मृत्पिण्ड है। जिस प्रकार मृत्पिण्ड को तोड़ने से उसकी सत्ता समाप्त हो जाती है और प्रकृति रूप मिट्टी हो जाती है उसी प्रकार इस संयोग को तोड़ने से अनुस्वार की सत्ता समाप्त होकर अपने प्रकृति रूप में हो जाती है। जैसे—इन उदाहरणों संयोग को तोड़कर अलग-अलग उच्चारण करने पर अनुस्वार की सत्ता समाप्त होकर अपने प्रकृति रूप क्रमशः मकार, मकार तथा नकार को धारण कर लेती है और इनका उच्चारण क्रमशः ताम्+सवितुः, सम्+स्थाम् तथा लोकान्+अकल्पयन् हो जाता है।

वायुपिण्ड

उपध्मानीय (ᳶप) के साथ होने वाला संयोग वायुपिण्ड होता है[2] जैसे—सवित ᳶप्रसुवः, द्यौष्पिता, या ᳶफलिनीः आदि।

वज्रपिण्ड

जिह्वामूलीय (ᳵक) के साथ होने वाला संयोग वज्रपिण्ड कहलाता है।[3] जैसे—य ᳵकामयेत, दिव ᳵककुत् इत्यादि।

इन प्रकार इन संयोगों के उच्चारण करते समय अनेक वैशिष्ट्य हो जाते हैं जो ध्वनि वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उनका विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

अभिनिधान

यद्यपि शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षा ग्रन्थों में अभिनिधान-विषयक विस्तृत विवेचन तो नहीं मिलता लेकिन उसके कुछ स्थलों पर उच्चारण का विधान किया गया है। अतएव उन स्थलों को समझने के लिए अभिनिधान-विषयक पूर्ण ज्ञान

1. ...सानुस्वारांस्तु मृण्मयान्। (या० शि० 2/93 पू०)
2. सोपध्मानान् वायुपिण्डान्। (या० शि० 97 उ०)
3. जिह्वामूले तु वज्रिणः। (या० शि० 97)

आवश्यक है। अभि तथा नि उपसर्गपूर्वक धा धातु से निष्पन्न अभिनिधान शब्द का अर्थ है—समीप में रखना। जब संयोग का प्रथम व्यञ्जन अभिनिधान को प्राप्त करता है तब उसका उच्चारण परवर्ती व्यञ्जन से संयुक्त करके नहीं किया जाता। उस समय प्रथम व्यञ्जन के बाद थोड़ा रुककर परवर्ती वर्ण का उच्चारण किया जाता है। इस प्रकार प्रथम व्यञ्जन को परवर्ती व्यञ्जन में मिलाकर उच्चारित न करके उसे केवल उसके समीप में रख दिया जाता है। व० अ० में अभिनिधान के लिए आस्थापित शब्द का प्रयोग किया गया है।[1] इस शब्द का भी अर्थ है—समीप में रखना। ऋ० प्रा० में अभिनिधान से मिलता हुआ अभिनिहित शब्द का प्रयोग हुआ है[2] किन्तु इस संज्ञा का प्रयोग वहाँ पूर्वरूप सन्धि के लिए हुआ है। इसमें एकार तथा ओकार से परवर्ती अकार का पूर्वरूप हो जाता है। भाष्यकार उवट ने भी इस सन्धि के प्रसङ्ग में अभिनिधान एवं अभिनिहित-शब्दों का प्रयोग किया है। भाष्यकार के अनुसार अभिनिधान का अर्थ है—पूर्वरूपता। पूर्वरूप सन्धि के लिए अभिनिधान संज्ञा के प्रयोग का तात्पर्य यही है कि पूर्वरूपता में पूर्वरूप प्राप्त करने वाले वर्ण का उच्चारण स्वतन्त्र रूप में नहीं होता। इसी प्रकार संयुक्त व्यञ्जनों में अभिनिधान को प्राप्त होने वाला वर्ण भी अपूर्ण उच्चारित होता है। चारायणी शिक्षा में अभिनिधान के स्थान पर भुक्त संज्ञा का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि अभिनिधान को प्राप्त व्यञ्जन अपने परवर्ती व्यञ्जन द्वारा कुछ अंशों में भुक्त हो जाता है—उसके उच्चारण का कुछ अंश परवर्ती व्यञ्जन या विराम द्वारा भक्षण कर लिया जाता है; ले लिया जाता है।

संयुक्त-स्पर्शों का उच्चारण

अभिनिधान दो स्पर्श वर्णों के संयोग के स्थल पर होता है। अतः अभिनिधान को समझने के लिए स्पर्श वर्णों के संयोग की उच्चारण-प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक है। अतः सर्वप्रथम उसका विवेचन किया जा रहा है—

जैसा वर्णों के उच्चारण के प्रसंग में बतलाया जा चुका है कि स्पर्श वर्ण का उच्चारण करते समय बाह्य प्रयत्न द्वारा विकृत वायु मुखविवर में आती है और वहाँ स्थान पर करण का पूर्णरूपेण स्पर्श होता है। परिणामस्वरूप मुखविवर में आयी हुई वायु प्रथमतः अवरुद्ध हो जाती है—मुखविवर से बाहर नहीं निकल पाती। जब स्थान तथा करण का अलगाव होता है तब मुखविवर में अवरुद्ध वायु बाहर निकलती है और ध्वनि श्रुतिगोचर होती हैं। जब तक स्पर्श की स्थिति रहती

1. व० अ० (आस्थापितञ्च, व० अ० 1/48)
2. अथाभिहिनहितः'''सन्धिजाः। ऋ० प्रा० (2/34)

है तब तक ध्वनि सुनायी नहीं पड़ती । इस प्रकार स्पर्श वर्णों के उच्चारण में तीन स्थितियाँ होती हैं—(1) फेफड़े से स्वरतन्त्रियों में विकृत वायु का मुखविवर में आना; (2) करण का स्थान पर स्पर्श द्वारा वायु का अवरोध तथा (3) स्थान से करण के पृथक् होने पर वायु का स्फोटन या उन्मोचन । स्फोटन होने से ही स्पर्श ध्वनि का पूर्ण उच्चारण होता है तथा ध्वनि श्रुतिगोचर होती है । स्पर्श वर्णों के उच्चारण की प्रत्येक स्थिति में उपर्युक्त तीनों प्रक्रियायें नहीं होतीं । वायु के स्फोटन के लिए परिस्थित विशेष का होना अनिवार्य हैं । जब किसी स्पर्श के बाद स्पर्श की ध्वनि का उच्चारण होता है तब उन दोनों स्पर्शों में से प्रथम स्पर्श के उच्चारण में वायु का स्फोटन नहीं हो पाता । प्रथम स्पर्श के उच्चारण के लिए मुख में अवरुद्ध वायु के स्फोटन से पूर्व ही उच्चारणावयव परवर्ती स्पर्श के उच्चारण के लिए तैयार हो जाते हैं, जिससे प्रथम स्पर्श के उच्चारण के लिए अवरुद्ध वायु का पूर्णतः स्फोटन न होने के कारण उच्चार्यमाण ध्वनि का श्रवण भी पूर्णतः नहीं हो पाता । परन्तु स्पर्श ध्वनि से बाद में स्वर हो अथवा कोई ऐसा वर्ण हो; जिसके उच्चारण में स्थान पर करण का पूर्णतः स्पर्श न हो तो स्पर्श व्यञ्जन के उच्चारण में अवरुद्ध वायु का स्फोटन हो जाता है जिससे स्पर्श व्यञ्जन पूर्णतः श्रुतिगोचर हो जाता है । स्थान तथा करण के स्पर्श के बाद जब अस्पृष्ट ध्वनि के उच्चारण के लिए उनका विलगाव होता है तो वायु को स्फुटित होने का अवसर मिल जाता है । परिणामस्वरूप वायु बाहर निकल जाती है और स्पर्श पूर्णतः सुनायी पड़ जाता है । इस प्रकार स्पष्ट है कि स्पर्श से बाद में स्पर्श-व्यतिरिक्त ध्वनि का उच्चारण होने पर ही स्पर्श का उच्चारण स्फोटनयुक्त होगा । वस्तुतः दो स्पर्श व्यञ्जनों के संयोग में जब प्रथम स्पर्श के उच्चारण के पश्चात् द्वितीय स्पर्श का उच्चारण होता है तो प्रथम स्पर्श के उच्चारण में उच्चारण स्थान तथा करण का स्पर्श हो जाने पर स्फोटन हुए बिना ही द्वितीय स्पर्श के उच्चारणार्थ उच्चारणावयवों को चेष्टा करनी पड़ती है । परिणामस्वरूप प्रथम स्पर्श के उच्चारण में हुआ स्पर्श परिस्थितिवशात् स्थान परिवर्तन करके अपना दीर्घरूप बनाये रहता है जिससे प्रथम स्पर्श के उच्चारण में अवरुद्ध वायु स्फुटित नहीं हो पाती ।

अभिनिधन का स्वरूप

ऋ० प्रा० के अनुसार वर्ण की श्रुति का अवरोध और दबाशा अभिनिधान कहलाता है । ऋ० प्रा० में अवरोध के लिए संधारण तथा दबाने के लिए संवरण शब्द का प्रयोग किया गया है ।[1] अभिनिधान में संयुक्त स्पर्शों में से प्रथम स्पर्श

1. संधारणं संवरणं श्रुतेः । (ऋ० प्रा० 6/17)

को परवर्ती स्पर्श से पृथक् करके तब उस ध्वनि को थोड़ा दबाकर उसका अत्यस्पष्ट उच्चारण किया जाता है। ऋ० प्रा० में विच्छेद[1] शब्द के प्रयोग से यही तथ्य स्पष्ट होता है कि संयुक्त व्यञ्जनों के मध्य में थोड़ा अवरोध होने से उनका संयोगत्व विच्छिन्न हो जाता है। च० अ० के अनुसार व्यञ्जन का विधारण तथा पीड़ित श्वासनाद की हीनता अभिनिधान होती है।[2] इसमें अधिनिधान को प्राप्त ध्वनि के लिए पीड़ित, सन्नतर तथा हीनश्वासनाद शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार ऋ० प्रा० में प्रयुक्त संधारण शब्द से च० अ० में प्रयुक्त व्यञ्जन-विधारण का समनार्थक है तथा ऋ० प्रा० के संवरण के अन्तर्गत च० अ० के पीड़ित श्वास नाद हीनता का समावेश हो जाता है। संवरण का शाब्दिक अर्थ है दबाना। इस प्रकार जिसे पीड़ित किया जाता है वह दब जाता है तथा जो श्वासनाद-हीन होता है वह भी दबा होता है। इस प्रकार अभिनिधान-प्रक्रिया के लिए दो बातें ही मुख्य हैं—(1) संयोग में प्रथम व्यञ्जन को द्वितीय व्यञ्जन से अलग करके तथा दबाकर उच्चारित करना। इससे स्पष्ट होता है कि अभिनिधान को प्राप्त वर्ण के उच्चारण से व्यञ्जनों का संयोग समाप्त हो जाता है। संयुक्त व्यञ्जनों के उच्चारण में किञ्चिदपि व्यवधान नहीं होता किन्तु अभिनिधान के उच्चारण में प्रथम संयुक्त व्यञ्जन को द्वितीय संयुक्त व्यञ्जन से अलग करके उच्चारित किया जाता है। इस प्रकार दोनों के बीच एक अल्प विराम हो जाता है।

अभिनिधान का ध्वनि-वैज्ञानिक आधार

दो स्पर्श वर्णों के संयोग के स्थल पर प्रथम स्पर्श के उच्चारण के समय ध्वनि यन्त्र पर विकृत वायु मुख में आती है और वहाँ स्थान पर करण के स्पर्श द्वारा रोक ली जाती है। पुनः जब परवर्ती स्पर्श के उच्चारण में द्वितीय प्रयत्न के प्रारम्भ होने से पूर्व प्रथम स्पर्श वर्ण की समाप्ति हो जाती है तभी पूर्वोच्चारित ध्वनि की श्रवणीयता उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् उसी स्थिति में ध्वनि सुनायी पड़ जाती है। जब उच्चारणावयवों का स्पर्श-क्रिया की समाप्ति हो जाती है और वायु को स्फुटित होने का अवसर मिल जाता है। स्पर्श वर्ण के बाद स्वरात्मक ध्वनि का उच्चारण होने पर अथवा ऐसी ध्वनि का उच्चारण होने पर जिसके उच्चारण में उच्चारणावयवों का परस्पर पूर्ण स्पर्श न हो तभी यह स्फोटन होता है। पदान्त स्पर्श वर्ण का उच्चारण होने पर भी वायु

1. विच्छेदात्स्पर्शोष्मपराश्च घोषिणः। (ऋ० प्रा० 6/47)
2. व्यञ्जनविधारणमभिनिधानः···। (च० अ० 1/43)

का स्फोटन नहीं हो सकता। परन्तु ऐसी स्थिति तभी आ सकती है जब वह पदान्त स्पर्श अवसानस्थ हो। क्योंकि अवसानस्थ रहने पर भी स्फोटक ध्वनि के अभाव में वायु को स्फुटित होने का अवसर ही नहीं मिल पाता। स्पर्श ध्वनि से बाद में स्फोटक ध्वनि का अभाव होने पर उसके उच्चारण में केवल दो ही क्रियायें हो पाती हैं—(1) स्वर तन्त्रियों पर विकृत वायु का मुख में आना और (2) स्थान पर करण के स्पर्श द्वारा उसका अवरोध तीसरी प्रक्रिया-अवरुद्ध वायु का स्फोटन नहीं हो पाता। जिससे स्पर्श का अपूर्ण उच्चारण होता है। जब संयुक्त स्पर्शों में प्रथम स्पर्श को द्वितीय स्पर्श से थोड़ा अलग करके उसका अपूर्ण उच्चारण करते हैं तब इस स्पर्श के उच्चारण के पश्चात् थोड़ा (अत्यल्प) विराम आ जाता है तथा विराम के तुरन्त बाद द्वितीय स्पर्श के उच्चारण के लिए प्रयत्न होता है जिससे पूर्ववर्ती स्पर्श का उच्चारण वायु के स्फोटन से रहित होता है। अतः वह पूर्ववर्ती स्पर्श स्फोटन न होने से अपूर्ण ही उच्चारित हो पाता है।

वस्तुतः दो स्पर्श वर्णों के संयोग के स्थल पर जब पूर्ववर्ती स्पर्श का उच्चारण करने के तुरन्त बाद परवर्ती स्पर्श का उच्चारण किया जाता है तब पूर्ववर्ती स्पर्श के उच्चारण के लिए स्थान पर करण का स्पर्श हो जाने पर दूसरे स्पर्श वर्ण के उच्चारण के लिए प्रथम स्पर्श का पूर्ण उच्चारण हुए बिना ही उच्चारणावयवों को तैयार होना पड़ता है। ऐसी स्थिति में प्रथम स्पर्श ही अपने उच्चारण की कालावधि का दीर्घीकरण करके द्वितीय स्पर्श को उच्चारित करने के लिए स्थान करण के स्पर्श का निर्माण कर देता है। परिणामतः वायु का स्फोटन न होने के कारण प्रथम स्पर्श का पूर्ण उच्चारण नहीं हो पाता है।

अभिनिधान के स्थल एवम् क्षेत्र

ऋ० प्रा० में विधान किया गया है कि दो पदों की संहिता कर देने पर स्पर्श एवम् रेफ से व्यतिरिक्त अन्तःस्थ वर्णों का अभिनिधान होता है यदि उसके स्पर्श वर्ण हो। इसी प्रकार अवसान से पूर्ववर्ती स्पर्श वर्ण तथा रेफ व्यतिरिक्त अन्तःस्थ वर्ण का अभिनिधान होता है।[1] जैसे—अर्वाक्+देवाः=अर्वाग्देवाः। यहाँ संहिता के परिणाम स्वरूप सघोष व्यञ्जन वकार बाद में होने से वकार अपने वर्ग का तृतीय स्पर्श हो जाता है। इस सन्धि के परिणाम स्वरूप गकार तथा दकार का संयोग होता है। इस संयोग के स्थल पर दोनों स्पर्श का संयोग

1. अभिनिधानं कृतसहितानां स्पर्शान्तः स्थापनामपवाद्यरेफम्। संधरणं संवरणं श्रुतेश्च स्पर्शोदयानाम्। अपि चावसाने। (ऋ० प्रा० 6/17, 18)

होने से पूर्ववर्ती स्पर्श गकार का अभिनिधान प्राप्त होता है। अतः गकार को दकार से अलग करके उसकी ध्वनि को थोड़ा दबाकर अस्पष्ट किया जाता है। अवसानस्थ वर्ण के अभिनिधान में पूर्ववर्ती स्पर्श का परवर्ती स्पर्श से अलगाव (संधारण) नहीं होता, इसमें केवल संवरण क्रिया ही होती है क्योंकि अवसानस्थ वर्ण के बाद में कोई वर्ण न होने से उसे परवर्ती वर्ण से अलगाव की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार ऋ० प्रा० में सभी स्पर्श वर्णों तथा रेफ से अन्य अन्तःस्थ वर्णों के अभिनिधान की बात कही गयी है। परन्तु च० अ० में स्पर्श वर्ण लकार एवं ङ्, ण् तथा न् वर्णों के अभिनिधान का निर्देश हुआ है।[1] ऋ० प्रा० में लकार से बाद में स्पर्श होने पर पूर्ववर्ती लकार के अभिनिधान का विधान किया गया है जबकि च० अ० में लकार से बाद में ऊष्म होने पर ही लकार के अभिनिधान सहित उच्चारण का निर्देश है। इसी प्रकार ङ् ण् तथा न् से बाद में हकार होने पर ही उनके अभिनिधान को प्राप्त करने का कथन हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऋ० प्रा० में विहित अभिनिधान का क्षेत्र च० अ० से विस्तृत है। च० अ० के अनुसार अवग्रह बाद में होने पर पूर्ववर्ती स्पर्श वर्ण का अभिनिधान सहित उच्चारण होता है।[2] वस्तुतः कुछ पदों को पदपाठ में अवग्रह द्वारा पृथक् कर दिया जाता है। वह अवगृहीत पद का अन्त्य स्पर्श, स्पर्श बाद में होने पर अभिनिधान सहित उच्चारित होता है। अवग्रह का अर्थ है—पृथक्करण। वा० प्रा० में अवग्रह का उच्चारण काल एक मात्रा बतलाया गया है।[3] जब दो स्पर्श वर्णों के संयोग के स्थल पर प्रथम स्पर्श को द्वितीय स्पर्श से पृथक करके अवग्रह काल का विराम किया जाता है तो पूर्ववर्ती स्पर्श अभिनिधान को प्रान्त करता है।

अभिनिधान के उच्चारण में विशेष

शुक्लयजुर्वेदीय या० शि० तथा अमोघानन्दिनी शिक्षा में अभिनिधान के कुछ स्थलों के उच्चारण की विधि बतलायी गयी है जो इस प्रकार है—

(1) या० शि० के अनुसार जिस प्रकार काम के वशीभूत होकर मुर्गा एक विशेष प्रकार की कुक् कुक् की ध्वनि करता है उसी प्रकार कुक्कुटो सि इत्यादि

1. स्पर्शस्य स्पर्शेऽभिनिधानः । पदान्तावग्रहयोश्च । लकारस्योष्मसु ङ्णनानां हकारे। (च० अ० 1/44–47)
2. पदान्तावग्रहयोश्च। (च० अ० 1/45)
3. पदान्तेऽवग्रहो ह्रस्वसमकालः। (वा० प्रा० 5/1)

स्थलों पर संयुक्त ककार द्वय का उच्चारण करना चाहिए।[1] तात्पर्य यह है कि ककारद्वय का संयोग हो वहाँ कामी मुर्गे के द्वारा किये गये कुक्-कुक् की ध्वनि के समान उच्चारण करना चाहिए। अमोघानन्दिनी शि० में या० शि० की ही कारिका उद्धृत की गयी है। अमोघानन्दिनी शि० में इस ककारद्वय के उच्चारण में मुख की स्थिति का भी निर्देश किया गया है। उसके अनुसार जिस प्रकार कामातुर मुर्गी बार-बार कुक् कुक् की ध्वनि करती है उसी प्रकार प्राज्ञजन कुक्कुटोऽसि के ककारद्वय के उच्चारण में मुख की आकृति करते हैं।[2]

(2) वा० प्रा० के अनुसार युञ्जानः (वा० सं० 11/1) में ञकार तथा जकार के संयोग का उच्चारण उसी प्रकार मुख को गोलाकार करके करना चाहिए जिस प्रकार पुत्रवती स्त्री स्नेह से अपने पुत्र का चुम्बन करने के लिए मुख का आकार बनाती है।[3] अमोघानन्दिनी शि० में भी युञ्जानः में ञकार तथा जकार के संयोग के उच्चारण के विषय में या० शि० की भाँति ही विधान किया गया है। इस प्रकार ञकार तथा जकार के संयोग होने पर उच्चारण में मुख की आकृति उसी प्रकार की होती है जिस प्रकार प्रेमाधिक्य से पुत्र का चुम्बन करने वाली माँ के मुख की होती है।

(3) या० शि० के अनुसार जिस प्रकार घोड़ी (वडवा) घोड़े को देखकर अपनी योनि का संकोचन-विकोचन करती है उसी प्रकार की मुखमुद्रा में "सदुन्दुभे" (वा० सं० 20/55), इत्यादि स्थलों पर नकार का एकमात्रिक उच्चारण करना चाहिए।[4] अमोघानन्दिनी शि० में भी इसी प्रकार का विधान हुआ है किन्तु उसमें घोड़े को देखकर योनि के संकोचन-विकोचन के समान मुख की आकृति का

---

1. कुक्कुटः कामलुब्धो यः ककारद्वयमुच्चरेत्।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः कुक्कुटोऽसि निदर्शनम्॥
(या० शि० 2/62) अमोघानन्दिनी शि० 53

2. कुक्कुटीकामलुब्धा च कुक्कुहन्ती पुनः पुनः।
तन्मुखे कुरुते प्राज्ञः कुक्कुटोऽसि निदर्शनम्॥ (अमो० शि० 59)

3. यथा पुत्रवती नारी स्नेहाच्चुम्बते निजमौरसम्।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः युञ्जान इति दर्शनम्॥
या० शि० 3/67, अमोघा० शि० 62

4. वडवा च हयं दृष्ट्वा योनिं विकुरुते यथा।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः सन्दुन्दुभे निदर्शनम्॥ (या० शि० 2/68)

उल्लेख न करके मूत्रत्याग करते समय योनि के संकोचन-विकोचन के समान मुख की स्थिति करने का निर्देश है ।[1]

(4) या० शि० के अनुसार जिस प्रकार टर्र-टर्र की ध्वनि करते समय मेढक अपने गालों को फुलाता-पिचकाता है उसी प्रकार "अपाम्फेनेन" के फकार के उच्चारण में गालों को फुलाकर सामान्य स्थिति में कर लेना चाहिए ।[2] अमोघा-नन्दिनी शि० में यह विधान नहीं है ।

(5) या० शि० में विधान किया गया है कि जिस प्रकार भार ढोता हुआ व्यक्ति मुँह खोल कर लम्बी-लम्बी श्वाँस लेता है उसी प्रकार अदम्यः, सम्भृतः इत्यादि स्थलों पर विसर्जनीय का उच्चारण करना चाहिए ।[3] अमो० शि० में कहा गया है कि जिस प्रकार भार ढोने वाला कमजोर व्यक्ति लम्बी-लम्बी श्वाँस लेता है उसी प्रकार "होता यक्षत्" इत्यादि का उच्चारण करना चाहिए ।[4]

(6) या० शि० के अनुसार जिस प्रकार कामातुर स्त्री रतिकाल में सि-सि की ध्वनि करती है उसी प्रकार सिह्यति इत्यादि स्थलों पर "सि" का उच्चारण करना चाहिए ।[5] इसी प्रकार का विधान अमो० शि० में भी हुआ है ।[6]

(7) या० शि० में विधान हुआ है कि जिस प्रकार गिद्धपक्षी आकाश में उड़ते हुए अपने पंखों को फैलाता संकुचित करता रहता है उसी प्रकार वार्ध्रीनसी इत्यादि स्थलों पर दीर्घवर्णों के उच्चारण में मुख को विवृत करके तुरन्त संकुचित कर लेना चाहिए ।[7] अमो० शि० में यह विधान नहीं है ।

---

1. मूत्रं करोति वडवा योनिं प्रकुर्वीत यादृशीम् ।
   तन्मुखं कुरुते प्राज्ञः सन्दुन्दुभे निदर्शनम् ॥ (अमो० शि० 65)
2. दर्दुरोऽवरदेशो तु प्रफुल्लते युनर्यथा ।
   एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या अपाम्फेनेन निदर्शनम् ॥ (या० शि० 2/69)
3. यथा भारभराक्रान्ता निःश्वसन्ति नरा भुवि ।
   एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या अदम्यः सम्भृत दर्शनम् ॥ (या० शि० 2/63)
4. यथा भारभराक्रान्तो निःश्वासो लघुचेतसः ।
   एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः होतायक्षद्दर्शनम् ॥ (अमोघान० शि० 60)
5. यथा कामातुरा नारी शब्दं कुर्यात् दिनेदिने ।
   तच्छब्दं कुरुते प्राज्ञः सिह्यति निदर्शनम् ॥ (या० शि० 2/64)
6. (अमोघा० शि० 63)
7. पक्षी वितस्य खे गृद्धौ भ्रान्त्या सकुञ्च्य तिष्ठति ।
   एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या वार्ध्रीनसी निदर्शनम् ॥ (या० शि० 2/65)

(8) अमोघानन्दिनी शि० के अनुसार जिस प्रकार सर्प का बच्चा छोटी-छोटी श्वाँस लेता है उसी प्रकार छोटी-छोटी श्वाँस लेकर हकार से अन्य ऊष्मवर्णों (श, ष तथा स) का उच्चारण करना चाहिए ।[1]

(9) अमोघा० शि० में विधान किया गया है कि जिस प्रकार क्रोधावेश में वन्दर लड़ने के लिए तेजी से दौड़ते हैं। उसी प्रकार झटिति "किंकिदीदिना" में किंकि उच्चारण करना जाहिए ।[2]

स्फोटन

स्फोटन शब्द पृथक् करना अर्थ वाली स्फुट् धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है—पृथक्करण। वा० प्रा० 1/163 के भाष्य में स्फोटन का लक्षण करते हुए उवट ने कहा है कि पिण्डीभूत संयोग के पृथक् उच्चारण को स्फोटन कहा जाता है।[3] वास्तव में स्पर्श-वर्णों के उच्चारण में मुख के अन्दर तीन क्रियायें होती हैं—(1) प्रथमतः वाह्यप्रयत्न द्वारा विकृत वायु का मुख में आना, (2) पुनः स्थान पर करण के द्वारा स्पर्श होने के कारण मुख में वायु का रुकना तथा (3) स्थान और करण का अलगाव होने पर वायु का वाहर निकल जाना। स्पर्श क्रिया के बाद स्थान तथा करण के अलग होने पर वायु के बाहर निकल जाने की प्रक्रिया को उन्मोचन कहा जाता है। स्फोटन होने के लिए स्पर्श होने के बाद स्थान तथा करण के अलग होने पर वायु के बाहर निकल जाने की प्रक्रिया को स्फोटन या उन्मोचन कहा जाता हैं। स्फोटन होने के लिए स्पर्श होने के बाद स्थान तथा करण का अलगाव होना आवश्यक है जिससे वायु स्फुटित होकर बाहर निकल सके। जब तक स्थान और करण के स्पर्श होने के कारण वायु मुख में रुकी रहती है तब तक ध्वनि सुनायी नहीं पड़ती। ज्योंहि स्पर्श क्रिया समाप्त होकर स्थान और करण का अलगाव होता है त्योंहि ध्वनि सुनायी पड़ जाती है। जिस स्पर्श वर्ण के उच्चारण में उपर्युक्त तीनों प्रक्रियायें होती हैं उसका उच्चारण पूर्णरूपेण होता है तथा जिस स्पर्श के उच्चारण में अन्तिम प्रक्रिया नहीं होती उसका उच्चारण

---

1. यथा बालस्य सर्पस्य निःश्वासो लघुचेतसाम् ।
एवमुष्मा प्रयोक्तव्यो हकारोपरिवर्जितः ॥ (अमोघा० 61)
2. यथा मर्कटयोर्युद्धं रोषेण प्रतिधावति ।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या किकिदीविना दर्शनम् ॥ (अमोघानन्दिनी शि० 64)
3. स्फोटनं नाम पिण्डीभूतस्य संयोगस्य पृथगुच्चारणम् (वा० प्रा० 1/163 उ०)

अपूर्ण होता हैं। अतः स्पर्श क्रिया के बाद स्थान और करण के अलग हो जाने के पश्चात् वायु के निकलने अर्थात् स्फोटन होने पर स्पर्श वर्ण का पूर्ण उच्चारण होता है।

स्फोटन के स्थल

वा० प्रा० में यह विधान किया गया है कि स्पर्शान्त पदों के स्थान तथा करण का अलगाव करना चाहिए।[1] तात्पर्य यह है कि पदान्तीय स्पर्श वर्ण के उच्चारण में स्थान तथा करण का स्पर्श होने के पश्चात् करण को हटा देना चाहिए। स्थान तथा करण के इस अलगाव के कारण वायु स्फुटित होकर बाहर निकल जाती है जिससे उस पदान्तीय स्पर्श का पूर्ण उच्चारण हो जाता है। ऐसा (=स्फोटन) न होने से उस स्पर्शान्त पद के बाद आने वाले पद के आदि वर्ण का द्वित्व हो जायेगा। इसलिए स्फोटन द्वारा पदान्तीय स्पर्श का पूर्ण उच्चारण करने के पश्चात् परवर्ती पद का उच्चारण अन्य प्रयत्न के द्वारा करना चाहिए। जैसे—तत् नः। यहाँ स्पर्शान्त पद तत् के पदान्तीय तकार का स्फोटन द्वारा पूर्ण उच्चारण करना चाहिए तथा परवर्ती पद नकार के उच्चारण का प्रारम्भ तकार के प्रयत्न से अन्य प्रयत्न के द्वारा करना चाहिए।

अवसान पर भी स्थान तथा करण का अलगाव करना चाहिए।[2] प्रस्तुत सूत्र पर भाष्यकार उवट का कथन है कि एक अर्धर्च के समाप्त होने पर तथा दूसरे के प्रारम्भ से पहले स्वरान्त पदों के भी स्थान तथा करण का भी अलगाव करना चाहिए।[3] जैसे—संमधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्। प्रस्तुत सूत्र पर भाष्यकार उवट का यह मत संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि (1) स्वर वर्णों के उच्चारण स्थान तथा करण का स्पर्श नहीं होता प्रत्युत वे अलग-अलग रहते ही हैं। (2) भाष्यकार ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह स्वरान्त नहीं व्यञ्जनान्त है।

वा० प्रा० में यह विधान किया गया है कि कवर्ग बाद में होने पर स्पर्श के बाद स्फोटन करना विकल्प से दोष है।[4] अर्थात् पदादि कवर्गीय स्पर्श वर्ण

1. स्पर्शान्तस्य स्थानकरणविमोक्षः। (वा० प्रा० 1/90)
2. अवसाने च (वा० प्रा० 1/91)
3. समाप्तौ च अर्द्धर्चादौ स्वरान्तानामपि पदानां स्थानकरणविमोक्षः कर्तव्यः। (वा० प्रा० 1/91 उ०)
4. स्फोटनं च ककारवर्गे वा स्पर्शात् (वा० प्रा० 1/165)

बाद में हो तो पदान्तीय स्पर्श का स्फोटन करना दोष है। इस विषय में विकल्प है। कतिपय आचार्य इसे दोष नहीं मानते हैं। अतः दोष होने से स्फोटन नहीं करना चाहिए; परन्तु कतिपय आचार्य इसे दोष नहीं मानते। अतः उनके अनुसार अदोष होने से कवर्ग बाद में होने पर भी पदान्तीय स्पर्श वर्ण के स्थान तथा करण का अलगाव करना चाहिए। वा० प्रा० 1/90 के द्वारा पदान्तीय स्पर्श वर्ण के स्थान तथा करण के अलगाव की प्राप्ति होती है। प्रस्तुत विधान वा० प्रा० 4/163 में कतिपय आचार्यों के अनुसार उसका निषेध हो गया है।

स्वरभक्ति

स्वरभक्ति संयुक्तव्यञ्जनों का एक महत्त्वपूर्ण उच्चारण-वैशिष्ट्य है। स्वरभक्ति का अर्थ है—स्वर द्वारा विभक्त। तै० प्रा० के भाष्यकार सोमयार्य के अनुसार स्वरभक्ति का अर्थ है—स्वर का अंश। किन्तु गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार भक्ति का अर्थ है—धर्म। स्वर (वर्ण) के समान धर्म है जिसका वह स्वरभक्ति है। वास्तव में संयुक्त व्यञ्जनों के उच्चारण में कहीं-कहीं जिह्वा को असुविधा होती है जिससे कुछ विशेष परिस्थिति में संयुक्तव्यञ्जनों के मध्य में एक स्वर का आगम हो जाता है जिसे स्वरभक्ति कहा जाता है। शिक्षाग्रन्थों में स्वरभक्ति का क्षेत्र व्यापक न होकर सीमित है। कुछ विशेष स्थलों पर ही स्वरभक्ति होती है।

स्वरभक्ति के स्थल

स्वरभक्ति के स्थल का निर्देश शिक्षाग्रन्थों में उपलब्ध होता है। या० शि० के अनुसार रेफ अथवा लकार से बाद में स्वर पर ऊष्म वर्ण हो तो उस पूर्ववर्ती रेफ अथवा लकार तथा परवर्ती ऊष्मवर्ण के बीच स्वरभक्ति होती है।[1] तात्पर्य यह है कि रेफ अथवा लकार से बाद में ऊष्म वर्ण आए तथा उस ऊष्म वर्ण से बाद में स्वर वर्ण हो तो उस रेफ अथवा लकार तथा ऊष्म के बीच एक स्वर वर्ण का आगम हो जाता है जिसे स्वरभक्ति नाम से अभिहित किया जाता है। स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्टशिक्षा में स्वरभक्ति के भेदों तथा उनके स्थल, उदाहरण को प्रस्तुत किया गया है। उससे भी स्पष्ट होता है कि उसके अनुसार रेफ अथवा लकार से बाद में ऊष्म वर्ण होने पर स्वरभक्ति होती है।[2] व० प्र० शि० में भी

1. रलाभ्यां पर ऊष्माणो यत्र स्युः स्वरितोदयाः।
   स्वरभक्तिरसौ ज्ञेया पूर्वमाक्रम्य पठ्यते॥ (या० शि० 17)
2. द्रष्टव्यः स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्ट शि० (36–42)

स्वरभक्ति का प्रतिपादन किया गया है। उसके अनुसार रेफ अथवा लकार से बाद में स्वरपर ऊष्म होने पर स्वरभक्ति होती है।[1] जैसे—गार्हपत्य (वा० सं० 3/39) तथा शतवल्शा (वा० सं० 12/10)। प्रथम उदाहरण में रेफ से बाद में स्वर पर हकार है। अतः रेफ तथा हकार के बीच में अर्धमात्रिक ऋकार का आगम होता है। इसका उच्चारण गार् (ऋ) हपत्य इस प्रकार होता है। द्वितीय उदाहरण में लकार से बाद में स्वरपर शकार है अतः लकार तथा शकार के वीच में अर्धमात्रिक ऌ का आगम होता है। इस उच्चारण शतवल् (ऌ) शा—इस प्रकार होता है शुक्लयजुर्वेदीय सम्प्रदायप्रवोधिनी शिक्षा में विधान[2] किया गया है कि रेफ से बाद में ऋकार होने पर भी रेफ तथा ऋकार के बीच में स्वरभक्ति होती है। इस स्वरभक्ति का उच्चारण माध्यन्दिनशाखा के गौड़ सम्प्रदाय में होता है किन्तु दक्षिणात्य सम्प्रदाय में इस स्थल पर स्वरभक्ति का उच्चारण नहीं किया जाता है। गौड़ सम्प्रदाय के अनुसार निर्ऋति में भी स्वरभक्ति होती है।

स्वरभक्ति का स्वरूप

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षा ग्रन्थों में रेफ तथा लकार से बाद में स्वरपर ऊष्म होने पर स्वरभक्ति के होने का विधान किया गया है। उनमें स्वरभक्ति के स्वरूप का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। वा० प्रा० में स्वरभक्तिविषयक विधान करते हुए कहा गया है कि स्वर बाद में हैं, जिसके ऐसा ऊष्म वर्ण बाद में होने पर रेफ से बाद में ऋकार तथा लकार से बाद में ऌकार का आगम होता है।[3] अर्थात् स्वरपर ऊष्म बाद में होने पर रेफ से बाद में ऋकार तथा ऌकार से बाद में रकार तथा लकार का आगम हो जाता है। इसमें स्पष्ट होता है कि रेफ से बाद में स्वरभक्ति ऋकारात्मक तथा लकार से बाद में ऌकारात्मक होती है। भाष्यकार उवट के अनुसार रेफ तथा लकार से बाद में स्वरपर ऊष्म वर्ण होने पर रेफ से बाद में आये हुए ऋवर्ण तथा लकार से बाद में आये हुए ऌवर्ण के समान तथा आधी मात्रा उच्चारण काल वाले व्यञ्जन हैं। अन्य वेदों में ये स्वर-

1. रेफो वाथ लकारो वा यत्रोष्मणि स्वरोदये।
स्वरभक्तिर्भवेत्तत्र पूर्वमाक्रम्य पठ्यते॥ (व० प्र० शि० 50)
2. ऋकाराद् पूर्ववर्ती रेफो गौडाचार्यैः स्वरश्रुतिः।
दक्षिणात्यैर्यथालोकं कथ्यते नु परस्परम्॥ (स० प्र० शि० 16)
3. रलावृऌवर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदये सर्वत्र (वा० प्रा० 4/17)।

भक्ति नाम से प्रसिद्ध हैं।[1] इससे स्पष्ट होता है कि स्वरभक्ति रेफ के बाद ऋ तथा लकार के बाद ऌ के सदृश होती है। जिसका उच्चारण काल आधी मात्रा हैं। व० प्र० शि० में भी स्वरभक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ऊष्मपर रेफ से बाद में रेफत्व होता है जिसका भाग परवर्ती ऊष्म से संपृक्त रहता है।[2] तात्पर्य यह है कि यदि रेफ से बाद में स्वरपर ऊष्मवर्ण हो तो उस रेफ तथा ऊष्म वर्ण के बीच में रेफ सदृश ध्वनि का आगम होता है। वह रेफ सदृश ध्वनि परवर्ती ऊष्मवर्ण से सम्पृक्त रहती हैं अर्थात् उसमें रेफ तथा परवर्ती ऊष्म वर्ण दोनों के मिश्रित गुण होते हैं जो स्वरभक्ति कहलाता है।

यद्यपि इस शिक्षा में लकार से परवर्ती स्वरभक्ति के स्वरूप का विधान नहीं हुआ है किन्तु रेफ से परवर्ती स्वरभक्ति-विषयक विधान से लकारपर स्वर भक्ति का भी स्वरूप स्पष्ट हो जाता है जिस प्रकार रेफ से परवर्ती स्वरभक्ति रेफत्व युक्त तथा परवर्ती ऊष्म वर्ण से प्रभावित होती है उसी प्रकार लकार से परवर्ती स्वरभक्ति लकार के सदृश होती है जो परवर्ती ऊष्म वर्ण से सम्पृक्त रहती है। इससे स्पष्ट है कि स्वरभक्ति व्यञ्जन के गुण वाली होती है क्योंकि इसका उच्चारण काल आधी मात्रा है जो व्यञ्जन का उच्चारण काल होता है। आधी मात्राकाल में किसी भी स्वर वर्ण का उच्चारण नहीं हो सकता।

इस प्रकार कतिपय आचार्य रेफ से बाद में होने वाली स्वरभक्ति को ऋकार के सदृश अर्धमात्रिक ध्वनि तथा कुछ आचार्य रेफ सदृश परवर्ती ऊष्म वर्ण से प्रभावित ध्वनि स्वीकार करते हैं तथा लकार से परवर्ती स्वरभक्ति को कतिपय आचार्य अर्धमात्रिक ऌकार के स्वरूप वाली तथा कतिपय आचार्य परवर्ती ऊष्म वर्ण से प्रभावित लकार के स्वरूप वाली मानते हैं।

स्वरभक्ति का उच्चारण

स्वरभक्ति के उच्चारण के विषय में प्रतिज्ञासूत्र, माध्यन्दिन शि०, नवाङ्क-सूत्र, केशवी शिक्षा, लघुमाध्यन्दिनी शिक्षा तथा या० शि० में विधान किया गया है। प्रतिज्ञासूत्र के अनुसार अकारपर रेफ का उच्चारण एकार सहित करना चाहिए यदि उसके बाद में ऊष्म अथवा ऋकार हो। इसी प्रकार तृतीय अन्तःस्थ (लकार) के विषय में भी जानना चाहिए।[3] तात्पर्य यह है कि यदि रेफ तथा

1. ऋष्टस्वरसदृशो व्यञ्जनावर्धमात्रको। (वा० प्रा० 4/17 पर उवटभाष्य)
2. ऊष्मणामुपरिस्थस्तु रेफो याति रेफवर्णताम्।
   रेफत्वं पुनरायाति यद्यूष्मणोऽन्त्यसंयुता॥ (व० प्र० शि० 51)
3. अथापरान्तस्थस्यायुक्तान्यहलः संयुक्तोष्मऋकारैरेकारसहितोच्चारणमेवं तृतीयान्तःस्थस्य। (प्रा० प्र० शि० 215, पर उद्धृत)

ऊष्म वर्ण का संयोग हो तथा उस रेफ से पहले अकार हो तो उसका उच्चारण एकार सहित करना चाहिए। जैसे—दर्शतम् का उच्चारण दरेशतम् करना चाहिए। इसका उच्चारण रेफ सहित दर्शतम् नहीं होता है। इसी प्रकार वर्षा का उच्चारण वरेषा, वर्षीयसी का उच्चारण वरेषीयसी होता है। इससे स्पष्ट होता है कि रेफ तथा ऊष्म के संयोग के स्थल पर शुक्लयजुर्वेद में स्वरभक्ति का उच्चारण एकार के समान होता है। इसी प्रकार शतवल्शा का उच्चारण शतवलेशा; उपवल्हा का उपबलेहा करना चाहिए। माध्यन्दिन शि० के अनुसार जहाँ शकार, षकार, सकार तथा हकार के ऊपर रेफ हो वहाँ स्वरभक्ति करना चाहिए; संयोग नहीं।[1] यद्यपि यहाँ केवल रेफ तथा ऊष्म वर्ण के संयोग के स्थल पर ही स्वरभक्ति का विधान है रेफ तथा ऋकार के संयोग में नहीं।

नवाङ्कसूत्र के अनुसार पद के आदि, अन्त अथवा मध्य में विद्यमान रेफ का एकार सहित उच्चारण होता है, यदि उस रेफ से बाद में व्यञ्जन-रहित ऊष्म हो।[2] तात्पर्य यह है कि रेफ से बाद में ऊष्म वर्ण हो तथा उस ऊष्म से बाद में व्यञ्जन न हो अर्थात् स्वर हो तो उस रेफ का उच्चारण एकार सहित होता है। जैसे—दर्शतम् का उच्चारण दरेशतम्, ह्वार्षीत का उच्चारण ह्वारेषीत होता है। ऋ तथा ऌ वर्ण सवर्ण होते हैं।[3] अतः उक्त विधान लकार तथा ऊष्म वर्ण के संयोग स्थल पर भी लागू होता है। इस विधान से लकार के बाद में ऊष्म होने पर लकार का भी उच्चारण एकार सहित "ले" होता है। इसी प्रकार का विधान केशवी शिक्षा में भी किया गया है।[4] लघुमाध्यन्दिनी शि० के अनुसार भी ऊष्मवर्ण बाद में होने पर रेफ का रेकार तथा लकार का लेकार होता है।[5] या० शि० में भी ऐसा ही विधान हुआ है।

---

1. शषसहा यत्र दृश्यन्ते रेफेणाङ्कितमस्तकाः।
   स्वरभक्तिं प्रयुञ्जीत संयोगो नैव कारयेत्॥ (प्रा०प्र०शि० 215, पर उद्धृत)
2. अहल्श्यूर्ध्वरेफस्य रेकारः प्रावचः। (प्रा० प्र० शि० 215)
3. ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्। पा० सू० पर वार्तिक
4. विहल्शल्यूमर्ध्वरेफो यः सेकार प्राक्समुच्चरेत्। (केशवी शिक्षा—4)
5. रेफो रेकारमाप्नोति शषसहेषु परेषु च।
   ददर्श वर्षो अर्हांश्च संयोगं नैव कारयेत्॥
   वर्षन्वष्यन्तिहृदा चात्रेयं प्रत्युदाहृतिः।
   लकारोऽपि सावर्ण्यादिकारसहितो भवेत्॥
   शतवल्शा वल्हामसि तत्र तावदुदाहृतिः॥ (लघुमाध्य० शि० 10–12 पू०)

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्लयजुर्वेदीय सभी शिक्षाओं में स्वरभक्ति के एकार के सदृश माना गया है। रेफ से परवर्ती स्वरभक्ति का रेफ सहित "रे" तथा लकार से परवर्ती स्वरभक्ति का लकार सहित "ले" उच्चारण का विधान हुआ है।

स्वरभक्ति के प्रकार

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में स्वरभक्ति के पाँच प्रकार बतलाये गये हैं—(1) करिणी, (2) कुर्विणी, (3) हरिणी, (4) हरिता तथा (5) हंसपदा। या० शि० तथा स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्टशिक्षा में स्वरभक्ति के इन पाँच प्रकारों का उल्लेख हुआ है तथा उनके लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।[1]

करिणी

करिणी नामक स्वर भक्ति वहाँ होती है जहाँ रेफ तथा हकार का संयोग होता है। अर्थात् जहाँ पहले रेफ तथा बाद में स्वरपर हकार हो तो बीच में आगम के रूप में आये हुए स्वर सदृश को करिणी नामक स्वरभक्ति कहते हैं। यह ऋकार सदृश आगम के रूप में उत्पन्न अर्धमात्रिक ध्वनि परवर्ती हकार से प्रभावित होती है। जैसे—देवम्बर्हिः। यहाँ रेफ से बाद से इकारपर हकार है। यहाँ ऋकार के समान एक अतिरिक्त अर्धमात्रिक ध्वनि का आगम होता है। यह आगम रूप ऋ सदृश ध्वनि करिणी नामक स्वरभक्ति कहलाती है। करिणी नामक स्वरभक्ति का यह लक्षण शुक्लयजुर्वेदीय या० शि० तथा स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्ट में किया गया है।[2]

कुर्विणी

कुर्विणी नामक स्वरभक्ति का लक्षण या० शि० तथा स्व० भ० ल० परि० में दिया गया है। उनके अनुसार लकार तथा हकार के संयोग के स्थल पर कुर्विणी

---

1. करिणी कुर्विणी चैव हरिणी हरिता तथा।
   तद्हंसपदा नाम पञ्चैताः स्वरभक्तयः॥
2. करिणी रह्योर्योगे···। (या० शि० 2/14)
   रकारेण हकारेण संयोगो यत्र दृश्यते।
   करिणी सा तु विज्ञेया बर्हिरसीति दर्शनम्॥
   स्व० भ० ल० परि० शि० (36 उ० 37 पू०)

नामक स्वरभक्ति होती है।[1] तात्पर्य यह है कि जहाँ लकार के बाद में हकार हो वहाँ उन दोनों के बीच में ऌकार सदृश एक अर्धमात्रिक ध्वनि का आगम होता है। यही आगम स्वरूप उत्पन्न ध्वनि कुर्विणी नामक स्वरभक्ति कहलाती है। जैसे—उहवल्हा। यहाँ लकार के बाद में हकार का संयोग है। अतः दोनों के बीच में अर्धमात्रिक ऌकार सदृश ध्वनि का आगम होता है। वही आगम स्वरूप प्राप्त ध्वनि कुर्विणी नामक स्वरभक्ति है।

हरिणी

रेफ तथा शकार का संयोग होने पर हरिणी नामक स्वरभक्ति होती है। जिस संयोग में पहले रेफ तथा बाद में शकार हो तो दोनों के बीच में ऋकार सदृश अर्धमात्रिक ध्वनि का आगम होता है। यह आगम स्वरूप उच्चारित ध्वनि हरिणी कहलाती है। यह हरिणी नामक ऋकार के रूप में प्राप्त स्वरभक्ति परवर्ती शकार से प्रभावित होती है। जैसे—अर्शसा। यहाँ पूर्ववर्ती रेफ तथा परवर्ती शकार के बीच में अर्धमात्रिक ऋकार के सदृश ध्वनि का आगम होता है जो हरिणी नामक स्वरभक्ति का एक उदाहरण है। इस तथ्य का उद्घाटन या० शि० तथा स्वरभक्ति लक्षण परि० शि० में किया गया है।[2]

हरिता

लकार तथा शकार का संयोग होने पर हरिता नामक स्वरभक्ति होती है। जहाँ पूर्व में लकार हो तथा परवर्ती शकार हो तो दोनों के बीच में ऌकार सदृश अर्धमात्रिक ध्वनि का आगम होता है। वह ध्वनि परवर्ती शकार से प्रभावित रहती है। यही परवर्ती शकार से प्रभावित ऌकार स्वरूप स्वरभक्ति हरिता कहलाती है, जैसे—शतवल्शा। यहाँ लकार से बाद में शकार है अतः दोनों के बीच में ऌकार के सदृश एक अर्ध मात्रिक ध्वनि का आगम होता है जो परवर्ती

1. ...कुर्विणी लहकारयोः। (या० शि० 2/14)
लकारस्य हकारेण संयोगो यत्र दृश्यते।
कुर्विणी सा हि विज्ञेया उपवल्हेति पश्यति॥
स्व० भ० ल० परि० 37 उ० त० 8 पू०

2. हरिणी रशयोर्योगे...। (या० शि० 2/14)
रकारस्य शकारेण संयोगो यत्र जायते।
हरिणी सा तु विज्ञेया अर्शसेति निदर्शनम्॥
स्व० भ० ल० परि० 38 उ० 39 पू०

शकार से प्रभावित होती है। वह आगम स्वरूप ध्वनि हरिता नामक स्वरभक्ति कहलाती है। इसका प्रतिपादन या० शि० तथा स्वरभक्ति ल० परि० शि० में किया गया है।[1]

हंसपदा

जहाँ रेफ तथा षकार का संयोग होता है वहाँ हंसपदा नामक स्वरभक्ति होती है। अर्थात् यदि रेफ से बाद में स्वर पर षकार हो तो दोनों के बीच में एक ऋकार सदृश अर्धमात्रिक ध्वनि का आगम होता है। यह आगम परवर्ती षकार से प्रभावित होता है। यही आगम रूप, षकार-प्रभावित अर्धमात्रिक ऋकार सदृश ध्वनि हंसपदा स्वरभक्ति कहलाती है। जैसे—पर षकार-प्रभावित ऋकार सदृश अर्धमात्रिक हंसपदा नामक स्वरभक्ति का आगम होता है। स्वरभक्ति के इस भेद का प्रतिपादन या० शि०[2] तथा स्व० भ० ल० परि० शि० में किया गया है।[3]

स्वरभक्ति के इन दो भेदों को इस प्रकार रखा जा सकता है—

नाम	स्थल	उदाहरण
करिणी	रेफ+हकार	देवम्बर्हिः=देवम्वर् (ऋ) हिः
कुर्विणी	लकार+हकार	उपबल्हा=उपबल् (ऌ) हा
हरिणी	रेफ+शकार	दर्शितम्=दर् (ऋ) शितम्
हरिता	लकार+शकार	शतवल्शः=शतवल् (ऌ) शः
हंसपदा	रेफ+षकार	वर्षीयसि=वर् (ऋ) षीयसि

उल्लेखनीय है कि शुक्लयजुर्वेदीय संहिताओं में रेफ से हकार, शकार तथा षकार का संयोग तथा लकार से शकार एवम् हकार का संयोग स्थल ही उपलब्ध होता है। अतः इन्हीं संयुक्त स्थलों पर उपलब्ध स्वरभक्ति को उपर्युक्त 5 विभागों

---

1. " हरिता लशकारयो ॥ (या० शि० 2/14)
   लकारेण शकारेण संयोगो यत्र जायते।
   तां हरिणी विजानीयाच्छतवल्शेति दर्शनम् ॥
   (स्व० भ० ल० परि० 39 पू० 40 उ०)
2. या तु हंसपदा नाम सातु रेफ सकारयोः। (या० शि० 2/14)
3. रेफस्याथ षकारेण संयोगो यत्र दृश्यते।
   हंसपदेति विज्ञेया वर्षो वर्षीयसीति च ॥
   (स्व० भ० ल० प० शि० 39 उ० 40 पू०)

में विभक्त किया गया है। रेफ से बाद में इनसे अन्य ऊष्म सकार का तथा लकार से बाद में सकार तथा षकार का संयोग स्थल इस संहिता में उपलब्ध नहीं होता। अतः इसका विभाजन इन शिक्षाओं में विहित नहीं है।

स्वरभक्ति का अङ्गत्व

स्वरभक्ति स्वर का अंश होती है जिसका उच्चारण काल आधी मात्रा होता है। आधी मात्रा वाली ध्वनि से किसी भी स्थिति में अक्षर का निर्माण नहीं हो सकता। इस प्रकार स्वरभक्ति का किसी भी स्थिति में स्वतन्त्र अक्षरत्व नहीं हो सकता। अतः उसे स्वराघात के लिए किसी अन्य स्वरवर्ण पर आश्रित रहना पड़ता है। व्यञ्जन के समान स्वर वर्ण पर आश्रित रहने के कारण ही वा० प्रा० के भाष्य में उवट ने स्वरभक्ति को व्यञ्जन माना है जो अर्धमात्रिक ऋ तथा ऌ के सदृश होती है।[1]

स्वरभक्ति के अंगत्व का उल्लेख व० प्र० शि० में किया गया है। इसके अनुसार स्वरभक्ति अपने पूर्ववर्ती स्वरवर्ण का अंग होती है। उल्लेखनीय है कि स्वरभक्ति के रूप में आयी हुई ऋकार अथवा ऌकार सदृश ध्वनि व्यञ्जन के रूप में होती है किन्तु व्यञ्जन का स्वर नहीं होता। वह अपने अंगीभूत स्वरवर्ण के सदृश उदात्तादि स्वर से उच्चारित होता है। स्वरभक्ति का पूर्ववर्ती स्वरवर्ण के सदृश स्वर से उच्चारण करना चाहिए। स्वरभक्ति विषयक इस विधान का प्रतिपादन व० प्र० शि० में किया गया है।[2]

स्वरभक्ति द्वारा द्वित्व निषेधत्व

शिक्षाग्रन्थों में विहित विधानों के अनुसार रेफ से परवर्ती व्यञ्जन का द्वित्व हो जाता है। स्वरभक्ति के स्थल पर भी रेफ से बाद में ऊष्म वर्ण होने पर विधानानुसार ऊष्मवर्णों का द्वित्व प्राप्त होता है किन्तु शुक्लयजुर्वेदसंहिता में स्वरभक्ति से परवर्ती ऊष्मवर्ण का द्वित्व नहीं होता। अतः व० प्र० शि० में स्वरभक्ति के स्थल पर परवर्ती ऊष्म के द्वित्व का निषेध करते हुए कहा गया है कि स्वरभक्ति ऊष्म वर्णों के द्वित्व का निषेधक होती है।[3] अर्थात् जहाँ रेफ से

1. यौ तौ व्यवधायकौ तौ स्वरावुत व्यञ्जनावुत। शृणु ऋऌस्वरसदृशौ व्यञ्जनावर्धमात्रिकाविति ब्रूमः। तौ स्वरभक्तिरित्यन्येषु वेदेषु प्रसिद्धौ
(वा० प्रा० 4/17 पर उवट)
2. स्वरभक्तिश्च पूर्वाङ्गम् देवम्बर्हिरुदाहृतिः। (व० प्र० शि० 49 पू०)
3. ऊष्मणां स्वरभक्तिस्तु द्विर्भावं बाधते यथा। (व० प्र० शि० 52 पू०)

बाद में ऊष्मवर्ण होने पर स्वरभक्ति होती है वहाँ ऊष्मवर्ण का द्वित्व नहीं होता है, जैसे—वर्षः। यहाँ रेफ से बाद में षकार का द्वित्व प्राप्त होता है, अतः इसका उच्चारण वर्ष्षः होना चाहिए जो अनिष्ट है। यहाँ रेफ से बाद में षकार होने पर स्वरभक्ति प्राप्त होती है अतः इस स्वरभक्ति के कारण षकार का उपलब्ध द्वित्व इस विधान से निषिद्ध हो जाता है जिससे अभीष्ट रूप स्वरभक्ति सहित वर (ऋ) षः उपलब्ध होता है :

स्वरभक्ति के उच्चारण में दोष-परिहार

या० शि० के अनुसार स्वरभक्ति के उच्चारण में सम्भावित तीन दोषों का परिहार करना चाहिए—(1) स्वरभक्ति के स्थल पर इकार का उच्चारण नहीं करना चाहिए; (2) स्वरभक्ति के स्थल पर उकार का उच्चारण नहीं करना चाहिए; (3) ग्रस्त दोष का परिहार करना चाहिए।[1] इनमें से दो दोषों के प्रयत्नपूर्वक परिहार का उल्लेख व० प्र० शि० में भी किया गया है—स्वरभक्ति के स्थल पर इकार तथा उकार के उच्चारण का प्रयत्न-पूर्वक त्याग करना चाहिए।[2] अर्थात् स्वरभक्ति के स्थल पर आगमरूप में विहित ध्वनि से अन्य इकार अथवा उकार का उच्चारण नहीं करना चाहिए।

यम

यम संयुक्त-व्यञ्जन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उच्चारण-वैशिष्ट्य है जो ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से अत्यधिक वैज्ञानिक तथा प्राचीन ध्वनिविदों की सूक्ष्म-दृष्टि का परिचायक है। यम का विधान प्रायः सभी प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

यम का अर्थ

यम शब्द नियन्त्रण करना अर्थ वाली यम् धातु से अच् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है—नियन्त्रण। इसमें अननुनासिक स्पर्श

---

1. स्वरभक्तिप्रयुञ्जानस्त्रीन्दोषान् परिवर्जयेत्।
इकारं चाप्युकारं च ग्रस्तदोषं तथैव च॥
(या० शि० 2/17)

2. इकारे च तथोकारे तां यत्नेन विवर्जयेत्।
(व० प्र० शि० 49 उ०)

तथा अनुनासिक स्पर्श के संयुक्तोच्चारण में दोनों वर्णों के बीच में एक नासिक्य ध्वनि का आगमन हो जाता है जिसके कारण पूर्ववर्ती अननुनासिक स्पर्श परवर्ती अनुनासिक स्पर्श के साथ संयुक्त होने से नियन्त्रित हो जाता है। वा० प्रा० में यम के लिए विच्छेद संज्ञा का प्रयोग किया गया है। विच्छेद का शाब्दिक अर्थ है—अलग होना। जब अननुनासिक स्पर्श तथा अनुनासिक स्पर्श के मध्य में नासिक्य ध्वनि आ जाती है तो इसके आने से पूर्ववर्ती अननुनासिक तथा परवर्ती अनुनासिक स्पर्श का संयोग विच्छिन्न हो जाता है। वा० प्रा० के भाष्यकार उवट तथा अनन्त ने विच्छेद को यम का पर्याय माना है।[1]

ह्विटनी आदि प्राचीन विद्वानों ने यम का अर्थ-युग्म (=जोड़ा) किया है। इसके अनुसार यम की प्रक्रिया में पूर्ववर्ती ध्वनि अपने स्वरूप का एक जोड़ा बना लेती है। उस जोड़े में द्वितीय अर्थात् अनुनासिक स्पर्श से अव्यवहित पूर्ववर्ती उच्चारित होने वाली ध्वनि ही यम कहलाती है। इसी तथ्य का समर्थन व० प्र० शि० में भी किया गया है।[2]

यम का स्वरूप

अननुनासिक स्पर्श से वाद में यदि अनुनासिक स्पर्श का संयोग हो तो दोनों के मध्य में एक नासिक्य ध्वनि आ जाती है। यही आयी हुई ध्वनि यम कहलाती है। शुक्ल यजुर्वेदीय वा० प्रा० में यम को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि पद के मध्य में पञ्चम स्पर्श बाद में होने पर अपञ्चम स्पर्श विच्छेद (यम) को प्राप्त करता है।[3] अर्थात् वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ स्पर्श से बाद में यदि पञ्चम स्पर्श हो तो पूर्ववर्ती अपञ्चम स्पर्श यम को प्राप्त करता है। इस सन्दर्भ में भाष्यकार उवट द्वारा उद्धृत उदाहरण के स्पष्टीकरण के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि पञ्चम स्पर्श से पूर्ववर्ती अपञ्चम स्पर्श का द्वित्व होने पर क्रमज से परवर्ती अपन्चम स्पर्श यम को प्राप्त करता है। जैसे—रुक्क्मं (वा० सं० 12/1)।

---

1. विच्छेदो यम इत्यनर्थान्तरम्। (वा० प्रा० 4/162 पर उवट)
   विच्छेदो यम इति पर्यायः। (वा० प्रा० 4/163 पर अनन्त)
2. स्वरात् संयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जातो द्वितीयकः।
   तस्यैव यम संज्ञ स्यात् पञ्चमैरन्वितो यदि ॥
   (व० प्र० शि० 175 उ० 176 पू०)
3. अन्तःपदे पञ्चमः पञ्चमेषु विच्छेदम् (वा० प्रा० 4/161)

यहाँ अपञ्चम स्पर्श ककार से बाद में पञ्चम स्पर्श मकार है। भाष्यकार उवट के अनुसार 'स्वरात् संयोगादि वा० प्रा० 4/99 से ककार का द्वित्व होने के बाद प्रस्तुत यम विषयक विधान से द्वितीय ककार को यम की प्राप्ति होती है।[1] यह यम प्राप्ति रूप कार्य पद के मध्य में होता है। द्वित्व के अभाव में यम की प्राप्ति नहीं होती है। जैसे—त्मन्या (वा० सं० 20/45)। यहाँ तकार के बाद में मकार है किन्तु इस संयोग के पूर्व में स्वर न होने के कारण तकार को द्वित्व नहीं हुआ है अतः यहाँ तकार को यम की प्राप्ति नहीं हुई है। या० शि० में भी यम-विषयक विधान करते हुए कहा गया है कि एक पद में विद्यमान अपञ्चम स्पर्श से बाद में पञ्चम स्पर्श होने पर यम उत्पन्न होता है।[2] अर्थात् यदि वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ स्पर्श से बाद में वर्गों के पञ्चम स्पर्श हों तो दोनों के मध्य में यम-स्वरूप नासिक्य-ध्वनि का आगम हो जाता है।

वर्णरत्नप्रदीप शि० के अनुसार भी अपञ्चम स्पर्श से बाद में पञ्चम स्पर्श होने पर यम की उत्पत्ति होती है।[3] वहीं पर कहा गया है कि यदि स्वर से बाद में संयोग से पूर्ववर्ती वर्ण के द्वित्व से उत्पन्न वर्ण में जो दूसरा है वह यम संज्ञक होता है यदि उस दूसरे से बाद में पञ्चम स्पर्श हो।[3] तात्पर्य यह है कि यदि स्वर से बाद में स्पर्श वर्णों का संयोग हो तथा उस संयोग में प्रथम वर्ण अपञ्चम स्पर्श तथा द्वितीय वर्ण पञ्चम स्पर्श हो तो प्रथम स्पर्श का द्वित्व होता है। इस द्वित्व क्रम से उत्पन्न दूसरा वर्ण यम कहलाता है जैसे—रुक्क्मँ में स्वर उकार से बाद में ककार तथा मकार का संयोग है। संयोग में ककार का द्वित्व हुआ है। यहाँ इस द्वित्व में जो दूसरा ककार है वह यम कहलाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अपञ्चमत था पञ्चम स्पर्श के संयोग स्थल पर दोनों के बीच में पूर्ववर्ती अपञ्चम स्पर्श के स्थान वाली एक नासिक्य ध्वनि आ जाती है जो यम कहलाती है।

प्रा० प्र० शि० में भी यम के लिए विच्छेद संज्ञा का प्रयोग किया गया

---

1. अत्र स्वरात्संयोगादि (वा० प्रा० 4/99) इत्यादिना ककारस्य द्विर्भावे कृतेऽनेन सूत्रेण द्वितीयस्य ककारस्य।
2. अपञ्चमैश्चैकपदे संयुक्तं पञ्चमाक्षरम्।
उत्पद्यते यमस्तत्र सोऽङ्गम् पूर्वाक्षरस्य हि॥ (या० शि० 2/94)
3. स्वरात्संयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जातो द्वितीयकः।
तस्येव यमसंज्ञा स्यात् पञ्चमैरन्वितो यदि॥
(व० प्र० शि० 175 उ० 176 पू०)

है।[1] इसके अनुसार अननुनासिक स्पर्श के बाद अनुनासिक स्पर्श का संयोग होने पर विच्छेद हो जाता है। वहीं पर कहा गया है कि विच्छेद यम की ही संज्ञा है।[2] इससे स्पष्ट होता है कि इसके मत में भी अननुनासिक तथा अनुनासिक स्पर्श के संयोग स्थल पर दोनों के बीच में आयी हुई ध्वनि यम कहलाती है।

यम का ध्वनि-वैज्ञानिक आधार

यम का उच्चारण स्वाभाविक है। यह प्रयत्नपूर्वक किया नहीं जाता प्रत्युत स्वयं ही उच्चारित हो जाता है। यम के ध्वनि-वैज्ञानिक आधार को समझने के लिए यम के स्थल पर संयुक्त पूर्ववर्ती अननुनासिक स्पर्श तथा परवर्ती अनुनासिक स्पर्श के उच्चारण-प्रक्रिया पर ध्यान देना आवश्यक है। स्पर्श वर्णों के संयोग में जब अननुनासिक स्पर्श के उच्चारण के बाद अनुनासिक स्पर्श का उच्चारण किया जाता है तब इस उच्चारण-प्रक्रिया में कई क्रियायें सम्पन्न होती हैं; सर्वप्रथम अननुनासिक स्पर्श के उच्चारण में स्वरयन्त्र पर स्वरतन्त्रियों द्वारा नाद अथवा श्वास रूप में विकृत वायु मुख में आती है तो वहाँ उच्चारण स्थान पर करण का स्पर्श हो जाता है जिससे वायु का अवरोध हो जाता है। इस अवरोध की स्थिति में ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। पुनः जब परवर्ती अनुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए प्रयत्न किया जाता है तब पूर्ववर्ती अननुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए अवरुद्ध वायु को स्फुटित होकर बाहर आने का अवसर प्राप्त होता है क्योंकि किसी स्पर्श वर्ण के लिए किए गये प्रयत्न द्वारा अवरुद्ध वायु का स्फोटन तभी हो पाता है जब उसके बाद किसी ऐसी ध्वनि का उच्चारण किया जाय जिसके उच्चारण में वायु निरन्तर बाहर निकलती रहे। अर्थात् जिसके उच्चारण में वायु का अवरोध न हो रहा हो। अनुनासिक ध्वनि के उच्चारण में कुछ वायु तो स्थान पर करण के स्पर्श द्वारा विकृत होती है तथा कुछ वायु नासिका-विवर से निकलती रहती है। इस प्रकार अनुनासिक स्पर्श के उच्चारण में मुख में आयी हुई वायु को विकृत करने के लिए करण का स्थान पर स्पर्श होता है किन्तु इस स्पर्शकाल से पूर्व ही कोमल तालु नीचे झुक जाता है जिससे वायु उच्चारणावयवों के स्पर्श-काल में भी नासिका-विवर से बाहर निकलती रहती है। इस प्रकार प्रथमतः संयोग के प्रथम वर्ण अपञ्चमस्पर्श के उच्चारण के लिए किये गये स्पर्श से

1. अन्तःपदे पञ्चमाह पञ्चमेषु विच्छेदम् ॥

(शि० सं० पृ० 252, प्रा० प्र० शि०)

2. विच्छेद इतीयम् यम संज्ञा। (शि० सं० पृ० 252, प्रा० प्र० शि०)

बाद जब संयोग के द्वितीय व्यञ्जन पञ्चम स्पर्श के उच्चारण के लिए प्रयत्न किया जाता है तो अनुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए स्पर्श होने के पूर्व ही अननुनासिक स्पर्श के लिए किये गये प्रयत्न द्वारा अवरुद्ध वायु नासिका-विवर से निकलने लगती है। चूँकि अवरुद्ध वायु अननुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए मुख में आयी थी तथा इसी वायु के स्फोटन हो जाने से अननुनासिक स्पर्श का पूर्ण उच्चारण भी सम्भव हो जाता है। अतः जब अनुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए द्वितीय प्रयत्न की अवस्था में वायु को नासिका द्वारा स्फुटित होने का अवसर मिल जाता है तब पूर्ववर्ती स्पर्श का पूर्ण उच्चारण हो जाता है किन्तु नासिका-विवर द्वारा वायु के निकलने से पूर्ववर्ती अननुनासिक वर्ण के बाद के पूर्ववर्ती के समान स्थान वाली एक अतिरिक्त नासिक्य ध्वनि भी उत्पन्न हो जाती है जिसे यम कहा जाता है। जैसे—प्रत्त्ँनथा। यहाँ अननुनासिक स्पर्श तकार तथा अनुनासिक स्पर्श नकार का संयोग है। यहाँ पहले तकार के उच्चारण के लिए जिह्वाग्र का दाँतों पर स्पर्श होता है जिससे वायु अवरुद्ध हो जाती है। इस अवरोध के तुरन्त बाद नकार के उच्चारण के लिए जिह्वाग्र का पुनः दन्त पर स्पर्श करने के लिए तैयार होते ही स्वर-यन्त्र पर स्वर-तन्त्रियों द्वारा विकृत नाद नामक वायु नासिका-विवर से निकलने लगती है तथा जिह्वाग्र का पुनः नकार के उच्चारण के लिए दन्त पर स्पर्श होता है। इस स्पर्श के पूर्व ही वायु के नासिका-विवर से निकलने के कारण तकार के सस्थानीय एक नासिक्य ध्वनि भी उच्चारित हो जाती है। तब फिर स्पर्श के बाद नकार का उच्चारण होता है। इस प्रकार नकार के उच्चारण के पूर्व उच्चारित नासिक्य ध्वनि को यम कहा जाता है।

कतिपय आधुनिक ध्वनि-वेत्ताओं के अनुसार अननुनासिक तथा अनुनासिक स्पर्श के संयोग के स्थल पर संयुक्त प्रथम व्यञ्जन अननुनासिक स्पर्श में ही नासिक्य गुण आ जाता है। इस प्रकार वह अननुसासिक स्पर्श ही यम हो जाता है किन्तु उनका यह मत संगत प्रतीत नहीं होता। संयोग के इस स्थल पर संयुक्त अननुनासिक स्पर्श के बाद अनुनासिक स्पर्श की उच्चारण-प्रक्रिया पर सूक्ष्म अनुशीलन से प्रतीत होता है कि यहाँ दोनों स्पर्शों के बीच में पूर्ववर्ती स्पर्श वर्ण के समान एक अतिरिक्त नासिक्य ध्वनि का उच्चारण हो जाता है ज़िसे यम कहा जाता है। जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है।

यमों की संख्या

प्रायः सभी प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में चार यमों का ही निर्देश है—कुँ खुँ गुँ तथा घुँ।[1] इनमें यमों की चार संख्या का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि यमों के स्वरूप का परिशीलन करने से प्रतीत होता है कि यमों की कुल संख्या बीस है क्योंकि अननुनासिक स्पर्शों की संख्या बीस है—क्, ख्, ग्, घ्, च्, छ्, ज्, झ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, त्, थ्, ध्, प्, फ्, ब्, तथा भ्। यम अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती दोनों स्पर्श वर्णों से प्रभावित नासिक्य ध्वनि है। इस प्रकार प्रत्येक अपञ्चम स्पर्श से बाद में पञ्चम स्पर्श होने पर क्रमशः उत्पन्न यमों के स्वरूप में भेद होना स्वाभाविक है। ककार के बाद में उत्पन्न यम ध्वनि में अघोषता अल्पप्राणता तथा खकार के बाद उत्पन्न यम ध्वनि में अघोषता और महाप्राणता होती है। इसी प्रकार गकार के बाद उत्पन्न यम ध्वनि में सघोषता अल्पप्राणता तथा घकार बाद वाली यम ध्वनि में सघोषता महाप्राणता होती है। इस प्रकार के प्रत्येक अननुनासिक स्पर्श के बाद आयी हुई यम ध्वनि में सघोषता अल्पप्राणता महाप्राणता अथवा उच्चारण स्थान करण का भेद अवश्य होता है। इस प्रकार अपञ्चम स्पर्श से बाद उत्पन्न यम ध्वनि बीस प्रकार की होती है। इस प्रकार यमों की संख्या बीस निश्चित होती है।

वस्तुतः शिक्षाकारों ने इन बीस यमों को अघोष अल्पप्राणत्व, अघोष महाप्राणत्व, सघोष अल्पप्राणत्व तथा सघोष महाप्राणत्व के आधार पर चार भागों में विभाजित करके उनकी चार संख्या का निर्देश किया है। इस प्रकार वे चार यम अपने समूह के द्योतक हैं। कुँ, क च ट त प से परवर्ती अघोष अल्पप्राण यम कँ, चँ, टँ, तँ, पँ,—इन पाँच यमों का प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार खुँ अघोष महाप्राण यम खँ छँ ठँ थँ फँ का, गुँ सघोष अल्पप्राण गँ जँ डँ दँ बँ का तथा घुँ सघोष महाप्राण घँ झँ ढँ धँ भँ का बोधक है। इस प्रकार इन चार यमों को निम्नरूपेण समझा जा सकता है :—

---

1. ...चत्वारो ये यमाः स्मृताः। (व० प्र० शि० 176 उ०)
त्रयस्त्रिंशद्धसावर्णाः स्वराः द्वाविंशतिर्यमाः।
चत्वारश्च विसर्गोऽनुस्वार ≍क≍ पास्त्रिषष्ठिका ॥
षो० श्लो० शि० 2 (द्रष्टव्य—या० शि० 2/98)
स्पर्शानां पञ्चमैर्योगे चत्वारश्च यमाः स्मृताः।
(व० प्र० शि० 114 पू०)

(1) कुँ से बोधित अघोष अल्पप्राण यम = कँ्, चँ्, टँ्, तँ्, पँ्।
(2) खुँ से बोधित अघोष महाप्राण यम = खँ, छँ्, ठँ्, थँ्, फँ्।
(3) गुँ से बोधित सघोष अल्पप्राण यम = गँ्, जँ्, डँ्, दँ् बँ्।
(4) घुँ से बोधित सघोष महाप्राण यम = घँ्, झँ्, ढँ्, धँ् भँ्।

यम का निषेध

व० प्र० शि० में कतिपय स्थलों पर यम के निषेध का प्रतिपादन किया गया है। उसके अनुसार ऊष्म वर्ण मध्य में होने पर यम का निषेध होता है।[1] "पाशेस्त्मन्या" को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि अनुनासिक स्पर्श में होने पर जिस पूर्ववर्ती अननुनासिक स्पर्श से बाद में यम होता है उस अननुनासिक स्पर्श से पहले ऊष्म वर्ण होने पर यम नहीं होता। जैसे—पाशँस्त्मया" में पूर्ववर्ती तकार तथा परवर्ती मकार के संयोग स्थल पर यम की प्राप्ति होती है किन्तु उस तकार से पूर्व में ऊष्म वर्ण सकार होने से यम का निषेध हो जाता है।

वा० प्रा० के अनुसार भी ऊष्म वर्णों से बाद में पञ्चम स्पर्श होने पर यमापत्ति करना दोष है।[2] इस सूत्र पर भाष्य में उवट का कहना है कि ऊष्म से परवर्ती पञ्चम स्पर्श का द्वित्व होने पर प्रथम स्पर्श के बाद यम की प्राप्ति सम्भव है; जो दोष है।[3] जैसे—पृश्न्निः। यहाँ ऊष्म शकार से परवर्ती नकार का द्वित्व प्राप्त होता है। यहाँ क्रमज नकार के द्वित्व की यम प्राप्ति सम्भव है। अतः इस क्रमज नकार का यम सहित उच्चारण करना दोष पूर्ण है। अतः यहाँ यम का उच्चारण न करके यम-रहित उच्चारण करना चाहिए। या० शि० के अनुसार यदि पञ्चम स्पर्श शकार, षकार, सकार अथवा अन्तःस्थ वर्णों से संयुक्त हो तो वहाँ यम का उसी प्रकार निवारण करना चाहिए जैसे वान्धवजन मृतशरीर को श्मशान में त्याग देते हैं।[4] तात्पर्य यह है कि संयोग स्थल पर ऊष्म अथवा

1. यमास्तदा निवर्तन्ते ऊष्मामध्ये भवेद्यदि।
(व० प्र० शि० 177 उ०)
2. ऊष्मभ्यः पञ्चमेषु यमापत्तिर्दोषः (वा० प्रा० 4/164)
3. ऊष्मभ्यः परेषु पञ्चमेषु "ऊष्मान्तःस्थाभ्यश्च स्पर्शे"; इत्यनेन सूत्रेण पञ्चमानां स्पर्शानां द्विरुक्तकृतायां प्रथमानां स्पर्शानां यमापत्तिः सम्भवति स चात्र दोषः। (वा० प्रा० 4/164 पर उवट भा०)
4. अपञ्चमाः शषसैर्युक्ता अन्तःस्थैर्वापि संयुताः।
यमास्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादिव बान्धवाः॥ (या० शि० 2/95)

अन्तःस्थ वर्णों के बाद में पञ्चम संयुक्त हों तो वहाँ यम का निवारण हो जाता है, जैसे—पृश्नः। मा० शि० के अनुसार भी ऊष्म तथा पञ्चम स्पर्श के संयोग स्थल पर यम का निवारण हो जाता है।[1]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पूर्ववर्ती अपञ्चम तथा परवर्ती पञ्चम स्पर्श के संयोग के बीच में ही यम की उत्पत्ति होती है। यदि अपञ्चम स्पर्श के स्थान पर ऊष्म अथवा अन्तःस्थ वर्ण पूर्व में तथा पञ्चम स्पर्श बाद में हों तो उन दोनों के बीच में यम का निषेध हो जाता है।

यम का अङ्गत्व

यम व्यञ्जन है। प्रत्येक व्यञ्जन का उच्चारण अपने अङ्गी स्वर-वर्ण के समान स्वर में होता है। यम भी व्यञ्जन होने के कारण अपने अङ्गी स्वरवर्ण के समान स्वर से उच्चारित होता है। यम के अङ्गी स्वर वर्ण का विधान शिक्षा-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। व० प्र० शि० के अनुसार संयोग का प्रथम वर्ण अपने पूर्ववर्ती स्वरवर्ण का अङ्ग होता है तथा यम उसके विपरीत होता है।[2] अर्थात् यम अपने परवर्ती स्वर वर्ण का अङ्ग होता है जैसे—रुक्कँ्म। यहाँ ककार यम तथा मकार का संयोग है जिसमें संयोग का आदि व्यञ्जन ककार अपने पूर्ववर्ती स्वर वर्ण उकार का अङ्ग है किन्तु यम (कुँ) तथा उसके बाद स्थित मकार अपने परवर्ती स्वर अकार के अङ्ग हैं। इस प्रकार यम का उच्चारण परवर्ती स्वर वर्ण के स्वर से होता है किन्तु वा० प्रा० में यम के अंगी स्वर के विषय में इसके विपरीत विधान किया गया है। उसके अनुसार यम पूर्ववर्ती स्वर का अंग होता है।[3] इस विधान के अनुसार रुक्कँ्म में ककार तथा यम अपने पूर्ववर्ती स्वर उकार के अङ्ग हैं।

यम के उच्चारण में स्थान तथा करण

प्रायः शिक्षाग्रन्थों में यम को नासिक्य ध्वनि माना गया है। नासिक्य ध्वनि के उच्चारण में नासिका ही उच्चारण स्थान तथा करण का कार्य करती है। इस प्रकार यम का उच्चारण स्थान तथा करण दोनों ही नासिका को स्वीकार

---

1. वर्गान्ताः यन्न दृश्यन्ते शषसैः सह संयुताः।
   यमास्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादिव बान्धवाः॥ (मा० शि० 5/11)
2. संयोगादिश्च पूर्वाङ्गं यमश्चेति विरोधकृत।
   (व० प्र० शि० 103 उ०)
3. यमश्च (वा० प्रा० 1/103)

किया गया है। व० प्र० शि० के अनुसार यम तथा अनुस्वार नासिका से उत्पन्न होते हैं।[1] इसमें नासिका से उत्पन्न वर्णों के स्थान तथा करण के समान होने का विधान किया गया है।[2] इससे स्पष्ट है कि इसके मत में यमों का उच्चारण-'स्थान तथा करण दोनों का नासिका है किन्तु यम के स्वरूप-विषयक विधानों से यह स्पष्ट होता है कि उसका उच्चारण केवल नासिका से नहीं होता। जैसा कि या० शि० के शिक्षावल्ली भाष्य में स्पष्ट कहा गया है कि यम का उच्चारण नासिका के साथ-साथ पूर्ववर्ती अपञ्चम स्पर्श के उच्चारण स्थान से भी होता है।[3] तात्पर्य यह है कि जिस अननुनासिक स्पर्श के बाद यम की उत्पत्ति होती है, उस यम के उच्चारण में नासिका के साथ-साथ पूर्ववर्ती वर्ण के उच्चारण-स्थान का प्रयोग होता है। जैसे—रुक्क्ँम—यहाँ ककार तथा मकार के संयोग-स्थल पर यम का उच्चारण होता है। इस क्ँ रूप यम का उच्चारण नासिका के साथ-साथ ककार के उच्चारण-स्थान कण्ठ से भी होता है। षो० श्लो० शि० में यम के द्विस्थानीय होने का विधान किया गया है।[4]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि यम का उच्चारण दो स्थानों से होता है—(1) संयोग में पूर्ववर्ती अननुनासिक स्पर्श के समान स्थान से तथा साथ ही (2) नासिका-मूल से। अपञ्चम पूर्व वाला स्पर्श जिस स्थान तथा करण वाला होगा उस स्थान तथा करण से यम का उच्चारण होता है। साथ ही वायु के नासिका से निकलने के कारण नासिका-विवर में भी उसका विकार होता है। अतः पूर्व वाले स्पर्श के स्थान के साथ-साथ नासिका भी स्थान के रूप में प्रयुक्त होती है। वस्तुतः यम स्थल में संयुक्त व्यञ्जन के उच्चारण में यम पूर्ववर्ती अननुनासिक तथा परवर्ती अनुनासिक दोनों स्पर्श ध्वनियों से प्रभावित होता है जिससे उसके उच्चारण में पूर्ववर्ती तथा परवर्ती दोनों के उच्चारण-स्थानों तथा करणों का उपयोग होता है।

---

1. यमानुस्वारनासिक्याः नासामूलभवाः दश। (व० प्र० शि० 34 पू०)
2. समानस्थानकरणनासिक्यौष्ठ्याः प्रकीर्तिताः। (व० प्र० शि० 32 पू०)।
3. तथा हि······नासिकामूलकरणेनाधिकेन संस्कृतो वायुः नासिका सह-कृते स्वस्ववर्गीयस्थाने यमाभिख्यां भजते। (या० शि० शिक्षावल्ली प० 155)
4. वो दन्तोष्ठं यमस्यापि नासिका यमयुग्धरः।
(षो० श्लो० शि० 12 प०)

द्वित्व

परिस्थिति विशेष में जब किसी व्यञ्जन के पूर्व उसी व्यञ्जन का दो बार उच्चारण होता है तब इस दो बार उच्चारण को द्वित्व कहा जाता है। यह भी संयुक्त व्यञ्जनों का उच्चारण-विषयक वैशिष्ट्य है। संयुक्त व्यञ्जनों के उच्चारण-विषयक वैशिष्ट्य में द्वित्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके लिए शिक्षा-ग्रन्थों में क्रम, द्विरुक्ति, द्विर्भाव, यम इत्यादि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसके फलस्वरूप उत्पन्न वर्ण को द्वित्वज, क्रमज, द्विरुक्तिज इत्यादि कहा जाता है। द्वित्व का विधान प्रायः शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षा-ग्रन्थों में किया गया है।

द्वित्व के स्थल

शिक्षा-ग्रन्थों में द्वित्व होने के स्थलों का बहुत सूक्ष्म तथा ध्वनि-वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इनमें अग्रवर्ती स्थलों पर द्वित्व होता है—

(1) संयोगादि वर्ण का द्वित्व

संयोग-स्थल पर स्वर पूर्व में होने पर संयोग का प्रथम व्यञ्जन द्वित्व को प्राप्त करता है। व० प्र० शि० के अनुसार स्वर से बाद में स्थित संयोगादि वर्ण का द्वित्व होता है। यह द्वित्व पदान्त तथा पदादि में तथा पद के मध्य में होता है।[1] जैसे—पदान्त में—अनुष्टुप्+शारदी=अनुष्टुप्प्शारदी। यहाँ स्वर में परवर्ती पकार है, उसके बाद शकार है। संहिता के परिणामस्वरूप पकार तथा शकार का संयोग होने पर पदादि पकार का दो बार उच्चारण होता है। पद के मध्य में—जैसे—अश्वः। यहाँ स्वर वर्ण अकार के बाद में शकार तथा बकार का संयोग है अतः संयोगादि शकार का दो बार उच्चारण होता है।

स्वराष्टक शि० में भी स्वर से परवर्ती संयोगादि वर्ण के दित्व का विधान करते हुए कहा गया है कि स्वर से परवर्ती संयोग का आदि वर्ण द्वित्व को प्राप्त करता है।[2] जैसे—इसे त्वा=इषे त्त्वा। यहाँ स्वर एकार से बाद में तकार तथा वकार का संयोग है। अतः संयोग का आदि वर्ण द्वित्व को प्राप्त कर लेता है।

---

1. संयोगादिः स्वराद्द्वित्वं प्राप्नोतीति विदुर्बुधाः।
तत्पदान्तपदाद्योर्वा पदमध्ये तु सर्वतः॥ (व० प्र० शि० 147 पू० 148 उ०)
2. स्वरपरसंयोगाद्विः (व० प्र० शि० 15)।

(2) रेफ इकार से परवर्ती व्यञ्जन का द्वित्व

व० प्र० शि० के अनुसार रेफ तथा वकार से वाद में ऊष्म से अन्य व्लञ्जन होने पर उनका द्वित्व हो जाता है।[1] तात्पर्य यह है कि यदि स्वरपर रेफ तथा यकार से वाद में व्यञ्जन हो तों उस व्यञ्जन का द्वित्व हो जाता है किन्तु ऊष्म का वर्ण का द्वित्व नहीं होता जैसे—(1) सूर्य्यः, (2) सर्व्वेभ्यः। इन दोनों उदाहरणों में स्वरपर रेफ से बाद में क्रमशः यकार तथा वकार है। जो प्रस्तुत विधान के अनुसार द्वित्व को प्राप्त करता है। स्वराष्टक शि० के अनुसार भी रेफ तथा हकार से परवर्ती व्यञ्जन द्वित्व को प्रात्त करता है[2]। जैसे—बाह्यम्। यहाँ स्वर पर हकार से वाद में यकार है अतः प्रस्तुत विधान के अनुसार हकार से परवर्ती यकार का द्वित्व हो गया है।

उल्लेखनीय है कि द्वित्व-विषयक यह विधान संयोगादि व्यञ्जन के द्वित्व का निवारक है। उक्त विधान के अनुसार पूर्ववर्ती रेफ अथवा हकार तथा परवर्ती व्यञ्जन के संयोग के स्थल पर संयोगादि व्यञ्जन होने के कारण रेफ तथा हकार का ही दित्व प्राप्त होता है जिससे सूर्र्यः रूप वनता; किन्तु यह रूप अनिष्ट है। अतः इस अनिष्ट रूप के निवारण के लिए प्रस्तुत विधान का प्रतिपादन किया गया है। इस विधान से अनिष्ट रूप का निवारण तथा अभीष्ट रूप सूर्य्यः की प्राप्ति हो जाती है।

अपवाद

व० प्र० शि० के अनुसार रेफ से बाद में स्वरपर ऊष्म होने पर उस ऊष्म वर्ण का द्वित्व नहीं होता, जैसे—अर्शसदुपचित, वर्षः, वर्षीयसि, सहस्रशीर्षा, पुरुषः तथा देवम्बर्हिः।[3] यहाँ स्वर से परवर्ती रेफ के बाद में क्रमशः शकार, षकार, षकार, शकार तथा हकार है अतः प्रस्तुत विधान के अनुसार रेफ से परवर्ती इन वर्णो का द्वित्व नहीं होता।

---

1. परं रेफहकाराभ्यां व्यञ्जनं तूष्मवर्जितम्॥
   द्वित्वमापद्यते रेफहकारौ तु न कुत्रचित्॥
   (व० प्र० शि० 150 उ० 151 पू०)
2. रहाभ्यां परः। (व० प्र० शि० 16)
3. ऊष्माणो रेफसङ्क्रान्ता न द्विः स्यात् स्वरोदयाः।
   यथार्शसदुपचिता वर्षों वर्षीयसीति च॥
   सहस्रशीर्षा पुरुषः देवम्बर्हिर्यथा स्मृतम्। (व० प्र० शि० 152, 153 पू०)

उल्लेखनीय है कि रेफ से बाद में ऊष्मवर्ण होने पर दोनों के बीच में स्वर-भक्ति होती है। अतः उपर्युक्त उदाहरणों का उच्चारण अर् (ऋ) शसद, वर् (ऋ) षः वर् (ऋ) षीयसि, शीर् (ऋ) षा, बर् (ऋ) हिः होता है। जहाँ स्वरभक्ति होती है उस स्थल पर द्वित्व नहीं होता है। अतः यह विधान द्वित्व-निवारक तथा स्वरभक्ति-प्रतिपादक है।

अपवाद का अपवाद

उपर्युक्त द्वित्व निवारक विधान में कहा गया है कि रेफ से बाद में स्वर है जिसके ऐसा ऊष्म होने पर ऊष्म वर्ण का द्वित्व नहीं होता किन्तु रेफ से परवर्ती ऊष्म के बाद में यदि अन्तःस्थ वर्ण हो तो वष्य्र्याय, तथा पाश्यर्व्यम् में रेफ से परवर्ती ऊष्म वर्ण का द्वित्व हो जाता है[1]। जैसे—वष्य्र्याय तथा पाश्र्व्यम्। यहाँ उक्त विधान के अनुसार ऊष्म वर्ण क्रमशः षकार तथा शकार का द्वित्व हो गया है।

ऊष्मान्तःस्थ-पर स्पर्श का द्वित्व

व० प्र० शि० के अनुसार ऊष्म तथा अन्तस्थ से परवर्ती स्पर्श वर्ण का द्वित्व हो जाता है, जैसे—अस्म्मन्, सस्न्नितम्. धिष्ण्ण्या, राष्ट्ट्रम्। यहाँ शकार, नकार, षकार तथा षकार से परवर्ती स्पर्श वर्ण क्रमशः मकार, नकार, णकार तथा टकार का द्वित्व हो गया है। यकार से बाद में स्पर्श वर्णसंयोग कहीं उपलब्ध नहीं होता। लकार तथा स्पर्श के संयोग का उदाहरण शाल्म्मलिः, वकार तथा स्पर्श के संयोग का उदाहरण दधिक्राव्ण्णः तथा पुरुराव्ण्णः है।[2] इन तीनों में क्रमशः लकार, वकार तथा वकार से बाद में क्रमशः मकार, णकार तथा णकार का संयोग है। प्रस्तुत विधान के अनुसार परवर्ती स्पर्श वर्णों का द्वित्व हो गया है।

---

1. अन्तःस्थाभिर्यदा युक्ता ऊष्माणो रेफपूर्वकाः।
वष्य्र्याय वान्तः पाश्श्व्यंञ्च द्वित्वं भजन्ति ते॥
(व० प्र० शि० 153 उ०, 154 पू०)

2. यकाराद् स्पर्शसंयोगो नोपलभ्यते कुत्रचित्।
शाल्म्मलिश्च दधिक्राव्ण्णः पुरुराव्ण्णस्तथैव च॥
(व० प्र० शि० 155 उ०, 156 पू०)

अपवाद

(8) व० प्र० शि० के अनुसार यदि अस्वरपूर्व ऊष्म अथवा अन्तःस्था से बाद में स्पर्श हो तो उस परवर्ती स्पर्श का द्वित्व नहीं होता ।[1] तात्पर्य यह है कि ऊष्म अथवा अन्तःस्थ से पूर्व में कोई स्वर वर्ण हो । पूर्व में स्वर वर्ण न होने पर ऊष्म अथवा अन्तःस्थ से परवर्ती स्पर्श का द्वित्व नहीं होता । जैसे—स्थालिभिः, स्कम्भनीः । इन दोनों उदाहरणों में सकार के बाद में क्रमशः थकार तथा ककार का संयोग है किन्तु उस ऊष्म वर्ण सकार के पहले स्वर वर्ण न होने के कारण दोनों स्थलों पर क्रमशः ककार तथा वकार का द्वित्व नहीं हुआ है ।

(2) यदि ऊष्म वर्ण से पहले स्पर्श हो तो उस ऊष्म से पूर्व वाले स्पर्श का द्वित्व नहीं होता और न बाद वाले स्पर्श का ही होता है—ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं[2] । जैसे—पक्ष्माणि (=पक्ष्मणि), सुक्ष्मा (=सुक्ष्मा), विश्वप्स्न्या । यहाँ प्रथम तथा द्वितीय उदाहरण में सकार से पूर्व में पकार तथा बाद में नकार का संयोग है । इनमें ऊष्म के दोनों और स्पर्श वर्ण होने से ऊष्म से पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती किसी भी स्पर्श का द्वित्व नहीं हुआ है ।

जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय से परवर्ती स्पर्श का द्वित्व

व० प्र० शि० के अनुसार जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय से परवर्ती स्पर्श द्वित्व को प्राप्त करता है ।[3] जैसे—वसुः + कविः = वसुष्ककविः, द्यौः + पिता =

---

1. यदि वास्वरपूर्वा स्युरुष्मान्तःस्था न तत्परः ।
स्पर्शो द्वित्वमाप्नोति स्थालिभिरियः स्कम्भनीः ॥
(व० प्र० शि० 156 उ० 157 पू०)

2. यत्र चोभयतः स्पर्शैः संयुक्ता सषसा सहाः ।
तत्र नाद्यः क्रमो ज्ञेयो नापरो बोधितो बुधैः ॥
पक्ष्मणिः सूक्ष्मा च विश्वप्स्न्या च तथा पुनः ॥।
(व० प्र० शि० 156 उ०, 157)

3. जिह्वामूलीयतः स्पर्शो उपध्मानीयस्तथा ।
सः इधानो वसुः कवि द्यौः ष्पितेत्यादिकं यथा ॥
विसर्जनीयाच्च परो यः स्पर्शो व्यञ्जनोदयः ।
सोऽपि द्वित्वमवाप्नोति युञ्जानः प्रथमं यथा ॥
(व० प्र० शि० 160, 161 पू०)

द्योप्पिता। यहाँ दोनों उदाहरणों में क्रमशः जिह्वामूलीय उपध्मानीय का षकार हो गया है। उस षकार से परवर्ती क्रमशः ककार तथा पकार का द्वित्व हो गया है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय माध्यन्दिन-संहिता में उपलब्ध नहीं होता। अतः यह विधान काण्व-संहिता के लिए हुआ है। जैसा कि वा० प्रा० के भाष्यकार ने उल्लेख किया है।[1]

विसर्जनीय से परवर्ती स्पर्श का द्वित्व

विसर्जनीय से परवर्ती स्पर्श भी द्वित्व को प्राप्त करता है यदि उस स्पर्श के बाद में व्यञ्जन वर्ण हों।[2] जैसे—युञ्जानः प्प्रथमम्। यहाँ विसर्जनीय से परवर्ती स्पर्श पकार का इस विधान से द्वित्व हो गया है।

सकार की द्विरुक्ति

व० प्र० शि० के अनुसार केवल आ च शास्स्ला च, रास्स्वेयत्—इन दो स्थलों पर ही सकार का द्वित्व होता है। इससे अन्यत्र सकार की द्विरुक्ति नहीं होती।[3]

पदान्तीय ङकार तथा नकार का द्वित्व

व० प्र० शि० के अनुसार ह्रस्व स्वर वर्ण पूर्व में होने पर तथा स्वर वर्ण बाद में होने पर पदान्तीय ङकार तथा नकार द्वित्व हो जाता है। जैसे—युङ्ङसि, अश्मन्नूर्जम्।[4] यहाँ प्रथम उदाहरण में ह्रस्व स्वर उकार पूर्व में तथा

---

1. एतौ च जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ काण्वादिविषयौ। तथा हि वक्ष्यति तस्मिन्···माध्यन्दिनानाम्। (वा० प्रा० 4/120 पर उवट)
2. विसर्जनीयाच्च परो यः स्पर्शो व्यञ्जनोदयः।
सोऽपि द्वित्वमवाप्नोति युञ्जानः प्प्रथमं यथा ॥
(व० प्र० शि० 160 उ०, 161 पू०)
3. सकारस्य द्विरुक्तिर्या सा द्वयोरेव नान्यतः।
आ च शास्स्वा च रास्स्वेयत्सत्कारोऽत्र द्विरुक्तितः ॥
(व० प्र० शि० 161 उ०, 162 पू०)
4. ह्रस्वपूर्वौ ङनो स्यातां पदान्तौ द्विःस्वरोदयौ।
युङ्ङ्सीति तथा चाश्मनूर्जमित्यादिकं यथा ॥
(व० प्र० शि० 162 उ०, 163 पू०)

स्वर अकार बाद में होने पर पदान्त ङकार तथा द्वितीय उदाहरण में ह्रस्व स्वर अकार पूर्व में तथा स्वर उकार बाद में होने पर पदान्त तकार का द्वित्व हो गया है।

द्वितीय तथा चतुर्थ स्पर्श का द्वित्व

व० प्र० शि० के अनुसार वर्गों के द्वितीय स्पर्श का द्वित्व स्ववर्गीय प्रथम स्पर्श तथा चतुर्थ स्पर्श का द्वित्व तृतीय स्पर्श से होता है।[1] तात्पर्य यह है कि जहाँ वर्णों के द्वितीय स्पर्श का द्वित्व होता है वहाँ द्वित्वज वर्ण उसी वर्ग का प्रथम स्पर्श होता है यदि चतुर्थ स्पर्श का द्वित्व होता है तो द्वित्वज वर्ण उसी वर्ग का तृतीय स्पर्श होता है। जैसे—विक्ख्याय, आजिग्घ्रकम्। प्रथम उदाहरण में संयोगादि द्वितीय स्पर्श खकार का द्वित्व हुआ है। यहाँ खकार का द्वित्वज उसी वर्ग का प्रथम स्पर्श ककार हो गया है तथा द्वितीय उदाहरण में संयोगादि चतुर्थ स्पर्श घकार का द्वित्व हुआ है। यहाँ घकार का द्वित्वज उसी वर्ग का तृतीय स्पर्श हो गया है। या० शि० के अनुसार संयोगावस्था में चतुर्थ स्पर्श का तृतीय स्पर्श के रूप में तथा द्वितीय स्पर्श का प्रथम स्पर्श के रूप में द्वित्व करना चाहिए।[2] अर्थात् जहाँ वर्गों के चतुर्थ स्पर्श का द्वित्व होता है वहाँ द्वित्वज सवर्गीय तृतीय स्पर्श तथा जहाँ द्वितीय स्पर्श का द्वित्व होता है वहाँ द्वित्वज प्रथम स्पर्श होता है। उदाहरण ऊपर दिये गये हैं।

इन तृतीय तथा चतुर्थ स्पर्शों से अन्य आदि, मध्य तथा अन्त्य (=प्रथम, तृतीय तथा पञ्चम) स्पर्श का द्वित्व अपने अनुरूप ही होता है। अर्थात् इन वर्णों के द्वित्व में उसी वर्ण का दो बार उच्चारण होता है।

छकार का द्वित्व

स्वर से बाद में स्थित छकार का द्वित्व हो जाता है।[3] यहाँ चकार वर्ग का द्वितीय स्पर्श छकार है अतः व० प्र० शि० 163 पू० के अनुसार छकार का

---

1. प्रथमैस्वंवर्गीयै द्वितीयाद्विर्भवन्ति हि।
तृतीयैस्तु चतुर्थाश्च विक्ख्यायाजिग्घ्रकं तथा॥
(व० प्र० शि० 163 उ०, 164 पू०)

2. चतुर्थश्च तृतीयेन द्वितीयः प्रथमेन च।
आद्यं मध्यं तथान्यञ्च स्वरूपेणाभिपीडयेत्॥
(या० शि० 2/101)

3. स्वरात्परश्छकारस्तु सर्वत्र द्वित्वमाप्नुयात्। (व० प्र० शि० 170 उ०)

द्वित्व हुआ है। द्वितीय स्पर्श छकार का द्वित्वज उसी वर्ग का प्रथम स्पर्श चकार हो गया है।

छकार के द्वित्व का विधान पाराशरी शिक्षा में किया गया है। उसके अनुसार दीर्घ अथवा ह्रस्व स्वरों से परवर्ती छकार का द्वित्व हो जाता है।[1] तात्पर्य यह है कि छकार के पूर्व में दीर्घ स्वर हो अथवा ह्रस्व स्वर, दोनों ही स्थितियों में छकार का द्वित्व हो जाता है। ह्रस्व स्वर से परवर्ती छकार के द्वित्व का उदाहरण ऊपर दिया गया है। दीर्घ स्वर से परवर्ती छकार के द्वित्व का उदाहरण—गिरिशाच्छादयामि, वर्मणाच्छादयामि। यहाँ दीर्घ आकार से परवर्ती छकार का द्वित्व हो गया है। पाराशरी शिक्षा के अनुसार छकार का द्वित्वज चकार होता है।[2]

द्वित्व के अपवाद

व० प्र० शि० में द्वित्व के कुछ अपवादों का निर्देश किया गया है जो इस प्रकार है—

(1) ऋवर्ण तथा ऌवर्ण बाद में होने पर ङकार तथा नकार से अतिरिक्त व्यञ्जन का द्वित्व नहीं होता। जैसे—क्लृप्तम्, अनिष्टृतम्।[3] प्रथम उदाहरण में ऌकार बाद में होने से ककार का तथा द्वितीय उदाहरण में ऋकार बाद में होने से टकार का द्वित्व नहीं हुआ है।

---

1 दीर्घादग्रे छकारोऽपि ह्रस्वादग्रे तथैव च! (पाराशरी शि० 104 उ०)
द्वित्वाक्षरं विजानीयादिति शास्त्रविधानतः।
(ल० मा० शि० पृ० 104 शि० सं०)
दीर्घादग्रे तु यो दीर्घो गिरिशा वर्मणा तथा।
द्वित्वाक्षरं विजानीयाच्छादयामि निदर्शनम्॥
(पाराशरी शि० 104 उ०, 106 पू०)

2. षकारस्य भकाराभ्यां छकारस्य चकारयोः।
(पाराशरी शिक्षा 106 उ०)

3. ऋवर्णो न द्विरुक्तिः स्यात् ङनकारौ विहाय च।
ऌवर्णोऽपि तथैव स्यात् क्लृप्तञ्चानिष्टृतं यथा॥
(व० प्र० शि० 168 उ० 169 पू०)

(2) अवसान में स्थित व्यञ्जन का द्वित्व नहीं होता किन्तु संहिता में द्वित्व का निवारण नहीं किया जाता है। जैसे—उक् सुवृता=उक्क् सुवृता।[1] यहाँ अवसान में स्थित उर्क् के ककार का द्वित्व नहीं होता किन्तु संहिता की स्थिति में द्वित्व का निषेध न होने से ककार का द्वित्व हो गया है।

(3) यम बाद होने पर द्वित्व का निवारण होता है जैसे—सक्थ्ना। यहाँ अपञ्चम स्पर्श थकार से बाद में पञ्चम स्पर्श नकार होने के कारण यम की प्राप्ति होती है। यम के बाद में होने के कारण यम की प्राप्ति होती है। यम के बाद में होने के कारण संयोगादि ककार के द्वित्व की प्राप्ति का निषेध हो गया है।

स्व० भ० ल० परिशिष्ट शिक्षा के अनुसार (1) सकार से प्रारम्भ होने वाला पद बाद में होने पर पदान्त ककार अपने सवर्ण द्वित्व को प्राप्त करता है[2] जैसे—भिषक्वसीसेन, किन्तु सकार से प्रारम्भ होने वाला पद बाद में तथा ङकार पूर्व में होने पर ककार द्वित्व को नहीं प्राप्त होता है। जैसे—प्राङ्क्सोमः।[3]

व० प्र० शि० के अनुसार सकार बाद में होने पर पदान्तीय ङकार के बाद में ककार का आगम होता है[4] उदाहरण तो ऊपर दिया गया है।

---

1. अवसानस्थितश्चापि व्यञ्जनं न द्विरुच्यते।
उक्क्सुवृता पदे एव संहितायाँ न वार्यते॥
(व० प्र० शि० 169 उ०, 170 पू०)

2. सादौ पदे परे पूर्वककारान्ते पदे स्थिते।
कसवर्णं तु विज्ञेयं भिषक्क्वसीसेन दर्शनम्॥
(स्व० भ० ल० प० शिक्षा 11)

3. सादौ पदे परे पूर्वं ङारान्ते पदे सति।
कसवर्ण द्वयं तत्र प्राङ्क्सोम इति दर्शनम्॥
(स्व० भ० ल० प० शि० 13)

4. ङनकारौ पदान्तीयौ सकारौ परतः स्थिते।
कताभ्यां व्यवधीयेते प्राङ्क्सोमश्च यथा तथा।
प्रत्यङ्क्सोमस्त्रीन्त्सनुद्रानस्समान्त्सीते निदर्शनम्॥
(व० प्र० शि० 197 पू० 198)

स्व० भ० ल० प० शि० के अनुसार सकार से प्रारम्भ होने वाला पद बाद में होने पर पदान्त नकार से बाद में तकार का आगम होता है[1] जैसे—त्रीन्त्समुद्रान् ।

प्रा० प्र० शि० के अनुसार सकार बाद में होने पर पदान्त नकार के बाद तकार का आगम होता है, जैसे—त्रीन्त्समुद्रान् ।

स्व० भ० ल० प० शि० के अनुसार मकार से प्रारम्भ होने वाला पद बाद में होने पर पदान्त मकार सवर्ण द्वित्व को प्राप्त करता है,[2] । जैसे—इमम्मे ।

---

1. सादौ पदे परे नान्ते पूर्वे समवस्थिते ।
   तत्सवर्णं विजानीयात्त्रीन्त्समुद्रानिव दर्शनम् ॥ (स्व० भ० ल० प० शि० 14)
2. मादौ पदे परे मान्ते पूर्वमुच्चारितें सति ।
   मसवर्णन्तु तत्र स्यादिमम्म इति दर्शनम् ॥ (स्व० भ० ल० प० शि० 15)

साम-प्रकरण

* वेदाध्ययन
* वृत्ति निरूपण
* वेदाध्ययन में अभ्यास
* वेदाध्ययन में असमर्थ व्यक्ति
* वेदपाठ के दोष
* शुक्लयजुर्वेद में ऋचाओं तथा यजुवों का निर्धारण
* शुक्लयजुर्वेद संहिता में अवसान

साम

वेदाध्ययन

वेदों को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए प्राचीन आचार्यों ने बहुत से कार्य किये। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वेद-विषयक सैद्धान्तिक विवेचन के साथ ही साथ व्यावहारिक पक्ष (वेद के पठन-पाठन) का भी प्रारम्भ हुआ, क्योंकि वेदविषयक सिद्धान्तों का ज्ञाता भी व्यवहार-पक्ष के अभाव में शुद्ध मन्त्रोच्चारण करने में असमर्थ हो जाता है। इसलिए प्राचीनकाल में गुरुमुख द्वारा श्रवण करके मन्त्रों को स्मरण करने की परम्परा अधिक प्रचलित थीं। आचार्य मन्त्रोच्चारण करते थे शिष्य पीछे-पीछे मन्त्रोच्चारण करके उनसे स्मरण करते थे। आचार्य इस बात का ध्यान देते थे कि कहीं शिष्य अशुद्ध उच्चारण तो नहीं कर रहा है। अशुद्ध उच्चारण करने पर आचार्य अनेक प्रकार से उन्हें शुद्ध कराने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। मौखिक पठन-पाठन की परम्परा तभी से चली आ रही है जिसके परिणामस्वरूप चिरकाल के पश्चात् आज भी वेदपाठी वेद-मन्त्रों का उसी प्रकार पाठ करते हैं जिस प्रकार उस समय होता था।

प्रायः सभी प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में वेद-विषयक वर्ण, पदपाठ, क्रमपाठ, सन्धि तथा स्वर इत्यादि सिद्धान्त-पक्ष के साथ-साथ वेद के व्यवहार-पक्ष अध्ययन-अध्यापन-विषयक विशिष्ट विधान भी प्रस्तुत किये गये हैं।

आचार्य की योग्यता

वेदाध्ययन कराने वाले आचार्य की योग्यता का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो पदपाठ तथा क्रमपाठ को विशेषरूप से जानता है, वर्णक्रम अर्थात् संहितापाठ में निपुण हो, उत्तादादि स्वरों तथा ह्रस्वादि मात्राओं के भेद को जानता हो, वही आचार्यपद को प्राप्त करे।[1] तात्पर्य यह है कि वेद की शिक्षा देने वाले आचार्य को पदपाठ, क्रमपाठ तथा संहितापाठ का अच्छी प्रकार का ज्ञान होना चाहिए और उसे उत्तादानि स्वरों तथा ह्रस्वादि स्वरवर्णों के उच्चारण काल में लगे समय (=मात्रा) का भी पूर्णतया ज्ञान होना चाहिए।

शिष्य की योग्यता

वेद का अध्ययन करने वाला शिष्य अल्पज्ञ होने के कारण आचार्य द्वारा दी गयी शिक्षा को ठीक प्रकार से ग्रहण नहीं कर पाता, जिससे वेद की मौलिकता

1. पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षर्णः।
स्वरमात्रा विभागज्ञो गच्छेदाचार्यसम्पदम्॥ (तै० प्रा० 24/6)

में अन्तर हो जाने का भय बना रहता है क्योंकि वहीं शिष्य भविष्य में आचार्य बनकर अपनी गलत समझ के अनुसार शिष्यों को वेद की उचित शिक्षा नहीं दे पायेगा। अतः शिष्य आचार्य द्वारा पढ़ाये जाते हुए वेद को भलीभाँति समझे—इस दृष्टि से तै० प्रा० में शिष्य की योग्यता का निर्धारण करते हुए कहा गया है कि वैदिक भाषा के अध्ययन करने वाले को गुरुता, लघुता, साम्य, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत, विक्रम (संज्ञक स्वर), क्रम, (द्वित्व), उदात्त, अनुदात्त और स्वरित, श्वास और नाद, अङ्गाङ्गिभाव, अक्षर विभाजन—इन सबका ज्ञान होना चाहिए।[1]

शिष्य के लिए नियम

वेदाध्ययन करने वाले शिष्य के लिए वा० प्रा० में कतिपय नियमों का निर्देश किया गया है। अध्येता को इन नियमों का पालन अवश्य करना चाहिए। वे नियम इस प्रकार हैं—

(1) पाद-शुद्धि, आचमन, इत्यादि के द्वारा पवित्र होकर वेद का अध्ययन करना चाहिए।[2]

(2) पवित्र स्थान में अध्ययन करना चाहिए।[3]

(3) सुखद आसन पर बैठकर अध्ययन करना चाहिए।[4]

(4) उचित ॠतु के आने पर रात्रि के चौथे प्रहर में अध्ययन करना चाहिए।[5] उवट के अनुसार हेमन्त के आने पर रात्रि के चौथे प्रहर में अध्ययन करना चाहिए।[6]

(5) अध्येता को अध्ययन-काल में एक योजन अर्थात् आठ मील से अधिक दूर पैदल नहीं चलना चाहिए।[7]

---

1. गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च।
   लोपागमविकाराश्च प्रकृतिविक्रमः क्रमः॥
   स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादोऽङ्गमेव च।
   एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छन्दोभाषामधीयता॥ (तै० प्रा० 24/5)
2. प्रयतः (वा० प्रा० 1/20)
3. शुचौ (वा० प्रा० 1/21)
4. इष्टम् (वा० प्रा० 1/22)
5. ॠतुं प्राप्य (वा० प्रा० 1/23)
6. हेमन्तमृतुं प्राप्य रात्र्याश्चतुर्थप्रहरेऽधीयीत (वा० प्रा० 1/23, पर उवट)
7. योजनान्न परम् (वा० प्रा० 1/24)

(6) मधुर और स्निग्ध भोजन करना चाहिए।[1] भाष्यकार उवट के अनुसार मीठे रस वाले घी से भरपूर अन्न खाना चाहिए।[2]

अध्ययन का प्रारम्भ

ओ३म् शब्द का प्रयोग

(1) या० शि० तथा वा० प्रा० के अनुसार वेदाध्ययन के प्रारम्भ में ओ३म् शब्द का उच्चारण करना चाहिए।[3] भाष्यकार उवट ने इस सूत्र के भाष्य में ओ३म् के उच्चारण किए विना वेदाध्ययन प्रारम्भ करने से क्या हानि होती है— इसके विषय में मनु का विचार उद्धृत किया है कि वेदाध्ययन के प्रारम्भ में तथा अन्त में सर्वदा ओ३म् का उच्चारण करना चाहिए। प्रारम्भ में ओ३म् का उच्चारण न करने से अध्ययन स्थायी नहीं रहता और अन्त में ओ३म् का उच्चारण न करने से पूर्णतः नष्ट हो जाता है।[4]

(2) ओ३म् और अथ का समान फल

ओ३म् ओर अथ—दोनों समान फल वाले हैं। तात्पर्य यह है कि अध्ययन के प्रारम्भ में ओ३म् की भाँति अथ का भी प्रयोग करना चाहिए क्योंकि जो फल ओ३म् के उच्चारण से मिलता है वही फल अथ के उच्चारण से भी मिलता है।

(3) ओ३म् और अथ का प्रयोग स्थल

अध्ययन के प्रारम्भ में ओ३म और अथ—इन दोनों के प्रयोग करने का विधान समान रूप से किया गया है। यहाँ यह शङ्का होती है कि ओ३म् और अथ में से किसी भी का प्रयोग किया जा सकता है अथवा इसके लिए कोई विशेष विधान है जिसके अनुसार ओ३म् तथा अथ का प्रयोग किया जाय। इस शङ्का के समाधान के लिये वा० प्रा० में यह विधान किया गया है कि वेदों के अध्ययन के प्रारम्भ में ओ३म् का उच्चारण करना चाहिए और वेदव्यतिरिक्त ग्रन्थों (भाष्य-ग्रन्थों) के अध्ययन के प्रारम्भ में अथ का उच्चारण करना चाहिए।[5]

1. भोजनं मधुरं स्निग्धम् (वा० प्रा० 1/25)
2. मधुररसप्रायं भोजनं घृतप्रायञ्चान्नम् भुञ्जीत (वा० प्रा० 1/25, उवट)
3. प्रणवं प्राक्प्रयुञ्जीत······(या० शि० 22 पू०)
   ओङ्कारः स्वाध्यायादौ (वा० प्रा० 1/16)
4. ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
   क्षरन्त्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्य्यते ॥ (मनु० 2/74)
5. ओङ्कारं वेदेषु। अथकारं भाष्येषु (वा० प्रा० 1/18–19)

व्याहृतियों का प्रयोग

या० शि० के अनुसार वेदारम्भ के पूर्व में ओ३म् के उच्चारण के पश्चात् महाव्याहृतियों का उच्चारण करना चाहिए। भूर्भुवः स्वः (=भुः भुवः स्वः) ये तीन महाव्याहृतियाँ हैं। ॐ के उच्चारण के पश्चात् इनका पाठ करना चाहिए। अर्थात् वेदाध्ययन के पूर्व गुरु की अनुज्ञा लेकर ॐ भूर्भुवः स्वः का पाठ करना चाहिए।

सावित्री-पाठ

या० शि० में कहा गया है कि वेद का अध्ययन प्रारम्भ करते समय ॐ तथा महाव्याहृतियों के पाठ के अनन्तर सावित्री मन्त्र का पाठ करना चाहिए। सावित्री मन्त्र इस प्रकार है—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्।

यह मन्त्र सविता देव से सम्बन्धित है अतः सावित्री मन्त्र कहलाता है। इस मन्त्र का छन्द गायत्री होने से इसे गायत्री मन्त्र भी कहा जाता है। ब्रह्म को परमप्रिय होने के कारण इसे गायत्री मन्त्र के साथ-साथ ब्रह्मगायत्री मन्त्र भी कहा जाता है।

इस प्रकार वेदाध्येता को वेदाध्ययनारम्भ के पूर्व गुरु की अनुमति के पश्चात् 'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुंवरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।' इतना पाठ सर्वप्रथम करके तब वेदाध्ययन प्रारम्भ करना चाहिए।

ओ३म् से पूर्व हरिः का उच्चारण

स० प्र० शि० के अनुसार वेदपाठ करने से पूर्व सर्वप्रथम "हरिः औ३म्" शब्द का उच्चारण करना चाहिए।[1] तात्पर्य यह है कि इसके अनुसार वेदाध्ययन के अथवा वेदमन्त्र के पाठ के पूर्व "हरिः ओ३म्" का पाठ करने के अनन्तर मन्त्र का पाठ करना चाहिए। आधुनिक वैदिक मन्त्रपाठ की परम्परा में वेदमन्त्रों के पाठ से पहले "हरिः ॐ" का पाठ किया जाता है। ॐ के पूर्व हरिः का उच्चारण करके तब पुनः वेदमन्त्र का पाठ होता है।

स्वाध्याय-विधि

पवित्र व्यक्ति के द्वारा पवित्र स्थान पर बैठकर शूद्र वर्ण वाले तथा पतित व्यक्ति को बिना सुनाये वेद का पाठ करना चाहिए।[2] भाष्यकार उवट के

---

1. संक्षेपतोऽथवापूर्वः हरिः ओ३मिति कथ्यते।
अधीतेऽवसानेऽप्यो३म् प्रतीकश्चाग्रमन्त्रतः॥ स० प्र० शि० 26
2. शुचिना। शुचौ देशे। शूद्रपतितयोरसंश्रावं स्वाध्यायोऽध्येतव्यः
(वा० प्रा० 8/27–29)

अनुसार स्नान, आचमन इत्यादि के द्वारा पवित्र तथा ब्रह्मचारी के गुण से युक्त (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन) तीन वर्णों के द्वारा वेद का अध्ययन किया जाना चाहिए।[1]

वेदाध्ययन के फल

वेद के अध्ययन करने से प्राप्त होने वाले फलों का विधान करते हुए वा० प्रा० में कहा गया है कि वेदों का ज्ञान होने पर उससे मोक्ष (पौरुष्य), स्वर्ग, यश तथा आयु की प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं अपितु वेदों के अध्ययन, अध्यापन से उच्चारित होने वाले वेदमन्त्रों के श्रवण से तथा वेदमन्त्रों के वर्ण, अक्षर, विभक्ति और पद के ज्ञान से महान् धर्म भी होता है।[2]

वेदाध्ययन के समय के साधारण नियम

वेद के अध्ययन कर्त्ता को व्यग्रचित्त वाला, उद्दण्ड न होकर स्वस्थ तथा स्थिर मन वाला विनम्र होना चाहिए। अतः वेदाध्ययन के समय अध्येता के लिए या० शि० तथा सं० प्र० शि० में कुछ नियम बतलाए गये हैं। अध्येता को उसी स्थिति में होकर अध्ययन करना चाहिए। सं० प्र० शि० में कुछ नियम बतलाए गये हैं। सं० प्र० शि० के अनुसार अध्ययन करते समय अध्येता को प्रसन्नचित्त विनम्र होकर स्वाध्याय के आसन पर बैठना चाहिए तथा अपनी दृष्टि को दाहिने हाथ के अगले भाग पर लगाये रखना चाहिए। इस स्थिति में होकर वेदाध्ययन का अभ्यास करना चाहिए।[3] प्रसन्न मन से अध्ययन करने पर स्मृत पाठ का स्थायित्व बना रहता है। विनम्र होने से अध्येता में अहंकार भाव नहीं रहता तथा दाहिने हाथ के अगले भाग पर दृष्टि लगाये रखने से उच्चारण प्रदर्शन में अशुद्धता नहीं होती है। इससे पाठ आसानी से याद हो जाता है। या० शि० में भी इसी प्रकार का विधान किया गया है। उसके अनुसार भी शास्त्र (वेद) के विषय में चिन्तन करते समय अध्येता को प्रसन्न चित्त वाला होना चाहिए तथा विनम्र और नीचे मुख करके

---

1. स्नानाचमनादिभिः शौचयुक्तेन ब्रह्मचर्यवता त्रयीवर्णकेन स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।
(वा० प्रा० 8/27, उवट)

2. ज्ञाने पौरुष्यम्। स्वर्ग्यम्। यशस्यम्। आयुष्यम्। अथापि भवति।
वेदस्याध्ययनाद्धर्मः सम्प्रदानात्तथाश्रुतेः।
वर्णशोऽक्षरशोऽज्ञानाद्विभक्तिपदशोऽपि च॥ (वा० प्रा० 8/30–37)

3. सुप्रसन्नमना भूत्वा विनीतः स्वासनं भजेत्।
निवेश्य दृष्टिं हस्ताग्रे वेदं स्वीयं समभ्यसेत्॥ (सं० प्र० शि० 6)

बैठना चाहिए। दृष्टि को हस्ताग्र में लगाये रखना चाहिए।[1] वेद-विषयक उदात्तादि स्वरों और वर्णों के उच्चारण तथा उनके यथार्थ प्रदर्शन के प्रति सर्वदा सतर्क रहना चाहिए। अतः स्वर-प्रदर्शन करने वाले दाहिने हाथ के अग्रभाग की ओर अध्येता के सर्वदा दृष्टि लगाये रखने से उनके प्रदर्शन विधि में सतर्कता रहती दे। प्रमादवश अशुद्ध उच्चारण के प्रति सर्वदा वेद-विषयक शिक्षा तथा व्याकरण में विहित विधानों का सर्वदा चिन्तन करना चाहिए।

वेदाध्ययन करते समय बैठने की विधि

अध्येता के लिए अध्ययन के समय बैठने के नियम को सं० प्र० शि० में बतलाया गया है। उसके अनुसार अध्येता को अध्ययन करते समय प्रसन्न मन एवं विनीत भाव से हस्तमुद्रा पर दृष्टि लगाए शुद्ध आसन पर स्वस्तिक या पद्मासन में बैठकर सुसंयत प्रकार से बाँये हाथ की मुट्ठी पर दाहिना हाथ रखकर तथा दाहिने हाथ की सभी अंगुलियों को सटाकर गाय के कान के समान हथेली की मुद्रा करके बैठ जाना चाहिए।[2] तै० आ० में आसन की स्थिति को निर्दिष्ट किया गया है। उसके अनुसार आसन कुशनिर्मित होना चाहिए। उस आसन को जमीन पर बिछाकर उस पर उपस्थापन-पूर्वक बैठना चाहिए।[3] उपस्थापन को स्पष्ट करते हुए सायणाचार्य ने कहा है कि बाँये पैर के जंघे के ऊपर दाहिने पैर को रखना ही उपस्थापन है। योगदर्शन के विद्वानों ने इसे अर्धपद्मासन की संज्ञा से अभिहित किया है।[4] इस प्रकार अर्धपद्मासन लगाकर अध्येता सुख-पूर्वक बैठकर बाएँ हाथ की केहुनी को बाएँ जंघे पर रखकर तथा उसे दाहिने जंघे की ओर मोड़ कर, उसकी मुट्ठी पर दाहिने हाथ की केहुनी को रखकर बैठना चाहिए।

---

1. सुप्रसन्नमना भूत्वा किञ्चिन्नम्रस्त्वधोमुखः।
   निवेश्य दृष्टिं हस्ताग्रे शास्त्रार्थमनुचिन्तयेत्॥ (या० शि० 2/21)
2. हस्तौ सुसंयतौ धार्यौ जानुनोपरि स्थितौ।
   आसनं स्वस्तिकं पद्मं बद्धोरौ दक्षिणे करम्॥
   सव्यं समुष्टिं विन्यस्य मुष्टौ दक्षिण कूर्परम्।
   तत्रोत्तानं हस्तदण्डं श्लथं श्लिष्टाङ्गुलं तथा॥ (सं० प्र० शि० 7/9 पू०)
3. दर्भाणां महदुपस्तीर्योपस्थं कृत्वा पादासीनः।
   ......दक्षिणोत्तरौ पाणीपादौ कृत्वा। (तै० आ० 2/11)
4. आकुञ्चितस्य सव्यजानुनोपरि दक्षिणपादप्रक्षेपे सति यत् सुखावस्थानं भवति तत्कृत्वा.. दक्षिणपादोऽपि वामपादस्योपरि उपस्थापनीयः।
   (तै० आ० 2/11 सायणभाष्य)

गुरु की अनुमति

वेदाध्ययन करने हेतु उपर्युक्त विधिपूर्वक बैठकर सर्वप्रथम गुरु से पढ़ने के लिए अनुमति प्राप्त करनी चाहिए जिसका निर्देश या० शि० में किया गया है।[1] गुरु से किस प्रकार अनुमति लेनी चाहिए इसका विधान मनुस्मृति में किया गया है। उसके अनुसार वेदाध्ययन के पूर्व ब्रह्माञ्जलि द्वारा गुरु का चरणाभिनन्दन करना चाहिए। दोनों हाथों को सीधे रखकर दाहिने हाथ से दाहिने तथा बाएँ हाथ से बाएँ पैर का स्पर्श ब्रह्माञ्जलि कहलाता है।

उच्चारण-धर्म

या० शि० में वेदोच्चारण के धर्म का निर्देश करते हुए कहा गया है कि उच्चारण में अभ्याहनन, निर्हनन, गायन तथा कम्पन नहीं करना चाहिए। सं० प्र० शि० में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन हुआ है।[2] उच्चारण के आरम्भ में जिस क्रम से गति से प्रारम्भ करे उसी क्रम से उसका समापन भी करना चाहिए।[3]

(1) अभ्याहनन

अभ्याहनन का अर्थ है—व्यत्यय (बदल कर) उच्चारण। जैसे—ऋचः वाचम् (वा० सं० 3/1)। शुक्लयजुर्वेद में ऋ का उच्चारण रे होता है। ऋकार का उच्चारण हनुमूल से होता है। अतः रे का भी उच्चारण हनुमूल से करना अभ्याहनन है जो नहीं करना चाहिए। इसका उच्चारण जिह्वाग्र से करना चाहिए।

(2) निर्हनन

मन्त्र में प्रयुक्त वर्ण के स्थान पर स्थान, प्रयत्न अथवा प्राणता इत्यादि की मात्रा अथवा स्वर इत्यादि का परिवर्तन करके अन्य वर्ण का उच्चारण करना निर्हनन है। मन्त्र में ही वर्ण प्रयुक्त हो उसका उसी प्रकार उच्चारण करना चाहिए जैसे—(1) सहस्रशीर्षा (वा० सं० 31/1) में प्रयुक्त सकार का दन्त्य उच्चारण न करके तालु अथवा मूर्धा से उच्चारण करना, शकार का उच्चारण तालु से न करके दन्त अथवा मूर्धा से करना तथा षकार का उच्चारण मूर्धा से न करके दन्त अथवा तालु से करना निर्हनन है। ऐसा स्थान परिवर्तन करके उच्चारण नहीं करना चाहिए, (2) वाचस्पतये (वा० सं० 7/1) में प्रयत्न-

---

1. गुरोरनुमतिं कुर्यात्······(या० शि० 2/20 पू०)
2. नाभ्याहन्यान्न निर्हन्यान्न गायेन्नैव कम्पयेत्।
   यथादावुच्चारयेद्वर्णास्तथैवेता समापयेत्॥ या० शि० 1/24, सं० प्र०शि० 12
3. वृत्तियों का निरूपण इसी अध्याय में किया गया है।

लाघव के कारण वाचस्पतये उच्चारण करना ही निर्हनन है, (3) समिधाग्निम् (वा० सं० 3/1) में महाप्राण धकार के स्थान पर अल्पप्राण दकार का उच्चारण (=समिदाग्निम्) भी निर्हनन है। इन दोषों से रहित मन्त्रोच्चारण करना चाहिए।

(3) गायन

मन्त्रों को षडजादि स्वरों में गाकर पाठ करना दोषपूर्ण है। उनका पाठ उदात्तादि स्वरों द्वारा ही किया जाना चाहिए। गाने से उदात्तादि स्वरों को स्पष्ट बोध न होने के कारण अर्थ समझने में कठिनता हो जाती है। कभी-कभी तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

(4) कम्पन

कम्पन का अर्थ है काँपती हुई ध्वनि में मन्त्रों का पाठ करना। यह एक दोष है। अतः काँपती ध्वनि में मन्त्रपाठ नहीं करना चाहिए। मन्त्रों का पाठ अभ्याहनन, निर्हनन, गायन तथा कम्पन से रहित समान वृत्ति में करना चाहिए।[1]

वृत्ति-निरूपण

प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में वर्णों के उच्चारण में लगने वाले काल के आधार पर स्वरों को ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत—इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है, जिनका विवेचन उच्चारण-काल के सन्दर्भ में किया गया है। प्रस्तुत स्थल पर यह विचार कर लेना प्रासङ्गिक होगा कि क्या वर्णों का उच्चारण सदैव निर्धारित मात्रा में एक ही समान ही होता है अथवा निर्धारित मात्रा से शीघ्र भी हो सकता है तथा विशेष अवस्थाओं में निर्धारित काल से अधिक काल में भी हो सकता है।

इस प्रसङ्ग में प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण विधान किया गया है। इसके लिए वृत्ति संज्ञा का विधान किया गया है। वृत्ति का अर्थ है—उच्चारण-गति। अर्थात् वक्ता कभी तो धीरे-धीरे (मन्द गति से) बोलता है; कभी तीव्र गति से बोलता है। मध्यम गति से बोलने की स्वाभाविक अवस्था होती है। उच्चारण-गति के आधार पर आचार्यों ने तीन वृत्तियों का निरूपण किया है—विलम्बित, मध्यम और द्रुत।[2]

1. वृत्तियों का निरूपण इसी अध्याय में किया गया है।
2. तिस्रो वृत्तीरुपदिशन्ति वाचो विलम्बितां मध्यमां च द्रुतां च।
(ऋ० प्रा० 13/46)

विलम्बित वृत्ति वह वृत्ति होती है जिसमें वर्णों का उच्चारण मन्दगति से किया जाता है। द्रुतवृत्ति में उच्चारण गति में तीव्रता (शीघ्रता) होती है तथा मध्यम वृत्ति में उच्चारण की गति स्वाभाविक होती है जैसा कि तै० प्रा० में विधान किया गया है कि वाणी प्रयोग मध्यम वृत्ति से होता है।[1] सामान्यत: लोग मध्यम वृत्ति में ही उच्चारण करते हैं। प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों में वर्णों में उच्चारण में लगने वाले समय का निर्धारण मध्यम वृत्ति को ही ध्यान में रख कर किया गया है। जैसा काल-निर्णय शिक्षा में स्पष्ट कहा गया है कि वर्णों के उच्चारण के लिए जो विधान किया जाता है उसका आधार मध्यम-वृत्ति है।[2]

वृत्तियों का विभिन्न कार्यों में प्रयोग

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षा-ग्रन्थों में इन वृत्तियों के प्रयोग के प्रसङ्ग में स्पष्ट विधान किया गया है। या० शि० के अनुसार वेद-मन्त्रों का अभ्यास करते समय मन्त्रोच्चारण द्रुतवृत्ति से करना चाहिए। किसी अनुष्ठान कर्म में मन्त्रों को मध्यम वृत्ति से उच्चारि त करना चाहिए। इसी प्रकार शिष्यों को पढ़ाते समय विलम्बित वृत्ति में मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिए।[3] वस्तुत: वेद-मन्त्रों को स्मरण करते समय द्रुतवृत्ति में उच्चारण करने से थोड़े समय अधिक बार पाठ को दुहरा दिया जाता है और पढ़ाते समय धीरे-धीरे विलम्बित गति में उच्चारण करने से अध्येता पाठ को शुद्धता तथा सरलता से समझ लेता है। यज्ञादि कार्यों में प्रयोग करते समय मन्त्रों को मध्यम गति से अर्थात् स्वाभाविक गति से उच्चारित करना चाहिए। कतिपय आचार्यों ने भिन्न-भिन्न सवनों में भिन्न-भिन्न वृत्तियों के प्रयोग का विधान किया है जिसका उल्लेख ऋक्प्रातिशाख्य के भाष्यकार उवट ने किया है। उसके अनुसार प्रात:सवन विलम्बित वृत्ति में

1. मध्यमेन स वाक्प्रयोग। (तै० प्रा० 23/18)
2. स्वरवर्णविरामाणां भिन्नवाग्वृत्तिवर्तिनाम्।
   ऐकरूप्येण कालस्य कथनं नोपद्यते ।।
   मध्यमां वृत्तिमाश्रित्य मया चेयं कृतिः कृता।
   प्रातिशाख्ये निषिध्यान्ये यस्मात् सैव बोध्यते ।।
   (कालनिर्णय शिक्षा–3, 4)
3. अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्।
   शिष्यानामुपदेशार्थे कुर्याद्वृत्तिं विलम्बिताम् ।।
   (या० शि० 1/49, उ०, 50 पू०)

होता है। मध्यन्दिन सवन मध्यमवृत्ति में तथा सायं सवन द्रुतवृत्ति में होता है।[1] तात्पर्य यह है कि प्रातः सवन के समय मन्त्रों का उच्चारण विलम्बित वृत्ति में, मध्यन्दिन सवन के समय मध्यम वृत्ति में तथा सायं सवन में द्रुतवृत्ति में होता हैं।

विभिन्न वृत्तियों में उच्चारण काल का सम्बन्ध

यद्यपि प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों में वृत्तियों के उच्चारण की गति का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता तथापि कुछ विधानों के सूक्ष्मानुशीलन से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है। ऋ० प्रा० के अनुसार प्रत्येक परवर्ती वृत्ति में मात्रा का आधिक्य होता है।[2] परन्तु इस आधिक्य का परिमाण नहीं निर्धारित किया गया है। भाष्यकार उवट ने इस विषय को थोड़ा स्पष्ट किया है। उनके अनुसार द्रुतवृत्ति में जो वर्ण उच्चारित होते हैं वे मध्यम वृत्ति में उच्चारित होने पर तिहाई भाग मात्रा-काल से अधिक हो जाते हैं। इसी प्रकार मध्यम वृत्ति में जो वर्ण उच्चारित होते हैं वे विलम्वित वृत्ति में उच्चारित होने पर तिहाई भाग मात्रा काल वाले अधिक हो जाते हैं।[3] इस प्रकार वृत्तियों का अनुपात 9:12:16 का है। तात्पर्य यह है कि मध्यमवृत्ति में उच्चारित होने पर यदि किसी मन्त्र में 12 मुहूर्त का समय लगता है तो उसी मन्त्र को द्रुतवृत्ति में उच्चारित करने पर 9 मुहूर्त तथा विलम्वित वृत्ति से उच्चारित करने पर ।2 मुहूर्त का समय लगेगा। भाष्यकार के अनुसार कतिपय आचार्य इस अन्तर को चौथाई भाग से अधिक मानते हैं। इन आचार्यो के मत में इन वृत्तियों के उच्चारण-काल का अनुपात 16:20:25 हो जायेगा। महाभाष्य के वृत्तिकार कैयट ने भी इन वृत्तियों से उच्चारण करने में लगने वाले समय का अनुपात 9:12:16 ही माना है। कैयट के अनुसार इस अनुपात के प्रत्यक्षीकरण का सम्वन्ध मनोदैहिक प्रक्रिया से है। 9:12:16 के अनुपात का अभिप्राय है जब वक्ता द्रुतवृत्ति में किसी मन्त्र का उच्चारण करता है तो श्रोता की सुषुम्ना नाडी से तन्त्रिका द्रव नौ विन्दु प्रवाहित

---

1. वृत्यन्तरे कर्मविशेषमाहुः (ऋ० प्रा० 13/47)
   विलम्बितायां प्रातःसवनम् भवति। मध्यमायां माध्यन्दिन सवनम्
   द्रुतायां तृतीयं सवनम् (ऋ० प्रा० 13/47 पर उवट)
2. मात्राविशेषः प्रतिवृत्युपेति (ऋ० प्रा० 13/48)
3. द्रुतायां वृत्तो ये वर्णास्ते मध्यमायां त्रिभागात्मिकाः भवन्ति।
   चतुर्भागाधिका भवन्तीत्येक इति (ऋ० प्रा० 13/48 पर उवट भाष्य)

होते हैं, मध्यमा में बारह तथा विलम्बित में सोलह विन्दु प्रवाहित होते हैं।[1] ऋ० तं० में इस अनुपात को 3:4:5 बतलाया गया है। माण्डूकी शिक्षा के अनुसार यह अनुपात 1:2:3 का है।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तीनों वृत्तियों के उच्चारण में लगने वाले समय के विषय में मतैक्य नहीं है। इस प्रसङ्ग में उपलब्ध होने वाले विविध सिद्धान्तों से यह प्रतीत होता है कि वेदों की विभिन्न शाखाओं में मन्त्रों के उच्चारण से सम्बन्धित विशेष-विशेष प्रक्रियायें थीं तथा उच्चारण में लगने वाले समय भी भिन्न-भिन्न थे। इसके विषय में यह भी कहा जा सकता है कि उच्चारण तो प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग हो सकता है तथा कोई व्यक्ति किसी वाक्य को अपने अनुसार उच्चारित कर सकता है अतः अधिकतम या न्यून-तम का निर्धारण करना कठिन है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार "मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि सामान्य वाग्व्यवहार में वाक् की आनुपातिक गति प्रतिमिनट 140 के लगभग होती है। व्याख्याताओं में 120 से 200 तक का अन्तर होता है। यहाँ द्वितीय गति "द्रुत" वाक् के लिए ही है। डॉ० वर्मा के अनुसार इसका अनुपात 2:3 तक पहुँच जाता है।[3]

वृत्तियों के देवता

या० शि० में वृत्तियों के देवताओं का उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार मध्यमवृत्ति इन्द्र देवता वाली, विलम्बित वृत्ति प्रजापति देवता वाली तथा द्रुत वृत्ति अग्नि एवम् भरत् देवता वाली है। इसके अनुसार द्रुतवृत्ति को सभी शास्त्रों में निन्दित माना जाता है। वस्तुतः मध्यमवृत्ति में वर्णों का उच्चारण स्पष्ट होता है। यही वृत्ति स्वाभाविक वृत्ति है जो सभी वृत्तियों में उत्कृष्ट होती है। बिलम्बित वृत्ति में मन्त्रों का उच्चारण तीव्र गति से होता है अतः इसमें वर्णों की स्पष्टता अत्यधिक होती है जिससे पाठदोष इत्यादि का ग्रहण आसानी से हो जाता है किन्तु द्रुतवृत्ति में मन्त्रों का उच्चारण शीघ्रता से होने के कारण मन्त्रों के सभी वर्ण अस्पष्ट होते हैं जिससे उसका लयमात्र प्रतीत होता है।

---

1. द्रुतं श्लोकं ऋचं चोच्चारयति वक्तरि नाडिकायाः यस्याः नवपलानि स्रवन्ति तस्यः एव मध्यमायां वृत्तो द्वादशपलानि स्रवन्ति।······विलम्बितायां तु वृत्तौ षोडशपलानि स्रवन्ति (पा० सू० 1/1/17 पर महाभाष्य, कैयट)
2. द्रष्टव्य माण्डूकी शिक्षा : शिक्षा संग्रह, पृ० 463
3. डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा :
   A Critical Study in Phonetics Observations of Indian Grammarians, P. 172.

वेदाध्ययन में अभ्यास का महत्त्व

अभ्यास का अर्थ है—बार-बार दुहराना। वेदों के अध्ययन के लिए उनको बार-बार दुहराना आवश्यक होता है। इससे संस्कार बनता है जिससे अभ्यस्त वेदाध्ययन चिरस्थायी होता है। इस प्रकार अधीत वेद केवल इसी जन्म तक नहीं अपितु कई जन्मों तक स्मरण पटल पर स्वयं विद्यमान होता रहता है। अनभ्यास की विद्या विस्मृत हो जाती है, शास्त्रार्थ के अवसर पर उपस्थित नहीं होती, अतः वह विष के समान घातक सिद्ध होती है। किसी आचार्य ने कहा भी है—"अनभ्यासे विषं शास्त्रम्।" विद्या को चिरस्थायी बनाने हेतु उसका अभ्यास अत्यावश्यक है। या० शि० में वेदाभ्यास के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार ऊँचे तल वाला जल सरलता से नीचे तल पर आ जाता है उसी प्रकार शतवार दुहरायी गयी विद्या, बार-बार दुहराने से जिह्वाग्र पर आ जाती है।[1] तात्पर्य यह है कि बार-बार दुहरायी गयी विद्या सर्वदा याद रहती है तथा आवश्यकता पड़ने पर जिह्वा द्वारा बाहर निकलती रहती है। या० शि० के अनुसार बार-बार अध्ययन की गयी विद्या कभी नहीं भूलती। अधीत विद्या को थोड़ा दुहराने से याद तो हो जाती है किन्तु भूल भी जाती है, किन्तु बार-बार दुहराने से वह जन्मजन्मान्तर में भी नहीं भूलती।[2] वेदाध्ययन का अभ्यास करने से मन्दबुद्धि अध्येता भी विद्या को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार कोमल जल कठोर पत्थरों पर गिर कर उसे भी चूर-चूर कर देता है उसी प्रकार बार-बार अभ्यास करने से कठिन से भी कठिन विद्या याद हो जाती है।[3] बार-बार अभ्यास का तो इतना महत्त्व है कि चीटियाँ बार-बार अभ्यास करके मिट्टी के टिले बना देती हैं। अतः अभ्यास करके व्यक्ति थोड़ा-थोड़ा भी संस्कार डालता हुआ विद्या को प्राप्त कर सकता है।[4]

---

1. गुणितो शतशो विद्या सहस्रावर्तिता पुनः।
 आगमिष्यति जिह्वाग्रे स्थलं निम्नमिवोदकम्॥ (या० शि० 2/103)
2. शतेन गुणिता याति सहस्रेण च तिष्ठति।
 शतानां च सहस्रेण प्रेत्य चेह च तिष्ठति॥ (या० शि० 2/104)
3. जलमभ्यासयोगेन शैलानां कुरुते क्षयम्।
 कर्कशानां मृदुस्पर्शं किमभ्यासान्न साध्यते॥ (या० शि० 2/105)
4. यथा पिपीलिकाभिश्च क्रियते पांसुसञ्चयम्।
 न चात्र बलसामर्थ्यमुद्यमस्तत्र कारणम्॥ (या० शि० 2/106)

अध्ययन-कर्त्ता के लिए शयन-विधान

वेदाध्यायी के लिए अधिक समय तक शयन का निषेध किया गया है। उसे कम समय तक सोना चाहिए। इस शयन-काल में गहरी निद्रा नहीं लेनी चाहिए। उसे अर्ध-निद्रा में ही सोना चाहिए। या० शि० में इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार उत्तम जाति के घोड़े रात के आधे भाग में ही आधा सोते हैं उसी प्रकार विद्यार्थी को भी सोना चाहिए।[1] तात्पर्य यह है कि विद्यार्थियों को कम समय तक तथा अर्ध-निद्रा में सोना चाहिए। वस्तुतः अधिक जागने वाला अध्येता पाठ का अधिक से अधिक अभ्यास कर सकता है जिससे उसका अध्ययन चिरस्थायी होता है। अधिक देर तक सोने वाला व्यक्ति उतना अभ्यास न कर सकने के कारण अध्ययन कार्य में पूर्णतः सफल नहीं हो सकता। इसीलिए विद्यार्थियों के लिए श्वाननिद्रा वाला होने के लिए कहा गया है। जिस प्रकार सोते हुए भी कुत्ते जागते रहते हैं उसी प्रकार विद्यार्थियों के लिए भी गहननिद्रा तथा दीर्घसूत्रता निषिद्ध है।

अध्ययनकर्त्ता के लिए भोजन-विधान

या० शि० में विद्यार्थी के अल्प भोजन करने का विधान किया गया है। इसके अनुसार विद्यार्थी को आधा पेट भोजन करना चाहिए तथा तृतीय भाग जल से एवम् शेष चतुर्थ भाग वायु से भरना चाहिए।[2] वस्तुतः भोजन करने के पश्चात् शरीर में एक विशेष प्रकार की गर्मी उत्पन्न होती है जिससे शरीर में आलस्य तथा निद्रा आती है। आलस्य तथा निद्रा की अवस्था में अध्ययन का कार्य सुचारूरूपेण नहीं हो पाता। वह अभ्यास का कार्य करने में असमर्थ हो जाता है। इसीलिए अध्येता को कम भोजन करना चाहिए। इसीलिए या० शि० में अल्प-भोजन का विधान किया गया है।

विद्या-प्राप्ति के साधन

या० शि० में विद्या-प्राप्ति के तीन साधन बतलाये गये हैं—(1) गुरु-सेवा, (2) धन-व्यय तथा (3) अध्यापन।[3] गुरु की सेवा करके जो विद्या-

1. ह्यानासिव जात्यानामर्धरात्रार्धशायिनाम्।
नहि विद्यार्थिनां निद्राचिरं नेत्रेषु तिष्ठति॥ (या० शि० 2/108)
2. अन्नव्यञ्जनयोर्भागो तृतीयमुदकस्य च।
वायोः सञ्चरणार्थाय चतुर्थमुपकल्पयेत्॥ (या० शि० 2/109)
3. गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थ नोपलभ्यते॥ (या० शि० 2/112)

र्जन किया जाता है वह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। प्राचीनकाल में अध्येता गुरु-गृह में रहकर विद्यार्जन करता था, उसी के घर का उसका भोजन होता था। वह गुरु के घर उसके बेटे के समान रहकर उसकी सेवा करते हुए अध्ययन करता था। गुरुगृह में गुरुसेवा करते हुए अधीत विद्या अभीष्ट-फलदायिका तथा प्रयोजन-सिद्धिका होती है। गुरु के रुष्ट हो जाने पर उनसे अधीत विद्या निष्फल हो जाती है। इस तथ्य का उद्घाटन करते हुए या० शि० में कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि अपनी ज्वालाओं को शीघ्र समेट लेती है उसी प्रकार गुरु भी रुष्ट होने पर अपनी अध्यापित विद्या को ले लेता है। इसलिए गुरु को सदैव ब्रह्म-रूप में मानना चाहिए।[1] इससे स्पष्ट है कि गुरु को कभी भी रुष्ट नहीं करना चाहिए। उसके रुष्ट होने पर विद्या सर्वदा निष्फल रहती है। अधीत विद्या की सार्थकता हेतु गुरु को सदैव प्रसन्न रखना चाहिए। गुरु को प्रसन्ता के लिए गुरु-सेवा अत्यावश्यक है।

या० शि० में गुरु-सेवा के महत्त्व को बतलाते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार खनित्र (फावड़े) से बार-बार (कुएँ को) खोदता हुआ व्यक्ति ही पानी को प्राप्त कर सकता है उसी प्रकार गुरुसेवा करता हुआ व्यक्ति ही विद्या प्राप्त कर सकता है।[2] इससे स्पष्ट है कि विद्या-प्राप्ति हेतु गुरुसेवा आवश्यक है। इसके अनुसार गुरुसेवा के बिना प्राप्त की गयी विद्या, व्याख्यान अध्ययन इत्यादि वृद्धि के गुणों से युक्त होने पर भी उसी प्रकार फलवती नहीं होती है जिस प्रकार रूपवती वन्ध्या स्त्री फलवती नहीं होती है।[3] इसलिए गुरुसेवा से ही विद्यार्जन करने का विधान किया गया हैं।

अध्येता द्वारा वर्ज्य वस्तुएँ

वस्तुतः विद्या-प्राप्ति एक प्रकार की तपस्या है। तपस्या में मनुष्य को परिश्रम करना पड़ता है। परिश्रम में व्यक्ति को कष्ट होता है। सुख चाहने वाला व्यक्ति परिश्रम नहीं कर सकता। अतः सुखार्थी को विद्या-प्राप्ति नहीं हो

1. वह्नीर्जिह्वा यथा गृह्णात्यह्ना वह्निस्तथैव च।
ब्रह्मरूपं विजानीयाद् गुरुमेवात्मनः सदा ।। (या० शि० 2/113)
2. यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ।। (या० शि० 2/110)
3. शुश्रूषारहिता विद्या अपि मेधा गुणैर्युता।
बन्ध्येव युवती तस्य न विद्या फलिनी भवेत् ।। (या० शि० 2/111)

सकती। इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए या० शि० में कहा गया है कि यदि सुख की इच्छा हो तो विद्या को छोड़ देना चाहिए और यदि विद्या की इच्छा हो तो सुख का परित्याग करना चाहिए क्योंकि सुख को चाहने वाले को विद्या तथा विद्यार्थी को सुख कहाँ से मिल सकता है।[1] विद्यार्थी को जनसमूह, सम्मान तथा स्त्रियों का त्याग करना चाहिए। उसके अनुसार विद्या को प्राप्त करने वाले को जनसमूह से सर्प की भाँति, सम्मान से नरक की भाँति तथा स्त्रियों से राक्षसी की भाँति भयभीत होना चाहिए।[2]

अध्ययन में असमर्थ व्यक्ति

क्रोधी, जड़ बुद्धि, आलसी, रोगी तथा धारण-शक्ति से रहित व्यक्ति अध्ययन नहीं कर सकता। इस तथ्य का उद्घाटन या० शि० में किया गया है।[3] वस्तुतः अध्ययन में अभ्यास आवश्यक है। अभ्यास हेतु अध्येता की शारीरिक तथा मानसिक दोनों स्थितियाँ स्वस्थ होनी चाहिये। आलसी व्यक्ति तो आलस्य के कारण अभ्यास कर ही नहीं सकता। क्रोध की स्थिति में व्यक्ति अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठता है। रोगी व्यक्ति की शारीरिक तथा मानसिक-दोनों स्थितियाँ ठीक नहीं रहती। जड़ बुद्धि वाला विद्या को उचित प्रकार से ग्रहण नहीं कर पाता। धारण-शक्ति विहीन अध्येता बार-बार अभ्यास करके स्मृत विद्या को शीघ्र भूल जाता है। अतः उसका किया गया परिश्रम सफल नहीं हो पाता। इसीलिए उपरोक्त पाँचों प्रकार के व्यक्ति अध्ययन के योग्य नहीं माने जाते।

या० शि० के अनुसार कराल, लम्बोष्ठ, अव्यक्त, अनुनासिक, गद्गद तथा बद्धजिह्व व्यक्ति मन्त्रों के उच्चारण करने में असमर्थ होते हैं।[4] मन्त्रों के उच्चारण में शुद्धता अपेक्षित है। अभीष्ट-प्रतिपादन के लिए मन्त्रों की शुद्धता अतिआवश्यक है। उपरोक्त अवगुणों वाला व्यक्ति मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण

---

1. सुखार्थी चेत् त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी चेत् त्यजेत्सुखम्।
   सुखिनस्तु कुतो विद्या विद्यार्थिनि कुतः सुखम्॥ (या० शि० 2/102)
2. अहेरिव गणादभीतः सम्मानान् नरकादिव।
   राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्यः स विद्यामधिगच्छति॥ (या० शि० 2/100)
3. पञ्च विद्यां न गृह्णन्ति चण्डास्तब्धाश्च ये नराः।
   अलसा रोगिणश्चैव येषां च विस्मृतं मनः॥ (या० शि० 2/99)
4. न करालो न लम्बोष्ठो नाव्यक्तो नानुनासिकः।
   गद्गदो बद्धजिह्वाश्च न वर्णम् वक्तुमर्हति॥ (या० शि० 2/26)

नहीं कर पाता, जिससे वेद पठन में सफल नहीं हो पाता। जिसके दाँत बाहर निकले होते हैं वह व्यक्ति कराल कहलाता है। इस व्यक्ति को दन्तुर भी कहते हैं। दाँतों के बाहर निकले होने के कारण अथवा लम्बे-लम्बे दाँतों के होने के कारण व्यक्ति शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाता। ऐसे दाँत मन्त्रोच्चारण की शुद्धता में बाधक होते हैं। इसी प्रकार लम्बे होठों वाला व्यक्ति भी मन्त्रों के शुद्धोच्चारण करने में सफल नहीं होता। वर्णोच्चारण में प्रयुक्त जिह्वादि इन्द्रियों के सामान्य न होने पर भी व्यक्ति शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाता। अव्यक्त का अर्थ है—जिसकी इन्द्रियाँ स्वाभाविक रूप से विकसित न हुई हो। स्वाभाविक रूप से न विकसित इन्द्रियों वाला व्यक्ति भी शुद्ध उच्चारण नही कर पाता। कतिपय व्यक्ति सभी वर्णों का उच्चारण मुख के साथ-साथ नासिका से भी करते हैं। अतः अननुनासिक ध्वनियाँ भी अनुनासिक की भाँति उच्चारित हो जाती है। ऐसे व्यक्ति भी शुद्ध उच्चारण करने में सफल नहीं होते। कतिपय लोगों की वाणी साफ नहीं होती। उनकी वाणी गद्गद (तोतलापन वाली) होती है। कतिपय लोग बीच में रुक-रुक कर (हकला-कर) बोलते हैं जिन्हें बद्धजिह्व कहा जाता है। उपर्युक्त अवगुणों वाले व्यक्ति शुद्ध उच्चारण करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं अतः वे वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं होते।

वर्णोच्चारण में समर्थ व्यक्ति

जैसा पहले कहा जा चुका है कि सभी व्यक्ति वर्णो के शुद्ध उच्चारण में समर्थ नहीं होते। कुछ विशेष व्यक्ति ही वर्णो के उच्चारण के योग्य होते हैं। या० शि० के अनुसार जिसका स्वभाव कल्याणप्रद (सुन्दर) होता है जिसके दाँत तथा होंठ सुन्दर हों, जो प्रगल्भ (दक्ष) तथा विनयशाली हों, वही वर्णो का उच्चारण कर सकता है।[1] उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही वर्णों के उच्चारण में समर्थ होता है।

वेदपाठ के दोष

वेद का पाठ बड़ी सावधानी से करना चाहिए। थोड़ी असावधानी होने पर पाठ में दोष हो जाता है। इन दोषों का निर्देश या० शि० में किया गया है। इसके अनुसार वेद पाठ में ये चौदह अशुद्धियाँ हो सकती हैं—

1. प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दन्तोष्ठौ यस्य शोभनौ।
   प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान् वक्तुमर्हति ॥ (या० शि० 2/27)

शङ्कित, भीत, उद्घृष्ट, अव्यक्त, अनुनासिक, काकस्वर, मूर्ध्निगत, स्थान-विवर्जित, विस्वर, विरस, विश्लिष्ट, विषमाहत, व्याकुल तथा तालहीन ।[1] शङ्कित का अर्थ है वर्णों के प्रति सन्देह-ग्रस्त होना। पाठक को संहिता में विद्यमान वर्ण के विषय में सन्देह हो जाता है। जैसे—यज्ञ में यकार का उच्चारण जकार के समान होगा या यकार के समान। पाठक के सन्देह-ग्रस्त होने पर संहिता का शुद्धपाठ नहीं हो पाता। भीत का अर्थ है—डरा हुआ। पाठक को अपने उच्चारण के विषय में सन्देह युक्त होने से उसे भय बना रहता है कि उसके द्वारा किया गया उच्चारण कहीं अशुद्ध न हो। अतः वह वर्णों का उच्चारण सर्वदा भयभीत होकर करता है। उद्घृष्ट का अर्थ है—क्रोधी के समान बोलना। अव्यक्त का अर्थ है—साफ-साफ न बोलना। वर्णों का उच्चारण स्पष्ट करना चाहिए। उनका स्पष्ट उच्चारण न करना दोष-ग्रस्त होता है। कतिपय उच्चारण कर्त्ता अननुनासिक वर्णों के उच्चारण में भी नासिका का प्रयोग करते हैं जिससे उनके उच्चारण में अनुनासिकता आ जाती है जो असंगत है। ऐसा करने से अनुनासिक दोष हो जाता है। वेदपाठ मधुर ध्वनि में करना चाहिए। कण्ठ को दबा कर कड़वी आवाज मे मन्त्रोच्चारण नहीं करना चाहिए। ऐसा करना काकस्वर दोष है। अत्यन्त चिल्ला कर, जोर से उच्चारण करना मूर्ध्निगत दोष है। वर्णों का स्थान बदल कर उच्चारण करना स्थान-विवर्जित दोष है। जैसे—शकार का उच्चारण तालु से न करके दन्त या मूर्धा से करना स्थान-विवर्जित दोष है। उदात्तादि स्वरों से रहित मन्त्रपाठ विस्वर पाठ कहलाता है। विस्वर पाठ करने से मन्त्रों का ठीक-ठीक अर्थ लगाना कठिन हो जाता है। मधुरता से रहित रूखे स्वर से उच्चारण करना विरस दोष होता है। श्वास तोड़-तोड़ कर संहितास्थ प्रत्येक वर्णों का अलग-अलग उच्चारण करना विश्लिष्ट नामक दोष कहा जाता है। मात्रागत अशुद्धि विषमाहत दोष है। एक-मात्रिक ह्रस्व वर्ण का दीर्घ अथवा प्लुत, दो मात्रिक दीर्घ वर्ण का ह्रस्व अथवा प्लुत तथा त्रिमात्रिक प्लुत का ह्रस्व अथवा दीर्घ उच्चारण इस दोष के अन्तर्गत आता है. उद्विग्न होकर या किसी अन्य कारण से घबड़ा करना व्याकुल नामक

1. शङ्कितं भीतमुद्घृष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं मूर्ध्निगतं तथा स्थानविवर्जितम् ॥
विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम् ।
व्याकुलं तालहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश ॥
(या० शि० 2/28–29)

दोष है। किसी एक ही वृत्ति में मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिए। यदि द्रुत-वृत्ति में पाठ करना प्रारम्भ हो तो उसी वृत्ति में पूरा पाठ होना चाहिए। मन्त्र के किसी भाग का द्रुत, किसी भी भाग का मध्यम तथा किसी भाग का विलम्बित वृत्ति में पाठ नहीं करना चाहिए। ऐसा करना तालहीन नामक दोष कहलाता है।

शुक्लयजुर्वेद में ऋचाओं तथा यजुषों का निर्धारण

शुक्लयजुर्वेद में यजुष् मन्त्रों के साथ-साथ ऋचायें भी हैं। वासिष्ठी शिक्षा में शुक्लयजुर्वेदीय मन्त्रों में ऋचाओं तथा यजुषों का निर्धारण किया गया है। शिक्षाकार पहले ही अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ऋचा तथा यजुष् के लक्षण को ध्यान में रखकर शुक्लयजुर्वेद की संहिता के क्रम से वसिष्ठ के मतानुसार (ऋचाओं तथा यजुषों) का कथन कर रहा हूँ।[1]

शुक्लयजुर्वेद के प्रथम अध्याय के नवें अनुवाक में "पुराक्रूरस्य" यह एक ऋचा है। तदतिरिक्त इस अध्याय में सभी मन्त्र यजुष् हैं। इस प्रकार प्रथम अध्याय में एक सौ सत्रह यजुष् है।[2]

दूसरे अध्याय में "वीतिहोत्रम्" "एषा ते अग्ने" "मरुतां पृषती" "यम्परिधिम्" जिसके अन्त में "अग्नेः प्रियम्" यह यजुष् है, संस्रवभागा, जिसके अन्त में "स्वाहावाट्" यह यजुष् है; देवा गातुविद्—ये दो, "संवर्चसा" तथा "ये रूपाण्याधत्तं' ये दोनों दो दो ऋचायें हैं। अन्य छिहत्तर यजुष् हैं।[3]

तीसरे अध्याय में "समिधाग्निम्"—ये चार, आयङ्गोः—ये तीन, अग्निज्योतिः, ये सात, "उपप्रयत्न" "षडिन्धाना" ये सात, "सोमानम् नवागन्म"—ये तीन, "गृहाम"—ये चार, "उपहूता" "प्रधासिनः" ये चार "पूर्णा दविद्वे"

---

1. अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि वसिष्ठस्य मतं यथा।
सर्वानुक्रममुद्धृत्य ऋग्यजुषोस्तु लक्षणम्॥ (वासिष्ठी शिक्षा–1)
2. अध्याये प्रथमे नवमे अनुवाके पुराक्रूरस्येत्येका ऋगन्यादियजूंषि सर्वे मन्त्राः सप्तदशोत्तरशतं यजूंषि प्रथमे।
3. द्वितीयेऽध्याये वीतिहोत्रमित्येषा ते अग्न इति, मरुतां पृषतीरिति यम्परिधिमिति यजुरन्ताग्नेः प्रियं यजुः संस्रवभागा इति यजुरन्ता स्वाहा वाडिति यजुरेकेन सह मन्त्रं देवागातुविद् इति द्वे संवर्चसेति ये रूपाण्याधत्तेति द्वे द्वे द्वितीये द्वादशर्चः षट्सप्ततियजूंषि।

अक्षन्नमीमदन्त"—ये छः, "रुद्रम्" ये चार "एतत्ते रुद्र" "त्र्यायुषम्"—ये बासठ या तिरसठ ऋचायें हैं। इस अध्याय में शेष तैंतीस या चौंतीस यजुष् हैं।[1]

चतुर्थ अध्याय में "एदम्" ये दो, आवः, आपो देवी, "विश्वो देवस्य" देवीन्धियम्, श्वात्राः पीतो, "अग्ने त्वम्, त्वमग्ने वरव्यसि समख्ये, अभिन्त्यम्, परिमाने, ये दो, अस्तभ्ना द्याम्—ये चार, नमो मित्रस्य, या तै धामानि—ये बीस या इक्कीस ऋचायें तथा पैंसठ या छाछठ यजुष् मन्त्र हैं।[2]

पाँचवें अध्याय में भवतन्न ये दो, अंशुः, "युन्जत, ये तीन, विष्णोर्नु कम्—ये तीन; विष्णवे तु, परित्व, "त्वं सोम, ये पाँच जुषाणः, उरु विष्णोः"—दोनों स्थलों पर ये सत्रह ऋचायें तथा एक सौ पन्द्रह यजुष् है।[3]

छठे अध्याय में "या ते धामानि" "विष्णोः कर्माणि"—ये दो, इदमापो, देवत्वष्ट, यदाज्जरघ्न्या, हविष्मती" असूर्या, हृदे त्वा शृणोत्वमग्निः—ये चार,

---

1. तृतीयेऽध्याये समिधाग्निमिति चतस्रः आयङ्गौरिति तिस्रोऽग्निर्ज्योतिरिति सप्तगायत्र्यः पूर्वाः पञ्चैक पदान्तरे त्रिपदे उपप्रयन्त इति षडिन्धाना इति त्र्यवसाना महापंक्तिरूपाश्चेति सप्तगायत्र्यः अध्यायास्तिस्रस्त्रिपदा उत्तरा चतस्रो द्विपदा सोमानमिति नवागन्मेति तिस्रो गृहामेति चतस्र उपहूता इति त्र्यवसाना महापंक्तिः प्रधासिन इति चतस्रः पूर्णादविद्वे अक्षन्नमीमदन्तेति षडवरुद्रमिति चतस्र एतत्ते रुद्रेत्येकास्तारपक्तिर्जपयसुरित्येके त्र्यायुषमित्येषा तृतीय ऋचस्त्रिषष्टिद्विषष्टिर्वा चतुस्त्रिंशत् षट्त्रिशद्वा यजूषि।

2. चतुर्थेऽध्याये सदमिति द्वे अत्यष्टौ त्र्यवसाने आव इत्येकापो देवीरिति विश्वो देवस्येति देवीन्धियमिति श्वात्राः पीतो इति चाग्ने त्वमिति त्वमग्ने वरव्यसि समख्ये अभिन्त्यमित्येकेका परिमाग्ने इति द्वे अस्तभ्ना द्यामिति चतस्रो नमो मित्रस्येत्येका या ते धामानीति चैका चतुर्थे एकविंशतिर्विंशतिर्वा पञ्चषष्ठिर्यजूंषि षट्षष्टिर्वा।

3. पञ्चमेऽध्याये भवतन्न इति द्वे अंशुरिति प्रकृतिश्चतुरवसाना युञ्जत इति तिस्रो विष्णोर्नुकमिति तिस्र पूर्वे यजुरन्ते विष्णवे त्वेति यजुरुभयतः परित्वेत्येका त्वं सोमेति पञ्चाद्या गायत्र्यनवसाना जुषाण इत्येकपदा विराड्यजुरन्तोरु विष्णो इत्येषा वारद्वयं पञ्चमे सप्तदशर्चं पञ्चदशोत्तरशतानि यजूंषि।

यत्ते सोम, ये दो, प्रागपाग—ये दो, इस प्रकार कुल सत्रह ऋचायें तथा शेष 83 यजुष् हैं।[1]

सातवें अध्याय में "वाचस्पतये", अन्तस्ते, "वायो"—ये छः, सा प्रथमे त्वेकायवेन, ये देवासः, मूर्धानम्, ध्रुवन् ध्रुवेण ये दो, कोऽसि, इन्द्राग्नी आगतम्—ये दश, उदुत्यम्—ये चार, इस प्रकार तीस ऋचायें तथा 111 (एक सौ ग्यारह) यजुष् हैं।[2]

आठवें अध्याय में कदाचन—ये तीन, श्रदस्मा—ये दो, अहं परस्तात्, समिन्द्रा—ये सात, उरुं हि, अग्नेरनीकम्—ये तीन, एजतु—ये दो, मरुतो यस्य—ये दो, आतिष्ठेति—ये तीन, यस्मान्—ये दो, प्राणेन, अग्ने पवस्व—ये चार, आजिघ्र—ये दो, विन इन्द्र, वाचस्पतिम्—ये दो, उपसृजन्—ये दो, युवन्तम् ययोरोजम्, चतुस्त्रिंशन्तन्तवः—ये तीन इस प्रकार तैंतालिस ऋचायें तथा 104 यजुष् हैं।[3]

नवें अध्याय में देवसवितः, अपां रसम्, वाजस्य नु से अप्स्वन्तः तक, वातो वेति" ये तीन एषस्य ये छः, वाजस्येमाम्—ये सात, अग्ने सहस्व—इस प्रकार बाइस ऋचायें, 84 यजुष् हैं।[4]

---

1. षष्ठेऽध्याये या ते धामानीत्येका विष्णोः कर्माणीति द्वे इदमाणे महापंक्तिस्त्र्यवसाना देवत्त्वष्टरित्येका यदाज्जरग्ध्न्या इत्यवसाना गायत्री चैका हविष्मतीरित्येका असूर्या इत्येका हृदे त्वां श्रृणोत्वमग्निरिति चतस्रो यत्ते सोमेति द्वे प्रागपागिति द्वे षष्ठे ऋचः सप्तदश त्र्यशीतिर्यजूंषि।
2. सप्तमेऽध्याये वाचस्पतये इत्येकान्तस्वे इत्येका वायविति षड्यजुरन्ता सा प्रथमे त्वेकायंवेन इति यजुरन्ते ये दवास इत्येका मूर्धानमित्येका ध्रुवन्ध्रुवेणेति द्वे को सीत्येका इन्द्राग्नी आगतमिति दश यजुरन्ता उदुत्यमिति चतस्र सप्त ऋचस्त्रिंशदेकादशोत्तरयजूंषि।
3. अष्टमेऽध्याये कदाचनेति तिस्रो यजुरन्तादित्येभ्यस्त्वेति यजुः श्रदस्मा इति द्वे अहं परस्तादित्येका समिन्द्रेति सप्तोरुं हीत्येकाग्नेरनीकमिति तिस्र एजतु द्वे पूर्वा त्र्यवसाना महापंक्तिर्मरुतो यस्येति द्वे आतिष्ठेति यजुरन्तास्तिस्रो यस्मान्नेति द्वे द्वितीया यजुरन्ता सह प्राणेनेति यजुरग्ने पवस्वेति चतस्रो यजुरन्ता जिघ्रेति द्वे विन इन्द्रेति वाचस्पतिमिति द्वे तिस्रोऽपि यजुरन्ता उपसृजन्निति द्वे युवन्तमिति त्र्यवसाने त्यष्टिर्ययोरोजमेत्येका चतुस्त्रिंशत्तन्तवः इति तिस्रोऽष्टमे त्रिचत्वारिंशत्योः यजुंषि त्रिचतुरुत्तरशतम्।
4. नवमेऽध्याये देवसविरित्येकापां रसमिति यजुरन्ते वाजस्य चित्येकाप्स्वन्तरवमाना पुर उष्णिगति वातो वेति तिस्र एषस्येति षड्वाजस्येमामिति सप्ताग्ने सहस्वेति चैका नवमे ऋचो द्वाविंशतिर्यजूंषि चतुरशीतिः।

दशवें अध्याय में अपो देवा, "सद्यमाद" हिरण्यरूपो, प्रपर्वतस्य, प्रजापतेन" मात इन्द्रेण, हंस, निषसाद तथा वायुः पूत—ये चार इस प्रकार कुल बारह ऋचायें तथा 102 यजुष् हैं।[1]

ग्यारहवें अध्याय में "युञ्जान" ये आठ, हस्ता आधाराय" प्रतूर्त्तम्—ये चार अन्वग्नि—ये ग्यारह, अपां पृष्टम्—ये तीन "त्वामग्ने" ये छः "अपोदेवी—ये दश, ओषधयः ये तीन, आपोहि ष्ठा—ये तीन, मित्र—ये पाँच, कृत्वाय" मित्रस्य—ये तीन तथा विश्वेदेवस्य से लेकर अध्याय की समाप्ति तक सत्रह—इस प्रकार कुल छिहत्तर ऋचायें तथा छब्बीस यजुष् हैं।[2]

बारहवें अध्याय में विष्णोः क्रमौऽसि, ये चार, "हंसः शुचिसद्" में "ऋतजा" स बोधि सूरि, अन्त में विश्वकर्मणे स्वाहा, संज्ञानसि, अग्नेर्भस्मासि चितस्त्य, चिदसि, ये दो "सजूरब्द" ये बारह यजुष् हैं। शेष सभी 114 ऋचायें हैं।[3]

तेरहवें अध्याय में "मयि गृह्णाणिम—ये चार, अषाढासि" मधुवाता—ये ग्यारह, सम्यक्सवन्ति—ये नव "इमं मा हिंसीः—ये छः तथा अध्याय के अन्त

---

1. दशमेऽध्याये अपो देवा इत्येका सद्यमाद इत्येका हिरण्यरूपावित्येका यजुरन्ता मित्रोऽसि वरुणोऽसि यजुः प्रपर्वतस्योत्येका प्रजापतेनेत्येव यजुर्मध्यायमनुष्य यजुमति इन्देत्येका निषसादेत्येका वायुः पूत इति चतस्रो दशमे ऋचो द्वादश यजूंषि द्विरुत्तरशतम्।

2. एकादशेऽध्याये युञ्जान इत्यष्टो ऋचा स्तोममित्यवसाना गायत्री हस्तआधायेत्येका यजुरन्तानुष्टुभेनेति यजुः प्रतूर्तमिति चतुसोऽन्त्या यजुगर्भोर्वंतरिक्षमिति यजुरग्निरित्येकादशापाम्पृष्ठामिति तिस्रस्त्वामग्ने इति षडपोदेवीरिति दश नवमी त्र्यवसानान्त्येकपदोषधय इति तिस्र आपो हिष्ठेति तिस्रो मित्रेति कृत्वायेत्येका मित्रस्येति तिस्रो विश्वो देवस्याध्यायान्ताः सप्तदशैकादशे ऋचः षट्सप्ततिर्यजूंषि षड्विंशतिः।

3. द्वादशेऽध्याये ऋचां वाजहन्त्याद्यजूंषि दोग्धियन्ते शेषा ऋचो, विष्णोः क्रमोऽसीति चत्वारि हंसः शुचिसदित्यृतजा यजुः स बोधि सूरिरित्यन्ते विश्वकर्मणे स्वाहेति यजुः संज्ञानमसीत्यग्नेर्भस्मासीति चियस्त्येति चिदसीति द्वे सजूरब्द इति विराडेकपदा द्वादश यजूंषि द्वादशे ऋचश्चचतुर्दशोत्तरशतम्।

में लोकम्पृण" ता" मस्येन्द्र विश्वास में प्रतीक रूप से उद्धृत लोकम्पृण "ता अस्येन्द्रम्" तथा विश्वास—इस प्रकार बावन ऋचायें तथा 87 यजुष् है ।[1]

चौदहवें अध्याय में ध्रुवक्षिति—इन पाँच में से चार के अन्त में मूर्द्धा वयः, अध्याय के अन्तिम अनुवाक में लोकन्ता इन्द्रम्—ये तीन, इन्द्राग्नी मूर्धासि—ये दो के मध्य में चौदह यजुष् हैं। इस प्रकार चौदहवें अध्याय में लोकन्ता इन्द्रम्—इन तीन प्रतीकों को छोड़ कर सत्रह ऋचायें हैं तथा 154 यजुष् हैं ।[2]

पन्द्रहवें अध्याय में "अग्ने जातान्" ये दो "अग्नेः पुरीष्यम्, अग्निमूर्द्धा—ये इकतीस, अग्ने त्वन्न—ये तीन, येन ऋषयो—ये आठ, लोकम्पृण—ये चार इस प्रकार 46 ऋचाएँ तथा नब्बे यजुष् हैं ।[3]

सोलहवें अध्याय में "नमस्ते—ये सोलह, द्रापेऽन्धसस्पते—ये सत्रह इस प्रकार कुल 33 ऋचाएँ तथा 129 यजुष् हैं ।[4]

सत्रहवें अध्याय में "अश्मन्नूर्जम्" ये चार "इमा मेऽग्न, नृषदे वेट्—ये पाँच, ऐन्द्रं देवीः—ये 11 यजुष् हैं, शेष 25 ऋचायें हैं ।[5]

---

1. त्रयोदशेऽध्याये मयि गृह्णामीति चतस्रोऽषाढासीत्येका मधुवाता इत्येकादश सम्यक् स्रवन्तीति नवेमं मा हिंसीरिति षडाद्यानां पञ्चानामन्तेषु द्वे द्वे यजूंष्यध्यायान्ते लोकन्ता इन्द्रमिति तिस्रः प्रतीकोक्ता लोकम्पृण ता अस्येन्द्रं विश्वास इति त्रयोदशे ऋचो द्वापञ्चाशद्यजूंषि ।
2. चतुर्दशेऽध्याये ध्रुवक्षितिरिति पञ्च चतस्रो यजुरन्ता मूर्धावय इत्यनुवाकान्ते लोकन्ता इन्द्रमिति तिस्रः इन्द्राग्नी इत्येका मूर्धासीति द्वे तयोर्मध्ये चतुर्दशं यजूंषि छन्दोवन्धेन सगृह्य सम्पद्यन्ते लोकन्ता इन्द्रमिति तिस्र चतुर्दशे प्रतीकोपादानाम् वर्जयित्वा ऋचो अष्टो सह सप्तदश यजूंषि चतुष्पञ्चाशदुत्तरं शतम् ।
3. पञ्चदशेऽध्यायेऽग्नेजातानिति द्वे अग्नेः पुरीष्यमित्येकाग्निमूर्द्धेत्येकत्रिंशत्तत्राग्निहोतारमिति त्र्यवसाना अग्ने त्वन्न इति द्विपदास्तिस्रो येन ऋषयोऽष्टौ लोकम्पृणेति चतस्रः पञ्चदशे ऋचः षट्चत्वारिंशद्यजूंषि नवतिः ।
4 षोडशेऽध्याये नमस्त इति षोडश द्रापेऽन्धसस्पत इति सप्तदश षोडशे ऋतस्त्रयस्त्रिंशदुत्तरं शतम् ।
5. सप्तदशेऽध्यायेऽश्मन्नूर्जमिति चत्वारीमा मेऽग्न" नृषदे वेडिति पञ्चेन्द्रं देवीरित्येकमित्युद्धतानि यजूंष्येकादशर्चः पञ्चनवतिः ।

अट्ठारहवें अध्याय में "वाजस्य नु" ये सात, स नो भुवनस्य यास्त—ये चार अग्निं युनज्मि से अध्यायपर्यन्त छत्तीस ऋचायें तथा 268 यजुष् हैं।[1]

उन्नीसवें अध्याय में "स्वाद्वीनत्वा—यह यजुष् है, परीत—ये चार, ब्रह्मक्षत्रम्—ये दो, नाना हि, या व्याघ्रम्—ये अध्याय पर्यन्त 84 पितृभ्यः, तवेदं हवि, रेतोमूत्तंम्—ये दो इस प्रकार 94 ऋचाएँ तथा 30 यजुष् हैं।[2]

बीसवें अध्याय में "क्षत्रस्य योनिः" निषसाद "कोऽसि" ये छः "त्रया देवा" लोमानि "यद्देवा, ये तीन" "समुद्र ते द्रुपदा दिवम्" ये तीन, समावर्ती तथा अभ्यादधामि—से अध्याय पर्यन्त 84 ऋचायें तथा 14 यजुष् हैं।[3]

इक्कीसवें अध्याय में "इमम्मे वरुण" ये 28 ऋचाएँ शेष "होता यक्षत्" से अध्याय पर्यन्त यजुष् हैं। इस प्रकार 28 ऋचाएँ तथा 33 यजुष् हैं।[4]

बाइसवें अध्याय में इमामगृभ्णन्, यो अर्वन्तम् "तत्सवितुः" ये दस, इस प्रकार 10 ऋचाएँ तथा 113 यजुष् हैं।[5]

तेइसवें अध्याय में "हिरण्यगर्भ" "उत्सक्थ्या अव गुदम्" से अध्याय पर्यन्त, इस प्रकार कुल 58 ऋचाएँ तथा 24 यजुष् हैं।[6]

---

1. अष्टादशेऽध्याये वाजस्यन्विति सप्त स नो भुवन्सयेत्येका यादत्त इति चतस्रोऽग्नि युनज्मीत्याध्यायान्त ऋचो नामेत्युद्धृत्यजुर्यजुरेका परं सप्तविंशत्यष्टादशे ऋचः षट्त्रिंशद्यजूंषि अष्टषष्टिस्त्रीणिशतानि ॥
2. एकोनविंशेऽध्याये स्वाद्वीनत्वा यजुरित्येका परीत इति चतस्रो ब्रह्मक्षत्रमिति द्वे नाना हीत्येका या व्याघ्रमिति अध्यायान्ताश्चतुरशीतिः पितृभ्य इत्युद्धृत्य तवेदं हविरिति त्र्यवसाना महापंक्तीरेतो मूत्तंमिति द्वे त्र्यवसाने अवसाने अयकारी एकोनविंशे ऋचश्चतुर्णवति यजूंषि त्रिंशत्।
3. विंशतितमेऽध्याये त्रस्य योनिद्विपदा गायत्री निषसादेत्येका कोऽसीति षडन्त्या त्र्यवसाना महापंक्तिस्त्रया देवा इति त्र्यवसाना पंक्तिलोमानीत्येका यद्देवा इति तिस्रः समावर्तीत्येकाभ्यादधामीत्यध्यायान्त्यः षड्वृष्टिभ्य उपयामेति यजुर्विंशतितमे ऋचश्चतुरशीति यजूंषि चतुर्दश।
4. एकविंशतितमेऽध्याये इमम्मे वरुणेति विंशति ऋचः शेषाणि होता यक्षदित्यारभ्याध्यायान्ताति यजूंषि त्रयस्त्रिंशदृचोऽष्टाविंशतिर्यजूंषि त्रयस्त्रिंशत्।
5. द्वाविंशतितमेऽध्याये इमामगृभ्णन्नित्येका यौ अर्वन्तमिति च तत्सवितुरिति दश त्रयोदशोत्तरं शतं यजूंषि।
6. त्रयोविंशतितमेऽध्याये हिरण्यगर्भ इत्युत्सवक्थ्या अवगुदमित्यायान्तः पञ्चत्वारिंशत् त्रयोविंशे ऋचोऽष्टापञ्चाशद्यजूंषि चतुर्विंशति।

चौबीसवें अध्याय में "अश्वस्तूपर" से लेकर अध्याय समाप्ति तक सभी यजुष् हैं।[1]

पच्चीसवें अध्याय में शादन्ददि्म, से लेकर त्वचा तक सभी यजुष् हैं। "जुम्बकाय" तथा हिरण्यगर्भ से लेकर हविष्मान् तक छत्तीस, "इमानुकम्" ये छः इस प्रकार इसमें 43 ऋचायें हैं तथा 25 यजुष् हैं।[2]

छब्बीसवें अध्याय में प्रियो देवानां, "वृहस्पते अति, से लेकर अध्याय पर्यन्त चौवीस—इस प्रकार पच्चीस ऋचाएँ हैं तथा 15 यजुष् हैं।[3]

सत्ताइसवें अध्याय में "समात्वाग्ने" ये दश, उर्द्धा अस्य "ये बारह, पीवोऽन्नान्" ये बारह "अभित्वा" ये दश, इस प्रकार 44 ऋचायें हैं तथा संवत्सरोऽसि यह एक यजुष् हैं।[4]

अट्ठाइसवें अध्याय में होता यक्षत् इत्यादि सभी 46 यजुष् हैं।[5] उन्तीसवें अध्याय में "समिद्धो अञ्जन्" ये सत्तावन ऋचाएँ हैं। "कृष्णग्रीवा" से लेकर अध्याय-पर्यन्त 32 यजुष् हैं।[6]

तीसवें अध्याय में "देवसवितः" ये तीन ऋचाएँ हैं। इसके बाद सभी अध्यायान्त तक 177 यजुष् हैं।[7]

---

1. चतुर्विंशतितमेऽध्याये अश्वस्तूपर इत्यारभ्याध्यायान्तानि सर्वाणि यजूंषि।
2. पञ्चविंशतितमेऽध्याये शादन्ददि्मरित्यारभ्य त्वचेत्यन्तं सर्वाणि यजूंषि जुम्बकायेति द्विपदा हिरण्यगर्भ इत्यारभ्य हविष्मानित्यन्ताः षट्त्रिंशदृच इमा नु कमिति षड् द्विपदा पञ्चविंश ऋचस्त्रिचत्वारिंशत्।
3. षड्विंशेऽध्याये प्रियो देवानामित्येका नवसाना वृहस्पते अतीत्यध्यायान्ताश्चतुर्विंशति षड्विंशे ऋतः पञ्चविंशति सप्तयजूंषि अष्टौ यजुरन्ता।
4. सप्तविंशतितमेऽध्याये समास्त्वाग्ने इति दशोर्द्धा अस्येति द्वादश पीवोऽन्नानिति द्वादशाभित्वा दश संवत्सरोऽसीति यजुरेकं सप्तविंशे ऋचश्चतुरश्चत्वारिंशद्यजुरेकम्।
5. अष्टाविंशतितमेऽध्याये होता यक्षदित्यादीनि यजूंष्येवं सर्वाणि यजूंषि षट्चत्वारिंशत्।
6. एकोनविंशेऽध्याये समिद्धोऽञ्जन्निति सप्तपञ्चाशदृच आग्नेयः कृष्णग्रीव इत्यारभ्याध्यायान्तानि द्वात्रिंशद्यजूंषि।
7. त्रिंशत्तमेऽध्याये देव सवितरिति तिस्रः पराणि सर्वाण्यध्यायान्तानि सप्तसप्तत्युत्तरं शतं यजूंषि।

इकतीसवें अध्याय में "सहस्रशीर्षा" आदि सभी ऋचाएँ हैं[1], बत्तीसवें अध्याय में "तदेवाग्नि" इत्यादि सोलह ऋचाएँ हैं तथा "हिरण्यगर्भः" यः प्राणतो यस्येमे, यं आक्तमदा, ये चार तथा "मा मा हिंसीत्" "यस्मान्न जात" ये दो, आपो ह यश्चिद् ये दो—इतने प्रतीकों के साथ पचीस ऋचाएँ हैं।[2]

तैंसीसवें अध्याय में "अस्या जरासः" इत्यादि से लेकर अध्याय पर्यन्त सभी बाइस ऋचाएँ हैं। प्रतीकों सहित 119 ऋचाएँ हैं।[3]

चौतीसवें अध्याय में "यज्जाग्रत" इत्यादि से लेकर अध्यायपर्यन्त 58 ऋचाएँ हैं तथा चार प्रतीकों सहित बासठ ऋचाएँ हैं।[4]

पैंतीसवें अध्याय में "अपेतो यान्तु" इत्यादि 21 ऋचायें तथा द्युभिरह्रोभि "वायुपुनातु" ये चार यजुष् हैं।[5]

छत्तीसवें अध्याय में "यन्म" "तत्सवितुः" ये छः "इन्द्रो विश्वस्य शन्नो मित्र, ये नव, अहर्निशम्, "नमस्ते" ये तीन, तच्चक्षुः—ये बीस ऋचाएँ तथा बीस या इक्कीस यजुष् हैं।[6]

सैंतीसवें अध्याय में "युञ्जत" प्रैतु धर्ता दिवे, हृदे, इस प्रकार पांच ऋचायें तथा 31 यजुष् हैं।[7]

---

1. एकत्रिंशत्तमेऽध्याये सहस्रशीर्षेति द्वाविंशति ऋच एव।
2. द्वात्रिंशत्तमेऽध्याये तदेवाग्निरित्यादय षोडशर्चस्तत्र तृतीया न तस्य प्रतिमेति द्विपदा गायत्री हिरण्यगर्भो यः प्राणतो यस्येमे य आक्तमदा इति चतस्रो मा मा हिंसीदित्येका यस्मान्न आत इति द्वे आपो ह यश्चिदिति द्वे एताः प्रतीकोक्ताः सह पञ्चविंशतिरेव।
3. त्रयस्त्रिंशत्तमेऽध्यायेऽस्या जरासः इत्याद्यध्यायान्ताः सर्वाः ऋचः एव द्वाविंशतिः प्रतीकोक्ताः सहैकोनविंशति शतमृच एव।
4. चतुस्त्रिंशत्तमेऽध्याये यज्जाग्रत इत्येवमादयोऽध्यायपर्यन्ताः अष्टापञ्चाशदृच एव चतस्रः प्रतीकोक्ता सह द्वाषष्टिऋऽच एत्र।
5. पञ्चत्रिंशत्तमेऽध्यायेऽपेतो यान्त्वित्यादय एकविंशति ऋचो द्युभि रह्रोभिरित्येकं यजुर्वायुः पुनात्विति चत्वारि यजूंषि अप न इत्येकमेकविंशदृचः षड्यजूंषि।
6. षट्त्रिंशत्तमेऽध्याये यन्म इत्येका तत्सवितुरिति षडिन्द्रो विश्वस्य विराड् द्विपदा शन्नो मित्र इति नवाहानिशमिति द्विपदा नमस्त इति तिस्रस्तच्चक्षुरित्येका यजुर्मध्या पुरस्ताद्यजुर्यजुरन्ता षट्त्रिंशे विंशति ऋचो यजूंषि चैकविंशतिर्द्वाविंशतिर्वा।
7. सप्तत्रिंशत्तमेऽध्याये युञ्जत इत्येका प्रेत्वित्येका धर्त्ता दिव इति द्वे हृदे त्वेका सप्तविंशे पञ्चर्चो यजंष्येकात्रिंशत्।

अड़तीसवें अध्याय में "यस्ते स्तन" विश्वा आशा, अश्विना घर्मम् ये दो, अभीमम् ये दो, क्षत्रस्य तु—ये चार, उदयम्" यावती, ये दो, पयसो रेत इस प्रकार 13 या 14 ऋचायें तथा 52 यजुष् हैं।[1]

उनतालिसवें अध्याय में "मनसः कामम्" उग्रश्च भीमश्च"—इस प्रकार दो ऋचायें तथा 107 यजुष् हैं।[2]

चालीसवें अध्याय में "ईशावास्यम्"—ये चौदह, अग्ने नय ये दो, इस प्रकार 17 ऋचाएँ हैं। "वायुरनिलम्" ये दो यजुष् हैं अथवा "ओ३म्" यह गायत्री है। क्रतो—ये तीन यजुष् हैं। "हिरण्मयेन पात्रेण" अथवा "खम्ब्रह्म" इस प्रकार कुल सात यजुष् हैं।[3]

शुक्लयजुर्वेद संहिता में अवसान

"संहितायामेकप्राणभावे" के अनुसार संहिता विषयक सभी विधान एक श्वास से उच्चारित होने वाली संहिता में लागू होते हैं तत्पश्चात् उस संहिता का अवसान हो जाता है तथा पुनः दूसरी संहिता का प्रारम्भ होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अध्येता अपनी इच्छानुसार मन्त्र में कहीं भी श्वाँस तोड़ कर अवसान कर सकता है। इसके लिए प्राचीन आचार्यों ने निर्देश किया है। उस निर्देश के अनुसार ही मन्त्र में अवसान किया जाना चाहिए। शुक्लयजुर्वेद-संहिता के अवसान के विषय में अनन्तदेव ने निर्देश किया है। उनका यह निर्देश अपना नहीं प्रत्युत उनसे भी पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा दिए गये हैं। उनके द्वारा निर्दिष्ट अवसान इस प्रकार है—

1—अन्त्यावसान मन्त्र

शुक्लयजुर्वेद संहिता में निम्नलिखित संकेतों से प्रारम्भ होने वाले मन्त्रों के अन्त में अवसान होता है—

---

1. अष्टत्रिंशे यस्ते स्तन इत्येका विश्वास आशा इत्येक श्विनाधर्ममिदि द्वे अभीममिति द्वे गायत्री बृहत्यो मध्ये नवसानातिशक्वरी वा समस्तत्र्यवसाना मित्रस्यत्वेति चतस्र उदयमित्येका यावती द्वे पयसो रेत इति गायत्र्यनवसाना चैकेत्यष्टत्रिंशे त्रयोदश चतुर्दश वा ऋचो यजूंषि द्वापञ्चाशत्।
2. एकोनचत्वारिंशत्तमेऽध्याये मनसः काममित्येकोग्रन्थश्च भीमश्चेति च नवत्रिंशत्तमे ऋचो द्वे यजूंषि सप्तोत्तरशतम्।
3. चत्वारिंशत्तमेऽध्याये ईशावास्यमिति चतुर्दशाग्ने नयेति च द्वे इति सप्तदशर्चो वायुरनिलमिति द्वे यजुषी ओमिति वा गायत्री क्रतो इति त्रीणि यजूंषि हिरण्यमयेन पात्रेणेति वा खम्ब्रह्मेति चत्वारिंशत्तमे यजूंषि सप्त।

इषे त्वा, भूताय, कुक्कुटोऽसि, जनयत्ये, त्वा, मा भेः, पृथिवी देवयजन्या, अदित्ये व्युन्दनन्, अस्कम्भनम्, अद्याग्ने, वेरग्ने, अदब्धायाः, दिवि विष्णुः, अग्ने व्रतपते, अन्धः, एष ते रुद्रभागा, स्वाहायज्ञमेष, ते गायत्रो, वरुणस्योत्तम्भनम् अग्नेस्तनूः, सिंह्यसि, इन्द्रघोषस्त्वा, ध्रुवोऽसि, रक्षोहणं वलगहनम्, स्वराऽसि, रक्षोहणो नो, मित्रस्य मा, देवी रापो, वाचन्ते, समुदङ्गच्छ, मनो मे तर्पयत, स्वाङ्कृतोऽसि, उपयामृगहीतोऽस्याग्रयणः, सोम पवते, मित्रावरणाभ्यान्त्वा, आत्मने मे, मघवे त्वा, अग्नयेत्वा मह्यम्, यस्ते अश्वसनिः अग्नये त्वा, त्रेशीनान्त्वा, उशिक्त्वं, देवान्दिवं, मापये स्वाहा, अग्निरेकाक्षरेण, मित्रो, वसवस्त्रयोदशाक्षरेण, एष ते, ये देवा, आविर्मर्या, ऊर्ध्वामारोह, अग्निः पृथुः, सवित्रा प्रसवित्रा, पृथिव्या सधस्त्था, वसवस्त्वा—ये दो, अदितिष्ट्वा, वसवस्त्वा, आकूतिमग्निम्, विष्णोः क्रमः, चिदसि, अपान्त्वा, यम्पुरः—ये पाँच, सजूऋतुभिः, अनड्वान्वयोः, यज्ञ्यसि आयुर्मे, पृथिवीच्छन्दो, अग्निदेवता, आशुस्त्रिण्वन्, नवविंशत्यास्तुवताच्छन्द, तन्तुना रायः, त्रिवृदसि, राज्ञसि, विराडसि, सम्राडसि, स्वराडसि, अधिपन्त्यसि, सहस्रस्य प्रभा, सेनाभ्य, आशवे, शङ्कवे, सम्भवाय, पर्यायेमा, मे, नृपदे वेट, वाजश्च—ये सत्ताइस, समुद्रोऽसि, स्वर्ण धर्मः, तेजोऽसि, प्रथमा द्वितीयैः, अश्वि-भ्यान्त्वा, होता यक्षत्, समिधाग्निः—ये बारह अश्विनो, सरस्वतीम्—ये चार, अग्निं स्विष्टकृतम्, देवो अग्निः स्विष्टकृत्, त्वामद्य, अग्नये स्वाहा, हिङ्काराया, य ते काया, ब्रह्मन् से अध्यायं पर्यन्त ता उभो अश्वस्तूपरः से अध्याय पर्यन्त, शादन्द-द्भिः—ये नव, आग्नेयः कृष्णग्रीवः—ये तीन, ब्रह्मणे ब्राह्मणा—ये सत्रह, सुमि-त्रिया नः, सुमित्रिया नः एधोऽसि ।[1]

त्र्यवसान

अधोलिखित संकेत वाले मन्त्रों में तीन अवसान होते हैं—अग्ने ब्रह्म, संव-पामि, पुरा क्रूरस्य, सवितुस्त्वा, गन्धर्वस्त्वा, उपहूतो द्यौः, युष्मा इन्द्रः, एषा ते, वसुभ्यस्त्वा, वेदो सि, अग्निर्ज्योतिः संहितासि, उपहूता इह,—ये दो, आकूत्ये प्रयुज, उर्गसि—ये दो त्वमग्ने, अभित्यम्, अदित्यास्त्वा, भद्रो मे, तप्तायनी मे, देवस्य त्वा, अत्यन्याम्, घृतेनाक्तो, मनस्त, इदमाप, ऐन्द्रः प्राणो, मापो, अग्नेर्वः, सोमराजन्, इन्द्रवायु इमे, अयं वाप्या, वाङ्कशा, तम्प्रत्क्रथा यं, वे नो, ध्रुवोऽसि, कोऽसि, इन्द्राग्नी आगतम्—ये पाँच, सजोषा इन्द्र—ये चार, विवस्वान्नादित्य, बृहस्पतिसुतस्य, एजतु दशमास्य, आतिष्ठ—ये तीन उदुत्यम्, वि न इन्द्र—ये तीन,

1. द्रष्टव्य–अवसान–निर्णय शिक्षा (3–4)

इह रतिः, ध्रुवसदन्त्वा, ग्रहा ऊर्जाहुतय, इन्द्रस्य व्रजो, जवोयस्ते, आभावाजस्य, अस्मे वः, क्षत्रस्योल्वम्, प्रपर्वतस्य, प्रजापते न, अश्विभ्याम्, पच्यस्व, कुविदङ्ग, पुरीष्यः, ऋतं सत्यम्, उखाङ्कृणोतु, अदित्येरास्नासि, अर्द्धोभव, अग्निमूर्धाः, मधुश्चेमं, इमं मा—ये दो, शुक्रश्च, विश्वकर्मा—ये दो, नभश्च, एषश्च षोडशीस्तोमो, अग्निं होतारम्, अग्नेत्व, तपश्च, परमेष्ठी त्वा, ये दो, नमोऽस्तु—ये तीन, आयुर्यज्ञेन, स्वाद्वीन्त्वा, कुविदङ्ग, यदा पिपेष, इदं हवी, रेतोमूत्रम्, दृष्वारूपे, निषसाद, नाभिर्मे, त्रया देवा, यदापो, अश्विनो छागस्य, प्रजापतये, त्वा, अग्निः पशुः, प्राणाय स्वाहा, इमा नु कम्—ये दो, अग्निश्च—ये आठ, यङ्क्रन्दसी, आ सुते, कुतस्त्वम्, अधिनो, दस्रा युवाववो, देव्यावध्वर्यू अस्येदिन्द्रो, ब्रह्मणस्पते, अपेतः स्योना पृथिवी, भुर्भुवो, अहानिशम्, दृते दृंह, यमाय त्वा, अनाधृष्टा, पुरस्ताद्, विश्वासां भुवां पते, यस्ते स्तनो, गायत्रीच्छन्दः, समुद्राय त्वा, भीमं पयसो रेतः, स्वाहा प्राणेभ्यः, लोमभ्यः स्वाहा ।[1]

चतुरवसान

अधोलिखित सांकेतिक मन्त्र चतुरवसान वाले हैं—

प्रत्युष्टं रक्षः, अग्नीषोमयोरुज्जितिम्, सजूर्देवेनं; इन्धानास्त्वा त्र्यम्बकं यजामहे, अंशुरं शुष्टे, या ते धामानि, उश्मसि, देवस्य त्वा, अग्नीषोमाभ्यां, मरुत्वन्तं वृषभं, महिभूः, अग्ने पवस्व, उत्तिष्ठन्नोजसा, अदृभमस्य केतवो, युवन्तम्, देवास्या हं, ज्योतिष्मन्तं, प्रेतु, सुपर्णो मि विराड्ज्योतिः इमं साहस्रम्—ये तीन, वायोः पूतः, पुनन्तु मा पितर एधेऽसि, संवत्सरो—सि; अग्निमत्—ये दो, इन्द्रस्योजस्त्थ, ऋजवे त्वा, स्वाहा रुद्राय, हिरण्मयेन पात्रेण ।[2]

निरवसान वाले मन्त्र

अधोलिखित सङ्केत वाले मन्त्र निरवसान (अवसान रहित) वाले हैं—कृष्णोऽसि, नमो वः, उशिगसि, समुद्रोऽसि, मधुमतीर्न, इषः, प्राणाय, परमेष्ठभिधीत, इन्द्रश्च, प्रोह्यमाणः सोमो, विश्वेदेवा—ये दो, अग्निरेकाक्षरेण, पूषा पञ्चाक्षरेण, मित्रो नवाक्षरेण, वृष्णा ऊर्मिः, अर्थे तस्था, वेष्टा दन्दशूका, दक्षिणा मारोह, प्रतीचीम्, उदीचीम्, मूर्ध्वा, त्रयो मा छन्दे, अग्ने भागोऽसि, वसूनां यवानाम्, एकया स्तुवन्तः—ये नो, एव छन्दो रश्मिना सत्याय, प्रतिपदसि, नमो

1. द्रष्टव्य—अवसाननिर्णय शिक्षा (6–7)
2. द्रष्टव्य—अवसान निर्णय शिक्षा—8

हिरण्यवाहवे, बभ्लुशाय, रोहिताय, कृत्स्नायतयाउष्णीषिणे विसृजदभ्यः, सभाभ्यो गणेभ्यस्तक्षभ्यः, श्वभ्यः कपर्दिने, ह्रस्वाय, ज्येष्ठाय, सोम्याय, वन्याय, विल्मिने, सुत्याय, कूप्याय, वात्याय, पर्याय, सिकत्याय, व्रज्याय, शुष्क्याय, अग्निमद्य, सूपस्था द्य।[1]

मध्यावसान

शर्मोऽसि, अग्ने वाजजित्, विभूरसि, रावाऽसि—ये दो, इन्द्राय त्वा, बृहद्-द्धत्तेसे प्रारम्भ होने वाले मन्त्र मध्यावसान वाले हैं।[2]

पश्चावसान

"प्रेतु" तथा "वायुरनिलम्"—इन दो संकेत वाले मन्त्रों में पश्चावसान होता है।[3]

षडवसान

"या ते अग्ने यः क्षया" तथा "या ते धर्मं" से प्रारम्भ होने वाले दो मन्त्रों में षडवसान होता है।[4]

नवावसान

"मखस्य शिरः" तथा अश्वस्य त्वा" से प्रारम्भ होने वाले दो मन्त्र नवा-वसान वाले होते हैं।[5]

इस प्रकार 'संहितायामेकप्राणभावे' में एक श्वांस में उच्चरित होने वाली संहिता के अवसान के लिए भी शिक्षाग्रन्थों में विधान किये गये हैं। इन विधानों का मुख्य उद्देश्य यह है कि अध्येता संहिता को मनमाने ढंग से विच्छिन्न करके अध्ययन न करें प्रत्युत विहित अवसान पर ही विराम करें। इससे संहिता का मूलरूप सुरक्षित रहेगा।

---

1. द्रष्टय—अवसान निर्णय शिक्षा, 9–10
2 वही, 11
3. वही, 12
4. वही, 13
5. वही, 14

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं में शुक्लयजुर्वेदीय संहिताओं के मन्त्रों के समुचित प्रकार से अध्ययन करने की व्यवस्था की गई है। इन्हीं व्यवस्थाओं के कारण इस वेद की संहिताओं के मन्त्रों का ठीक उसी प्रकार पारायण होता चला आ रहा है जिस प्रकार आदि काल में होता था। यदि प्राचीन आचार्यों द्वारा यह व्यवस्था न की गई होती तो रामायण तथा महाभारत के समान संहितास्थ मन्त्रों के भी कलेवर तथा उच्चारण में अन्तर आ गया होता किन्तु इन विधानों के प्रभाव से संहितास्थ मन्त्र अपने मूल रूप में सुरक्षित हैं।

सन्तान-प्रकरण

* सन्तान तथा सन्धान
* सन्धि तथा संहिता
* सन्धि के स्थल
* आगम
* विकार
* लोप
* प्रकृतिभाव
* पदपाठ
* क्रमपाठ

सन्तान

"सम्" उपसर्गपूर्वक "तनु-विस्तारे" धातु से "घ्न" प्रत्यय लगकर "सन्तान" शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है—विस्तार, फैलाव। यहाँ "सन्तान" शब्द का प्रयोग संहिता अर्थ में किया गया है—"सन्तानः संहिता।" संहिता में सन्धि-नियमों के आधार पर पदों का सन्धान करके पदों के स्वरूप को विस्तृत किया जाता है, फैलाया जाता है; इसीलिए संहिता के लिए "सन्तान" शब्द का प्रयोग किया गया है।

यद्यपि व्याकरण तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों में सन्धि-सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन हुआ है और शिक्षाग्रन्थों में इनका अभाव सा दीखता है तथापि तद्विषयक विधान अल्पाधिक मात्रा में प्रायः शिक्षाग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं। शुक्ल-यजुर्वेद में उपलब्ध सन्धि-स्थलों के ज्ञान-हेतु, वा० प्रा० में विस्तृत विवेचन किया गया है जिनको प्रा० प्र० शि० में उद्धृत करके उनकी व्याख्या की गयी है। स्वराष्टकशिक्षा में भी कतिपय स्वर, व्यञ्जन तथा विसर्ग सन्धियों का विवेचन हुआ है। एतद्विषयक विधान व० प्र० शि०, या० शि० तथा स्व० ल० प० शि० आदि अनेक शिक्षाओं में उपलब्ध होते हैं किन्तु वे नहीं के बराबर हैं। उन्हीं के आधार पर यहाँ विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

सन्धान

सन्धान शब्द सम् उपसर्गपूर्वक धा धातु से ल्युट् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है—मेल, जोड़। सन्धि के लिए कतिपय स्थलों पर सन्धान शब्द का प्रयोग हुआ है क्योंकि इसमें वर्णों का मेल होता है। इस मेल में वर्ण एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इस प्रभाव से उनमें निम्न चार क्रियायें होती हैं—

1–आगम—उनके बीच में किसी वर्ण का आगम होता है।

2–विकार—दोनों को या एक के रूप में परिवर्तन हो जाता है।

3–लोप—उनमें से किसी का लोप हो जाता है।

4–प्रकृतिभाव—दोनों प्रकृति भाव से रहते हैं अर्थात् उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता है।

अतः दो या दो से अधिक वर्णों के बीच सन्धान होने पर चार स्थितियाँ होती हैं—(1) आगम, (2) विकार, (3) लोप अथवा (4) प्रकृतिभाव।

उल्लेखनीय है कि प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों में पद को सिद्ध माना जाता है अतः उनके अनुसार सन्धान एकपद में न होकर दो या दो से अधिक पदों में होता है। इस प्रकार पूर्ववर्ती पद का अन्तिम वर्ण तथा परवर्ती पद का आदि वर्ण एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। पूर्ववर्ती पद के अन्तिम वर्ण को पदान्त तथा परवर्ती पद के आदि वर्ण को पदादि कहा जाता है। इस प्रकार सन्धान की प्रक्रिया पदान्त तथा पदादि में होती है। इन ग्रन्थों में अवगृह्य पदों को भी अलग-अलग पदों के रूप में माना जाता है। अतः अवगृह्य पदों के मध्य में भी सन्धान होता है।

प्रातिशाख्य तथा शिक्षाग्रन्थ पदों के सन्धान से संहितापाठ की निष्पत्ति का विधान करते हैं। अतः सन्धान विषयक विधान सभी प्रातिशाख्यों में तथा अल्पाधिक मात्रा में अनेक शिक्षाग्रन्थों में किया गया है।

सन्धि का महत्त्व तथा क्षेत्र

सन्धि भाषा का सहज स्वभाव है। अतः भाषण या लेखन में विना प्रयत्न के ही सन्धि हो जाती है। यही कारण है कि सम्पूर्ण विश्व की सभी भाषाओं में सन्धि प्रायः किसी न किसी रूप में अवश्य उपलब्ध होती है। सन्धि द्वारा भाषा में रमणीयता, प्रवाहमयता तथा संक्षिप्तता आती है। सन्धि वाक्य में वर्ण-पुरुषता को हटाकर ध्वनिसुकुमारता लाती है। स्थान तथा प्रयत्न की एकता से उच्चारण में सौकर्य उत्पन्न होता है और ध्वनिसाम्य से माधुर्य उत्पन्न होता है।

अन्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत भाषा में सन्धि की अधिक प्रचुरता दृष्टि-गोचर होती है। संस्कृत वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया गया है—(1) लौकिक संस्कृत, (2) वैदिक संस्कृत। लौकिक संस्कृत में सन्धि के प्रयोग के विषय में वैयाकरणों की एक कारिका प्रसिद्ध है जिसका आशय है कि एक अखण्ड पद में सन्धि नित्य होती है। अर्थात् प्रातिपदिक अथवा धातु के साथ विभक्ति अथवा दूसरे प्रत्यय का योग होने पर सन्धि नित्य होती है। समास में भी सन्धि नित्य होती है। समास पदविधि है; पदों का समास होता है पर इन पदों को बिना सन्धि के नहीं उच्चारण कर सकते परन्तु वाक्य में एकपद की दूसरे पद के साथ सन्धि वक्ता की इच्छा पर निर्भर है।[1]

1. संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते॥

वैदिक संस्कृत में सन्धि वक्ता की विवक्षा पर निर्भर न होकर ऋषि-दृष्ट मन्त्रों पर निर्भर करती है। वैदिक ऋषियों ने जिस प्रकार से सन्धि-युक्त पदों का दर्शन किया है वक्ता को उसी प्रकार सन्धि करके पाठ करना अनिवार्य है। वैदिक सन्धियों के व्याख्याता प्रातिशाख्य तथा शिक्षा-ग्रन्थ पदों को सिद्ध मानते हैं तथा सिद्ध मानकर ही उनमें होने वाली सन्धियों का विधान करते हैं। इस प्रकार वैदिक सन्धि दो या दो से अधिक पदों के मध्य में होती है। यत्र-तत्र सावग्रह पद के मध्य में भी सन्धि प्राप्त होती है इसे अन्तःपद सन्धि कहा जा सकता है। प्रातिशाख्य तथा शिक्षा ग्रन्थों में पद्यों को पद के समान माना जाता है।[1] इसीलिए अन्तःपद सन्धि को भी पदों की सन्धि के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है।

ऋ० सं० में एक अर्धर्च[2] के सभी पदों के मध्य में निरन्तर सन्धि होती है। वा० सं० तथा अ० सं० में भी सन्धि इसी प्रकार होती है। यजुषों में सन्धि एक श्वाँस में उच्चारित होने वाली संहिता में होती है।[3] तात्पर्य यह है कि उच्चारण कर्त्ता एक श्वाँस में यजुष् मन्त्र के जितने अंश का उच्चारण कर सकता है उसी के अन्तर्गत सन्धि होती है। श्वाँस के टूट जाने पर विराम हो जाता है। किसी वक्ता की एक श्वाँस में यजुष् मन्त्र के अधिक अंश का उच्चारण हो सकता है और किसी के कम। जो वक्ता एक श्वाँस में जितने अंश का उच्चारण करता है उसके लिए उतने ही अंश के अन्तर्गत सन्धि होती है। उल्लेखनीय है कि यजुषों में भी निश्चित विराम होता है, जैसे—प्रत्येक अनुवाक के अन्त में तथा अनुवाक के मध्य में पदक्रम के अन्त में।[4] इन्हीं विराम-स्थलों के अन्तर्गत सन्धि

---

1. अप्रत्याम्नाये पदवच्च पद्यान् (ऋ० प्रा० 1/61)। पदपाठ में जो शब्द पृथक्-करण के साथ दिखलायी पड़ता है, वह पद्य है जैसे—(1) समास घटक का पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध (2) कतिपय पदों में प्रकृति और प्रत्यय, जैसे—पञ्चभिः धृष्णुया इत्यादि।
2. चार पदों वाले छन्दों में प्रथम तथा द्वितीय पाद का एक अर्धर्च बनता है और तृतीय तथा चतुर्थ पाद का दूसरा अर्धर्च बनता है। तीन पाद वाले गायत्री छन्द में प्रथम तथा द्वितीय पाद का एक अर्धर्च तथा तृतीय पाद में दूसरा अर्धर्च होता है। पाँच पद वाले छन्दों में प्रथम तीन पादों का एक अर्धर्च तथा अन्तिम दो पादों का दूसरा अर्धर्च होता है।
3. संहितायामेकप्राणभावे (तै० प्रा० 5/1)
4. द्रष्टव्य—तै० प्रा० 5/1 पर वैदिकाभरण भाष्य।

होती है। उच्चारण कर्त्ता जहाँ तक एक श्वाँस में विराम तक नहीं पहुँच सकता, उसके लिए उसकी एक श्वाँस में संहिता के जितने अंश का उच्चारण होता है, उसी के अन्तर्गत सन्धि होती है।

सन्धि शब्द का प्रयोग तथा लक्षण

सन्धि शब्द व्याकरण शास्त्र का बहुचर्चित शब्द रहा है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ऋ० सं० में मेल के अर्थ में हुआ है।[1] ऐतरेय आ० में भी सन्धि शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर वर्णों के मेल के अर्थ में किया गया है।[2] वा० प्रा० में सन्धि संज्ञा का विधान तो नहीं किया गया है किन्तु प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है।[3] सन्धि के अतिरिक्त सन्धान शब्द का प्रयोग भी ऋ० प्रा० में मिलता है।[4] तै० प्रा० में न तो इस संज्ञा का विधान किया गया है और न ही प्रयोग। केवल एक स्थल पर सन्धान शब्द का प्रयोग किया गया है।[5] तै० प्रा० में अनेक सन्धियों का विवरण उपलब्ध होता है। वा० प्रा० में सन्धि संज्ञा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि पदान्त तथा पदादि में सन्धि होती है।[6] च० अ० में सन्धि संज्ञा का विधान तो नहीं हुआ है किन्तु अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है।[7] ऋ० तं० में भी सन्धि संज्ञा का प्रयोग हुआ है।[8] इसमें सन्धि से उत्पन्न वर्णों के लिए सन्ध्य शब्द का प्रयोग मिलता है।[9] पाणिनि की अष्टाध्यायी में इस संज्ञा का विधान तथा प्रयोग कहीं नहीं हुआ है परन्तु परवर्ती प्रक्रिया-ग्रन्थों में वर्णों के अत्यधिक सन्निकर्ष के परिणाम स्वरूप होने वाले यणादि-

---

1. संधता संधि मघवा पुरुवसुरिष्कर्ता विहुतं पुनः (ऋ० सं० 1/1/12)
2. द्रष्टव्य—ऐतरेयारण्यक पृ० 220, 224, 229 इत्यादि।
3. द्रष्टव्य—ऋ० प्रा० 2/34, 4/41, 4/78, 7/1, 10/18 इत्यादि।
4. इतिपूर्वेषु सन्धानं पूर्वः स्वः स्यादसंहितम्। तदवग्रह ब्रूयात्।
(ऋ० प्रा० 10/17)
5. वायुशरीरसमीरणात् कण्ठोरसोः सन्धाने। (तै० प्रा० 2/2)
6. पदान्तपदाद्योः सन्धिः (वा० प्रा० 3/3, शि० सं० पृ० 262 स्वराष्टक-शिक्षा) यत्र सन्धिकार्यमुच्यते तत्पदान्तपदाद्योः स्यात्।
शि० सं० पृ० 217 (प्रा० प्र० शि०)
7. द्रष्टव्य—च० अ० 1/1, 2/37, 3/37
8. वान्तसन्धिः (ऋ० तं० 52)
9. द्रष्टव्य—ऋ० तं० 94, 96, 98, 11, 283

रूप कार्य के लिए सन्धि शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] पाणिनि-भिन्न सम्प्रदाय के वैयाकरणों ने भी सन्धि शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है।[2] वर्तमान लौकिक संस्कृत में सन्धि शब्द का प्रयोग संहिता प्रयुक्त कार्य लिए होता है।

शिक्षा ग्रन्थों में संधि संज्ञा का प्रयोग हुआ है। या० शि० के अनुसार सन्धि चार प्रकार की होती है।[3] वा० प्रा० में सन्धि के लिए संस्कार संज्ञा का भी प्रयोग किया गया है। भाष्यकार उवट ने उसको चार प्रकार का बतलाया है।[4] व० प्र० शि० में भी सन्धि के लिए संस्कार संज्ञा का प्रयोग किया गया है तथा उसके चार प्रकारों—लोप, आगम, विकार तथा प्रकृतिभाव का विधान हुआ है।[5] स्व० अ० शि० में सन्धि शब्द का प्रयोग हुआ है। इसमें कहा गया है कि सन्धि पदान्त तथा पदादि में होती है।[6]

"सम्" उपसर्गपूर्वक "धा" धातु से निष्पन्न "सन्धि" शब्द का सामान्यतया अर्थ है—मेल या संयोग। जैसा उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में यद्यपि सन्धि का लक्षण नहीं बतलाया गया है किन्तु कतिपय स्थलों पर सन्धि शब्दों का प्रयोग किया गया है। उनका सूक्ष्म अनुशीलन करने से पता लगता है कि सन्धि शब्द संहिता-प्रयुक्त कार्यों के लिये प्रयुक्त हुआ है।

लौकिक संस्कृत में सन्धि शब्द का प्रयोग केवल उस स्थल के लिये होता है जहाँ दो वर्णों के सामीप्य से कुछ विकार होता है। जहाँ वर्णों का सामीप्य होने पर भी विकार नहीं होता वहाँ सन्धिरूप कार्य का अभाव माना जाता है। सन्धिरूप कार्य के इस अभाव को प्रकृतिभाव कहा जाता है।

---

1. द्रष्टव्य—सिद्धान्तकौमुदी तथा लघुसिद्धान्तकौमुदी
2. द्रष्टव्य—कातन्त्रव्याकरण सूत्र 1, 2, 3 इत्यादि
3. सन्धिश्चतुर्विधो भवति लोपागमविकाराः प्रकृतिभावश्च।
   (या० शि० 1/83)
4. संस्कारो लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावलक्षणः।
   (वा० प्रा० 1/1 पर उवट भाष्य)
5. अथातः संस्कारविधिः कथ्यते मयाधुना
   लोपागमौ विकारश्च प्रकृत्याभवनं तथा।
   ज्ञातव्यो निपुणैरेवं संस्कारो सो चतुर्विधः।
   (व० प्र० शि० 106–107 पृ०)
6. पदान्तपदाद्योः (स्व० अ० शि० 1)

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रातिशाख्य तथा शिक्षाग्रन्थों में वर्णों के पास-पास आ जाने मात्र से ही सन्धि सम्पन्न हो जाती है उनमें विकार हो या न हो। परवर्ती काल में सन्धि शब्द के अर्थ में संकोच हो गया और प्रायः सन्धि शब्द संहिताप्रयुक्त एक प्रकार के वर्णविकाररूप कार्य में ही सीमित हो गया।

संहिता

संहिता शब्द सम् उपसर्गपूर्वक धा धातु से क्त तथा टाप् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है—संकलित किया हुआ (एकत्र रखा हुआ)। प्रातिशाख्यों में संहिता शब्द वर्णों के सान्निध्य को बतलाने के लिए प्रयुक्त हुआ है।

वा० प्रा० 2/1 में संहिता शब्द का प्रयोग हुआ है तथा इसमें संहिता का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि यजुषों में एक श्वाँस के उच्चारित होने वाले वर्णों का मेल संहिता है।[1] प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में उवट का कथन है कि ऋचाओं में पादों की संहिता करनी चाहिए किन्तु यजुषों के विषय में यह विधान किया गया है। एक श्वाँस में उनका उच्चारण होता है, उन वर्णों का मेल संहिता है। पद के बाद अथवा वाक्य के बाद में विश्राम किया जाता है वह प्राण-संहिता कहलाती है। जहाँ पर बहुत से पदों का अतिक्रमण करके अवसान होता है और एक श्वाँस में अवसान तक नहीं पहुँचा जा सकता है वहाँ के लिए यह विधान किया गया है यथा—त्वामद्य ऋषय आर्षेय ऋषीणां नपादवृणीताय यजमानः (वा० सं० 21/61)। जहाँ पर अवसान तक पहुँचा जा सकता है वहाँ अवसान पर ही विश्राम करना चाहिए जैसे—इन्द्रो विश्वस्य राजति (वा० सं० 35/८)। तात्पर्य यह है कि यजुष् मन्त्रों में पदों की संख्या नहीं होतीं। कहीं-कहीं पद एक श्वाँस में यजुष् मन्त्रों के अवसान तक के पदों का उच्चारण करना असम्भव हो जाता है। वहाँ पर एक श्वाँस में जितने वर्ण का उच्चारण हो सकता है उन्हीं के मध्य में संहिता होती है। श्वाँस के टूट जाने पर वहाँ संहिता के नियम अवसान के समान हो जाते हैं। अर्थात् उस अन्तिम पद के अन्तिम वर्ण की उसके परिवर्ती पद के पहले वर्ण के साथ संहिता नहीं होती जिस पद के उच्चारण के पश्चात् श्वाँस टूट जाती है। यहाँ एक प्रश्न होता है कि किसी पाठक की श्वाँस लम्बी होती है और किसी की छोटी। छोटी श्वाँस वाला व्यक्ति बड़ी श्वाँस वाले व्यक्ति की अपेक्षा एक श्वाँस में कम वर्णों का उच्चारण कर सकेगा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न पाठक एक श्वाँस में भिन्न-भिन्न वर्णों तक का उच्चारण करेंगे तो फिर किस पाठक के

1. संहितायाम् (वा० प्रा० 3/1)
2. वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता (वा० प्रा० 1/158)

एक श्वाँस में उच्चारित वर्णों तक की संहिता की जायेगी ? इसका उत्तर यह है कि जिस व्यक्ति की श्वाँस जहाँ टूट जायेगी उस व्यक्ति के लिए उन्हीं वर्णों की संहिता होगी जिसका उच्चारण वह एक श्वाँस में कर सकेगा।

सन्धिविषयक विधान और संहिता

सन्धि नियमों के आधार पर पदपाठ से संहितापाठ का निर्माण किया जाता है। अतएव समस्त प्रातिशाख्यों एवं कतिपय शिक्षाग्रन्थों में सन्धि नियमों का सुविस्तृत प्रतिपादन किया गया है प्रायः सभी प्रातिशाख्य एवं शिक्षाओं में सन्धि-नियमों का विधान करने से पूर्व ग्रन्थकार अधिकार सूत्रों का प्रतिपादन करते हैं। इन अधिकार सूत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्धिविषयक-नियम संहितापाठ के निर्माण के लिए ही प्रोक्त हैं। ऋ० प्रा० में सर्वप्रथम संहिता का लक्षण बतलाकर पुनः सन्धि नियमों का विवेचन है।[1] तै० प्रा० में भी सन्धि विधानों को करने से पूर्व अधिकार निर्देश किया गया है कि आगे कहे जाने वाले नियम एक श्वांस से उच्चारित होने वाली संहिता में लागू होते हैं।[2] वा० प्रा० तथा च० अ० अधिकार सूत्र का प्रतिपादन हुआ है[3] जिनका आशय यही है कि आगे कहे जाने वाले सन्धिविषयक नियम संहिता में लागू होते हैं।

पृथग्भूत पदों के मेल से ही सन्धि नियमों के आधार पर संहितापाट का निर्माण होता है। अतः पदों को संहितापाठ का मूलकारण अर्थात् प्रकृति माना जाता है। प्रातिशाख्य तथा कतिपय शिक्षाग्रन्थ उन्हीं नियमों का विधान करते हैं जिनकी सहायता से पदों से संहितापाठ सम्पन्न होता है। इस शास्त्र में संहिता को विकृति एवं पदों को प्रकृति माना गया है। अतएव षत्व और णत्व आदि विकार संहिता के लिए विहित है। प्रकृति होने के कारण पद अपने स्वरूप में स्वतः सिद्ध माते जाते हैं।

संहिता शब्द का प्रयोग तथा लक्षण

संहिता शब्द भारतीय वाङ्मय का अत्यन्त ही व्यापक शब्द है। सर्वप्रथम इसका प्रयोग ऋ० सं० में "मिला हुआ" अर्थ में किया गया है।[4] तै०

---

1. ऋ० प्रा० 2/2
2. अथ संहितायामेकप्राणभावे (तै० प्रा० 5/1)
3. संहितायाम् (वा० प्रा० 3/1, च० अ० 2/1)
4. यच्चयवयथ विधुरेव संहितम् (ऋ० सं० 1/168/6)

सं० में भी संहिता शब्द का प्रयोग "मेल से बनी हुई" अर्थ में किया गया है।[1] ऐतरेयारण्यक के संहितोपनिषद् नामक तृतीय आरण्यक में संहिता की उपसना का रहस्य समझाया गया है तथा संहिता के स्वरूप के विषय में पर्याप्त विचार प्रस्तुत किया गया है। संहिता के स्वरूप के विषय ऐतरेयारण्यक में कहा गया है—"इस संहितोपनिषद् के आरम्भ में (पृथिवीपूर्वरूपंद्योरुत्तररूपम् इत्यादि) पूर्व रूप से पूर्ववर्ती अक्षर विवक्षित है। उत्तर रूप से परवर्ती अक्षर विवक्षित है। पूर्व रूप और उत्तर रूप के मध्य में जो अवकाश है वह संहिता शब्द से विवक्षित है।[2] इसके अनुसार अग्निमीळे (ऋ० सं० 1/1/1) के अन्तिम पद का जो मकार है वह संहिता का पूर्वरूप है। ईळे का ईकार संहिता का उत्तर रूप है, इन दोनों वर्णों का मेल (भी) संहिता है।

ऐतरयारण्यक में संहिता के विषय में स्वल्प देह वाले माण्डूकेय का मत भी प्रस्तुत किया गया है। उनके अनुसार "निर्भुज (संहिता) का उच्चारण करने वाले हम लोग कहते हैं कि पूर्व अक्षर पूर्वरूप है और परवर्ती अक्षर उत्तररूप है और पूर्वरूप तथा उत्तररूप के मध्य में वह अवकाश संहिता है जिसके द्वारा व्यक्ति सन्धि का सम्पादन करता है; स्वर और अस्वर का विवेक करता है तथा मात्रा और अमात्रा का विभाग करता है।[3] वहीं पर संहिता के स्वरूप के विषय में स्वल्प देह वाले माण्डूकेय के पुत्र का भी मत प्रस्तुत किया गया है। उनका कहना है कि जब दो अक्षरों को न तो अत्यधिक मिला कर और न अत्यधिक पृथक् करके उच्चारित किया जाता है तो उस अवस्था में उन दो अक्षरों के बीच में सन्धि सम्पन्न होती है। वह समत्व है और उसे ही मैं संहिता मानता हूँ।[4] निरुक्त में संहिता का लक्षण करते हुए यास्क ने कहा है कि वर्णों का अत्यधिक

1. संहितासि विश्वरूपा (तै० सं० 1/5/6/2)
2. पूर्वमक्षरं पूर्वरूपमुत्तरमुत्तररूपम् योऽवकाशः पूर्वोत्तररूपेऽन्तरेण सा संहितेति। (ऐ० आ० 3/1/5)
3. अथ वयं ब्रह्मो निर्भुजवक्त्रा इति ह स्मा ह ह्रस्वो माण्डूकेयः पूर्वमेवाक्षरं पूर्वरूपमुत्तरमुत्तररूपं योऽवकाश पूर्वोत्तररूपेऽन्तरेण येन सन्धिः विवर्तयति येन स्वरास्वरं विजानाति येन मात्रामात्रा विभजते सा संहिता।
(ऐ० आ० 3/1/5)
4. अथ हास्यपुत्र आह मध्यमः प्रातीबोधीपुत्रोऽक्षरे खल्विमे अविकर्षन्ननेकीकुर्वन्यथावर्णमाह तथा सो मात्रा पूर्वरूपोत्तररूपेऽन्तरेण सन्धि विज्ञपनी साम तद्भवति सामेवाहं संहितां मन्य इति। (ऐ० आ० 3/1/ 5)

सामीप्य संहिता कहलाता है।[1] ऋ० प्रा० में पदों को संहिता का मूल बतलाकर[2] संहिता का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि जो काल का व्यवधान किये बिना पदान्तों को पदादियों से मिलाती हुई चलती है; वह संहिता है।[4] तै० प्रा० में संहिता पद का प्रयोग हुआ है[3] तथा चार प्रकार की संहिताओं—पदसंहिता, वर्णसंहिता, अक्षरसंहिता तथा अङ्गसंहिता का उल्लेख किया गया है।[5] वा० प्रा० के अनुसार वर्णों का एक श्वाँस में उच्चारण, संहिता कही जाती है।[6] ऋ० तं० में संहिता का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि वर्णों का अत्यधिक सान्निध्य संहिता है।[7] अ० प्रा० में संहिता का प्रयोग पदों के मेल के अर्थ में किया गया है।[8] इसकी व्याख्या में संहिता पद को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार तन्तुओं से वस्त्र का निर्माण होता है और जिस प्रकार लकड़ी, मिट्टी और पत्थर से प्रासाद का निर्माण होता है उसी प्रकार सन्धि-नियम पदों को मिलाने के लिए प्रोक्त हैं।[9] पाणिनि के अनुसार भी वर्णों के अत्यन्त सन्निकर्ष (सन्निकटता) को संहिता कहते हैं।[10]

"संहिता" शब्द "सम्" उपसर्गपूर्वक "धा" धातु से "क्त" तथा "टाप्" प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। इसका शाब्दिक अर्थ है—सङ्कलित किया हुआ; एकत्र रखा हुआ।

इस प्रकार उपर्युक्त संहिता शब्द के प्रयोग एवं लक्षणों के आधार पर संहिता का अर्थ "पदों का मेल" ही सर्वथा उपयुक्त है। वस्तुतः वर्णों के अतिशय सन्निकर्ष (मेल) को संहिता कहना ही अत्यधिक उपयुक्त है।

---

1. परः सन्निकर्षः संहिता। (निरुक्त 1/6)
2. संहिता पदप्रकृतिः। (ऋ० प्रा० 2/1)
3. पदान्तान्पदादिभिः संदधदेति कालाव्यवायेनः यत्सा। ऋ० प्रा० 2/2
4. अथ संहितायामेकप्राणभावे। (तै० प्रा० 5/1)
5. अथ चतस्रस्संहिता। पदसंहिताक्षरसंहितावर्णसंहिताङ्गसंहिता चेति। (तै० प्रा० 24/1–2)
6. वर्णानाम् एकप्राणयोगसंहिता (वा० प्रा० 1/258)
7. सन्निकर्षः संहिता (ऋ० त० 67)
8. पदानां संहिता विद्यात् (अ० प्रा० 1/2)
9. यथा तन्तूनां वासो यथा दारुशिलामृदां प्रासादः तथा च सन्धिशास्त्राणि पद-सन्धानार्थं प्रोक्तानि (अ० प्रा० 1/2 पर भाष्य)
10. परः सन्निकर्षः संहिता (पा० व्या० 1/4/109)

सन्धि के स्थल

वा० प्रा०, प्रा० प्र० शि० तथा स्व० अ० शि० में सन्धि के स्थल को बतलाते हुए कहा गया है कि सन्धि पदान्त तथा पदादि में होती हैं।[1]

सन्धि के प्रकार

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में तथा प्रातिशाख्य में सन्धि के चार प्रकार बतलाये गये हैं —(1) आगम, (2) विकार, (3) लोप तथा (4) प्रकृतिभाव। इसी आधार पर शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में प्रतिपादित सन्धियों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

(1) आगम

"आङ्" उपसर्ग पूर्वक "गम्" धातु से निष्पन्न "आगम" शब्द का अर्थ है—"अतिरिक्त वर्ण का आ जाना"। सन्धि स्थान पर बिना कोई परिवर्तन किये ही जब अतिरिक्त वर्ण आकर बैठ जाता है तो वहाँ उस वर्ण का आगम कहा जाता है। यह मित्रवत् का कार्य होता है क्योंकि इस वर्ण पूर्ववर्ती एवं परवर्ती किसी भी वर्ण की कोई हानि (विकृति) नहीं होती जबकि आदेश में पूर्ववर्ती, परवर्ती या दोनों की हानि होती है। आगम किसी के बगल में मित्रवत् बैठने के समान तथा आदेश को उठाकर उसके स्थान पर बैठने (अतएव शत्रु) के समान होता है।

वा० प्रा० में भाष्यकारों ने आगम के दो वर्णों के बीच में व्यवधान बतलाया है।[2] अतः आगम को व्यवधान भी कहा जा सकता है। इसे व्यवधान इसलिए कहा गया है कि दो पदों अथवा दो वर्णों के मध्य में आगम के रूप में आया हुआ वर्ण व्यवधान का कार्य करता है। वा० प्रा० में संहितापाठ तथा पदपाठ दोनों में होने वाले आगमों का विधान किया गया है। पदपाठ में होने वाले आगम का विधान पदपाठ में किया जायेगा।

ककार तथा तकार का आगम

वा० प्रा०, प्रातिशाख्यप्रदीप-शिक्षा तथा स्वराष्टकशिक्षा के अनुसार सकार बाद में होने पर; पूर्ववर्ती ङकार के बाद ककार का तथा पूर्ववर्ती नकार के

---

1. पदान्तपदाद्योः सन्धिः (वा० प्रा० 3/3, प्रा० प्र० शि० 2, स्व० अ० शि० 1 शि० सं० पृ० 217)
2. प्रगृह्यसंज्ञकं यत्पदं तच्चर्चायां परभूतायामितिना आगमिकेन व्यवधीयते। (वा० प्रा० 4/17 उवट)

बाद तकार का आगम होता है[1], यथा—(1) प्राङ्सोमः = प्राङ्क्सोमः (वा० सं० 19/3)। प्रत्यङ्सोमः = प्रत्यङ्क्सोमः (वा सं० 19/3) (2) त्रीन् समुद्रान् = त्रीन्त्समुद्रान् (वा० सं० 13/31)। अस्मान् सीते = अस्मान्त्सीते (वा० सं० 12/70)।

स्वरभक्तिलक्षण-परिशिष्ट शिक्षा के अनुसार पदान्त में ङकार एवं नकार तथा पदादि में सकार होने पर मध्य में क्रमशः ककार एवं तकार का आगम होता है।[2] व० प्र० शि० में भी इसी तथ्य का निरूपण किया गया है।[3]

ककारागम के सन्दर्भ में दाल्भ्य आचार्य का मत प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि इसके अनुसार यह आगम नहीं होता[4]। यथा— प्रत्यङ्सोम = प्रत्यङ्सोमः (वा० सं० 19/3)।

शकार का आगम

"सु" पूर्व में होने पर तथा "चन्द्र" बाद में होने पर दोनों के बीच में शकार का आगम हो जाता है।[5] यथा—सु चन्द्र = सुश्चन्द्र (वा० सं० 15/43)। प्रा० प्र० शि० में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।[6]

सकार का आगम

(1) पति शब्द बाद में होने पर "वन" शब्द के बाद सकार का आगम हो जाता है[7]। यथा—वन पतिः = वनस्पतिः (वा० सं० 27/3)।

(2) क्रमशः पति और पर शब्द होने पर ऋत और अवर के बाद सकार का आगम हो जाता है[8]। यथा—ऋतऽपते = ऋतस्पते (वा० सं० 27/34)। अवर पराय = अवरस्पराय (वा० सं० 30/19)।

---

1. ङ्नौ क्ताभ्यां सकारे (वा० प्रा० 4/15)
   शि० सं० पृ० 223, स्वराष्टक शि० शि० सं० पृ० 236
2. शि० सं० पृ० 173 (स्व० भ० ल० प० शि०)
3. ङनकारो पदान्तीयो सकारे परतः स्थिते।
   कताभ्यां व्यवधीयेते प्राङ्क्सोमश्च यथा तथा॥
   शि० सं० पृ० 134 (व० प्र० शि०)
4. न दाल्भ्यस्य (वा० प्रा० 4/16)
5. चन्द्रे सु शकारेण (वा० प्रा० 3/54)
6. शि० सं० पृ० 235, (प्रा० प्र० शि०)
7. पत्यो सकारेण (वा० प्रा० 3/50)
8. ऋतावरो च पतिपरयोः (शि० सं० पृ० 534, प्रा० प्र० शि०, वा० प्रा० 3/51)

(3) क्रमशः कर और पति शब्द बाद में होने पर तत् और बृहत् पद के बाद सकार का आगम हो जाता है तथा तत् और बृहत् का पदान्त तकार लुप्त हो जाता है[1]। यथा--तत् कराः = तस्कराः (वा० सं० 11/78)। बृहत् पतिः = बृहस्पतिः (वा० सं० 15/19)।

चकार का आगम

छकार बाद में तथा स्वर पूर्व में होने पर दोनों के मध्य में चकार का आगम हो जाता है[2], यथा--अ छ = अच्छ (वा० सं० 16/4) प्र छत् = प्रच्छत् (वा० सं० 15/5) वर्मणा छादयामि = वर्मणाच्छादयामि (वा० सं० 17/46)। प्रा० प्र० शि० में इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।[3]

रेफ का आगम

प्रा० प्र० शि० के अनुसार वेट् शब्द के बाद में स्थित न होने पर वन के बाद में रेफ का आगम हो जाता है यदि उसके बाद में सदः शब्द हो।[4] यथा — वन सदः = वदर्षदः (वा० सं० 33/1)। वा० प्रा० में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।[5]

षकार का आगम

यदि परि के बाद में कृत हो तो दोनों के मध्य में षकार का आगम हो जाता है[6] यथा—परि कृताः = परिष्कृताः (वा० सं० 21/42)। प्रा० प्र० शि० में इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।[7]

विकार

"विकार" शब्द "वि" उपसर्गपूर्वक "कृ" धातु से "घञ्" प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है—"परिवर्तन।" इस प्रकार विकार शब्द का

1. तद्बृहतो करपत्योस्तलोपश्च (वा० प्र० 3/52, शि० सं० पृ० 235, प्रा० प्र० शि०)।
2. स्वरश्छकारे चकारेण सर्वत्र (वा० प्रा० 4/25)
3. शि० सं० पृ० 223, प्रा० प्र० शि०
4 शि० सं० पृ० 234, प्रा० प्र० शि०
5. वनसदोऽवेटो रेफेण (वा० प्रा० 3/49), शि० सं० पृ० 234 (प्रा० प्र० शि०)
6. परिकृते षकारेण (वा० प्रा० 3/53), शि० सं० पृ० 235 (प्रा० प्र० शि०)
7. शि० सं० पृ० 235, प्रा० प्र० शि०।

अर्थ बहुत व्यापक है किन्तु यहाँ सन्धि के परिणाम स्वरूप जहाँ पदान्त, पदादि अथवा दोनों में परिवर्तन हो जाता है इन्हीं परिवर्तनों के लिए विकार शब्द का प्रयोग हुआ है। वर्णों के इस विकार को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है— (1) स्वर वर्ण के विकार, (2) व्यञ्जन वर्ण के विकार।

स्वरों के विकार के अन्तर्गत वे सभी विकार आते हैं जो पदान्त, पदादि अथवा दोनों स्वर वर्णों के परिवर्तन द्वारा प्राप्त होते हैं तथा व्यञ्जन विकार के अन्तर्गत पदान्त पदादि अथवा दोनों व्यञ्जनों के परिवर्तन को रखा जा सकता है।

स्वरवर्ण के विकार

स्वरों के विकार के विवेचन के पूर्व प्रगृह्य संज्ञक स्वरों का ज्ञान आवश्यक है अतः उनका विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

प्रगृह्य स्वर

शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य में प्रगृह्य स्वरों का प्रतिपादन किया गया है। इसके अनुसार निम्नलिखित स्वर प्रगृह्य कहलाते हैं—

1—द्विवचनान्त एकार, ईकार तथा ऊकार प्रगृह्य कहलाते हैं।[1] यथा—द्वे (वा० सं० 17/91), उर्वी, अध्वर्यू।

2—अवग्रहान्त न होने पर पदान्तीय ओकार प्रगृह्य संज्ञक होता है।[2] यथा चित्रभानो (वा० सं० 20/87)।

3—अपृक्त उकार प्रगृह्य होता है[3] यथा—उ एतत् (वा० सं० 23/16)

4—चमू, अस्मे और त्वे प्रगृह्य संज्ञक होते हैं।[4] यथा—चमू इति चमू, अस्मे इति अस्मे तथा त्वे इति त्वे।

5—उदात्त मे पद प्रगृह्य संज्ञक होता है।[1] यथा—मे (वा० सं० 4/22)

6—पद होने पर अमी प्रगृह्य संज्ञक होता है।[2] यथा—अमी (वा० सं० 34/43)

---

1. प्रगृह्यम्। एकारैकारौकारा द्विवचनान्ताः (वा० प्रा० 1/92–93)
2. ओकारश्च पदान्तेऽनवग्रहः (वा० प्रा० 1/94)
3. उकारोऽपृक्तः (वा० प्रा० 1/95)
4. चमू अस्मे त्वे (वा० प्रा० 1/96)

एकीभाव

एकीभाव सन्धि में पदान्त तथा पदादि दोनों वर्णों का विकार होता है। परिणामस्वरूप दोनों (पूर्ववर्ती तथा परवर्ती) स्वर मिलकर एक हो जाते हैं। इस प्रकार दोनों स्वरवर्णों के मिलकर एक हो जाने के विधानों को एकीभाव के अन्तर्गत रखा गया है। इस प्रकार के विधान शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में उपलब्ध हैं। इनमें प्रतिपादित एकीभाव विधान इस प्रकार है—

1–सवर्ण दीर्घभाव

यदि समानाक्षर स्वरवर्ण के बाद में सवर्ण स्वर वर्ण हो तो पदान्त तथा पदादि दोनों के स्थान पर सवर्ण दीर्घ हो जाता है।[3] निम्नलिखित परिस्थितियों में दीर्घभाव होता है—

(क) अवर्ण के बाद में अवर्ण होने पर दोनों के स्थान पर आकार हो जाता है अर्थात् अ या आ पूर्व में हो तथा अ या आ बाद में हो तो दोनों (पूर्ववर्ती तथा परवर्ती) वर्ण मिलकर आकार हो जाते हैं। स्व० अ० शि० के अनुसार अवर्ण (=अ या आ) के बाद में अवर्ण (= अ या आ) होने पर आ हो जाता है।[4] जैसे—प्र + अर्पयतु = प्रार्पयतु (वा० सं० 1/1)। यहाँ पदान्त में प्र का अकार तथा पदादि में अर्पयतु का अकार है अतः दोनों के स्थान पर आ हो गया है।

(ख) पदान्त इवर्ण तथा पदादि इवर्ण (=इ या ई)–दोनों के स्थान पर दीर्घरूप ईकार हो जाता है अर्थात् इ या इऽपूर्व में हो तथा इ या ई बाद में हो तो दोनों के स्थान पर दीर्घरूप ई हो जाता है। स्वराष्टकशिक्षा के अनुसार इ या ई के बाद में इ या इऽवर्ण होने पर दोनों के स्थान पर "ई" हो जाता है।[5] जैसे—स्रुचि + इव = स्रुचीव (वा० सं० 20/79)। यहाँ पदान्त इ तथा पदादि इ–दोनों के स्थान पर ई हो गया है।

---

1. मे उदात्तम् (वा० प्रा० 1/97)
2. अमीपदम् (वा० प्रा० 1/98)
3. सिम् सवर्णे दीर्घम् (वा० प्रा० 4/52, प्रा० प्र० शि० शि० सं० पृ० 218)
   अकः सवर्णे दीर्घः (पा० व्या० 6/1/101)
   समानाक्षरस्य सवर्णे दीर्घः (च० अ० 3/42)
4. अआमपरे (स्व० अ० शि० 1)
5. इरीमिकारे (स्व० अ० शि० 9)

(ग) पदान्त उ या ऊ तथा पदादि उ या ऊ होने पर दोनों के स्थान पर दीर्घभाव (=ऊ) हो जाता है। इसी तथ्य को स्वराष्टक शिक्षा में प्रतिपादित किया गया है।[1] जैसे—अनु + उज्जेषम् = अनूज्जेषम् (वा० सं० 2/15) यहाँ पदान्त तथा पदादि दोनों उकार मिलकर ऊकार हो गये हैं।

(घ) पदान्त ऋ या ॠ के बाद पदादि ॠ या ऋ होने पर दोनों के स्थान पर सवर्ण दीर्घ ऋकार हो जाता है। इस सन्धि का विधान स्वराष्टकशिक्षा में किया गया है।[2] जैसे—पितृ + ऋणम् = पितॄणम् (लौकिक उदाहरण)

वा० प्रा० में दीर्घ भाव सन्धि का विधान किया गया है जिसे प्रा० प्र० शि० में भी उद्धृत किया गया है। उसके अनुसार सवर्ण बाद में होने पर सिम् संज्ञक वर्ण पूर्वपर दोनों के स्थान पर एक दीर्घ हो जाता है।[3] वा० प्रा० के अनुसार अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ—सिम् संज्ञक वर्ण हैं। सवर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती तथा परवर्ती दोनों के स्थान पर दीर्घ हो जाता है। उदाहरण तो पूर्व विवेचित दीर्घीभाव के चारो नियमों में दिये जा चुके हैं।

(2) एकारभाव

स्वराष्टकशिक्षा के अनुसार यदि अवर्ण के बाद में इवर्ण हो तो दोनों के स्थान पर एकार हो जाता है।[1], अर्थात् यदि पदान्त अ या आ एवम् पदादि इ या ई हो तो दोनों के स्थान पर एकार हो जाता है। जैसे—वरुण + इह = वरुणेह (वा० सं० 18/49), "आ + इदम् = एदमगन्म" (वा० सं० 4/1)।

यहाँ पदान्त अकार तथा पदादि इकार के होने पर दोनों के स्थान पर एकार हो गये हैं। इसी प्रकार का विधान वा० प्रा० में भी हुआ है जिसका उल्लेख प्रा० प्र० शि० में भी किया गया है।[5]

(3) ओकारभाव

स्वराष्टकशिक्षा में विधान किया गया है कि अवर्ण के बाद में उवर्ण होने पर दोनों के स्थान पर ओकार हो जाता है।[6] अर्थात् पदान्त अ या आ हो तथा

1. उरूमुवर्णे (स्व० अ० शि० 11)
2. ऋकारम् ऋकारः सवर्णे (स्वराष्टक शि० 13)
3. सिम् सवर्णे दीर्घम् (वा० प्रा० 4/52, प्रा० प्र० शि० 8.
4. सिम् एकारमिवर्णे (स्वराष्टक शि० 3)।
5. कण्ठ्यादिवर्ण एकारम् (वा० प्रा० 4/54, प्रा० प्र० शि० 9)
6. ओकारमुवर्णे (स्वराष्टक शि० 4)

पदादि में उ या ऊ हो तो दोनों मिलकर ओकार हो जाते हैं। जैसे—त्वा + ऊर्जे = त्वोर्जे (वा॰ सं॰ 1|1)। यहाँ पूर्ववर्ती आकार तथा परवर्ती ऊकार (दोनों) के स्थान पर ओकार हो गया है। वा॰ प्रा॰ तथा प्रा॰ प्र॰ शि॰ में भी इस सन्धि का विधान हुआ है।[1]

(4) ऋकार का रेफ भाव

स्वर बाद में होने पर ऋकार का रेफ हो जाता है।[2] जैसे—धातृ + अंशः = धात्रंशः। यहाँ स्वर अकार बाद में होने पर ऋकार का रेफ हो गया है।

ऐकारभाव

इसके अन्तर्गत वे विकार आते हैं जिसमें पदान्तीय अवर्ण तथा पदादि एकार अथवा ऐकार मिलकर ऐकार हो जाते हैं। स्वराष्टक शिक्षा के अनुसार अवर्ण अर्थात् अ या आ के बाद में ए अथवा ऐ हो तो दोनों के स्थान पर ऐकार हो जाता है।[3] जैसे—(1) स्वाहा + एकताय = स्वाहैकताय (वा॰ सं॰ 23/34)। यहाँ पूर्ववर्ती आकार तथा परवर्ती एकार दोनों के स्थान पर ऐकार हो गया है, (2) इन्द्राय + ऐन्द्रम् = इन्द्रायैन्द्रम् (वा॰ सं॰ 19/18)। यहाँ पदान्त अकार तथा पदादि ऐकार मिलकर ऐकार हो गया है।

वा॰ प्रा॰ में भी इस सन्धि का विधान हुआ है जिसको प्रा॰ प्र॰ शि॰ में उद्धृत किया गया है।[4]

माध्यन्दितसंहिता में इस विधान का अपवाद भी उपलब्ध होता है जिसका निर्देश शिक्षाग्रन्थों में नहीं उपलब्ध होता किन्तु वा॰ प्रा॰ में यह उल्लेख किया गया है कि समुद्रस्येमन् तथा त्वेमन् में पूर्ववर्ती अवर्ण परवर्ती एकार से मिल गया है।[5] जैसे—(1) समुद्रस्य + एमन् = समुद्रस्येमन् (वा॰ सं॰ 13/17)। (2) त्वा + एमन् = त्वेमन् (वा॰ सं॰ 13/53)। इसमें कतिपय आचार्यों का भी मत प्रस्तुत किया गया है। इनके अनुसार एजति का एकार बाद में होने पर भी अवर्ण परवर्ती एकार में मिल जाता है।[6] जैसे—न + एजति = नेजति (वा॰ सं॰ 40/5)।

1. उवर्ण ओकारम् (वा॰ प्रा॰ 4/55, प्रा॰ प्र॰ शि॰ 10)
2. ऋकारो रेफं स्वरे (स्वराष्टक शिक्षा–12)
3. ऐकारमेऐपरत्वे (स्वराष्टकशिक्षा—6)
4. सन्ध्यक्षर ऐकारौकारौ (वा॰ प्रा॰ 4/58, प्रा॰ प्र॰ शि॰ 11)
5. समुद्रस्येमस्त्वोद्यन्निति च (वा॰ प्रा॰ 4/56, प्रा॰ प्र॰ शि॰ 11 को व्याख्या)
6. एजत्योजोदेकेषाम् (वा॰ प्रा॰ 4/57)

औकारभाव

स्वराष्टक शिक्षा के अनुसार अवर्ण (=अ या आ) के बाद में ओ अथवा औ होने पर दोनों स्थान पर औकार हो जाता है।[1] जैसे—इन्द्र+ओजिष्ठः= इन्द्रौजिष्ठः (वा० सं० 9/39)। यहाँ पूर्ववर्ती अकार तथा परवर्ती ओकार मिलकर औकार हो गया है, (2) प्र+ओक्षन्=प्रौक्षन् (वा० सं० 31/9)। यहाँ पूर्ववर्ती अकार तथा परवर्ती ओकार—दोनों के स्थान पर ओकार हो गया है।

वा० सं० में कतिपय स्थलों पर इस विधान का अपवाद उपलब्ध होता है; जिसके विषय में शिक्षाग्रन्थ मौन हैं किन्तु वा० प्रा० में इसका विधान किया गया है। इसके अनुसार त्वोद्मन् में पूर्ववर्ती अवर्ण परवर्ती ओकार में मिल गया है।[2] जैसे—त्वा+ओद्मन्=त्वोद्मन् (वा० सं० 13/33)। वा० प्रा० में यह भी बतलाया गया है कि कतिपय आचार्यों के अनुसार ओजः बाद में होने पर पूर्ववर्ती अवर्ण परवर्ती ओकार से मिल जाता है। जैसे—सह+ओजः=सहोजः (वा० सं० 36/1)।

इवर्ण का यकारभाव

इवर्ण के बाद उसके सवर्ण से व्यतिरिक्त कोई स्वर होने पर इकार का यकार हो जाता है तथा परवर्ती स्वर अविकृत रहता है। स्वराष्टकशिक्षा के अनुसार स्वर बाद में होने पर इवर्ण का यकार हो जाता है।[3] यहाँ स्वर से असवर्ण स्वर समझना चाहिए क्योंकि सवर्ण स्वर बाद में होने पर दोनों के स्थान पर दीर्घत्व की प्राप्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि इ या ई से परवर्ती असवर्ण स्वर (अ, आ, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ए, ऐ, ओ तथा औ) हो तो उस पूर्ववर्ती इ या ई का य् हो जाता है। जैसे—(1) त्रि+अम्बकम्=त्र्यम्बकम् (वा० सं० 3/60)। यहाँ इकार के बाद में असवर्ण अकार है अतः इकार का यकार हो गया है, (2) वाजी+अर्वन्=वाज्यर्वन् (वा० सं० 11/44)। यहाँ ईकार के बाद असवर्ण अकार होने से ईकार का यकार हो गया है।

वा० प्रा० में स्वर बाद में होने पर इकार के यकारभाव का विधान प्राप्त होता है जिसको प्रा० प्र० शि० में भी निरूपित किया गया है।[4]

---

1. ओकारमो ओपरत्वे (स्वराष्टक शिक्षा 7)
2. समुद्रस्येमस्त्वेमन्त्वोद्मन्निति च (वा० प्रा० 4/56, प्रा० प्र० शि० 11 की व्याख्या में उद्धृत)
3. इयं स्वरे (स्वराष्टक शि० 12)
4. स्वरे भाव्यन्तस्याम् (वा० प्रा० 4/47, प्रा० प्र० शि० 3)

उवर्ण का वकारभाव

उवर्ण से परे असवर्ण स्वर वर्ण होने पर उवर्ण के स्थान पर वकार हो जाता है। स्वराष्टक शिक्षा में इसी तथ्य का उद्घाटन करते हुए कहा गया है कि असवर्ण स्वरवर्ण बाद में होने पर उवर्ण का वकार हो जाता है।[1] अर्थात् उ अथवा ऊ के बाद में असवर्ण स्वर (अ, आ, इ, ई, ऋ, ॠ, ए, ऐ, ओ तथा औ) हो तो उकार अथवा ऊकार के स्थान पर वकार हो जाता है जैसे—द्रु+अन्नः= द्रवन्नः (वा० सं० 11/70)। यहाँ उकार के बाद में असवर्ण अकार होने के कारण उकार का वकार हो गया हैं। वा० प्रा० तथा प्रा० प्र० शि० में भी इसी तथ्य का विवेचन हुआ है।[2]

सन्ध्यक्षरों के विकार

इस विकार के अन्तर्गत पूर्ववर्ती एकार, ऐकार, ओकार तथा औकार का विकार आता है। इसका विधान स्वराष्टक शिक्षा में किया गया है।

एकार का अय्कारभाव

स्वराष्टकशिक्षा के अनुसार स्वर वर्ण बाद में होने पर एकार का अय्कार हो जाता है।[3] जैसे—इळे+एहि=इळेय् एहि (यवयोः पदान्तयोः से यकार का लोप होकर)=इड एहि (वा० सं० 3/27)। यहाँ एकार बाद में होने के कारण पदान्तीय एकार के स्थान पर अय्कार हो गया है। पुनः इडय्रूप बनता है और तब यकार का लोप हो गया है।

ओकार का अव्कार-भाव

स्वराष्टकशिक्षा के अनुसार स्वर बाद में होने पर ओकार का अव्कार हो जाता है।[4] जैसे—कृशानो+एते=कृशानव् एते=कृशानवेते (वा० प्र० 4/27)। यहाँ एकार बाद में होने से पूर्ववर्ती ओकार का अव् हो गया है।

ऐकार का आय्कार-भाव

स्वराष्टकशिक्षा के अनुसार स्वर बाद में होने पर ऐकार का आय् हो जाता है।[5] जैसे—सरस्वत्यै+अग्रजिह्वम्=सरस्वत्याय् अग्रजिह्वम्=सरस्वत्या

---

1. उर्वं स्वरे (स्वराष्टक शि० 12)
2. स्वरे भाव्यन्तस्थाम् (वा० प्रा० 4/47, प्रा० प्र० शि० 3)
3. एकारोऽयं स्वरे (स्वराष्टक शि० 14)
4. ओकारोऽवम् स्वरे (स्वराष्टक शि० 15)
5. ऐरायम् स्वरे (स्वराष्टक शि० 16)

अग्रजिह्वम् (वा० सं० 25/1)। यहाँ अकार स्वरवर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती ऐकार का आय् हो गया है। पुनः "यवयोः पदान्तयोः" वा० प्रा० 4/125 से यकार का लोप हो गया है।

औकार का आव्कारभाव

स्वराष्टकशिक्षा के अनुसार स्वर बाद में होने पर पूर्ववर्ती औकार का आव् हो जाता है।[1] जैसे—हिरण्यरूपौ+उषसः=हिरण्यरूपाव् उषसः (लोप) =हिरण्यरूपा उषसः (वा० सं० 10/16)। यहाँ उकार स्वर बाद में होने पर पूर्ववर्ती औकार का आव् हो गया है और फिर "यवयोः पदान्तयोः" से वकार का लोप हो गया है।

वा० प्रा० में सन्ध्यक्षरों के इस अय्, आय्, अव् तथा आव् विकार को बतलाया गया है जिसका उद्धरण प्रा० प्र० शि० में भी दिया गया है।[2] व० प्र० शि० में भी इसी तथ्य का निरूपण किया गया है।[3]

पूर्वरूपभाव

पदान्त एकार अथवा ओकार के रहने से पदादि अकार का पूर्वरूप हो जाता है। पूर्ववर्ती एकार का स्वर परे रहते अय्कार तथा ओकार का अव्कार प्राप्त होता है। यह विकार उसी अय्कार तथा अव्कार का अपवाद है। इसके अनुसार अकार बाद में होने पर पूर्ववर्ती एकार का अय्कार तथा ओकार का अव्कार न होकर अकार का पूर्वरूप हो जाता है अर्थात् अकार अपने पूर्ववर्ती एकार अथवा ओकार में मिल जाता है। कतिपय आचार्य इस अवस्था को अकार का लोप मानते हैं। उनके अनुसार एकार तथा ओकार से परवर्ती अकार का लोप हो जाता है तथा पदान्तीय एकार अथवा ओकार ही रहता है।

शुक्लयजुर्वेदीय स्वराष्टकशिक्षा में ही इस विकार का विधान पाया जाता है उसके अनुसार ओकार से परवर्ती अकार का लोप हो जाता है[4] तथा एकार से भी परवर्ती अकार का लोप हो जाता है।[5] जैसे—वः+अयम्=वोऽयम् (वा० सं० 9/4)। ये+अत्र=येऽत्र (वा० सं० 12/45)। परन्तु उस विधान

1. औरावं स्वरें (स्वराष्टक शि० 17)
2. सन्ध्यक्षरमयवायावम् (वा० प्रा० 4/58, प्रा० प्र० शि० 4)
3. शि० सं० पृ० 135 (व० प्र० शि०)
4. ओपकारो लोपम् (स्वराष्टक शि० 18)
5. एपराकारो लोपम् (स्वराष्टक शि० 19)

के अनुसार सभी स्थलों पर अकार का लोप नहीं उपलब्ध होता। कहीं तो इस विधान के अनुसार कार्य हुआ दिखलायी पड़ता है और कहीं नहीं। कब अकार लुप्त रहता है और कब अलुप्त, इसका विवेचन शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं में नहीं उपलब्ध होता। वा० प्रा० में यह विधान किया गया है। प्रसङ्गतः उसका उल्लेख कर देना आवश्यक है। इसके अनुसार एकार तथा ओकार से परवर्ती अकार पूर्वरूप को प्राप्त करता है।[1] अर्थात् एकार अथवा ओकार पदान्त हो तो पदादि अकार पूर्ववर्ती एकार अथवा ओकार से मिल जाता है। यह पूर्वरूपता इन विधानों के अनुसार होती है—

(1) गाहमानः, शिवः, भरन्तः, द्वेषोभ्यः जम्भयन्तः, वाजे, वाजजितः, मदन्तः, शोचे, अवसे, सुषवे, ज्योते, सुपर्णः, वीरुधः, सुवीरः, धातवे, सूनवे, द्रूणानः, आशवः, वहतः, संक्रन्दनः, बाहवः, अयुध्यः और अद्रुहः से परवर्ती अकार पूर्वरूप को प्राप्त करता है।[2] जैसे—गाहमानः+अदयः=गाहमानोऽदयः (वा० सं० 17/39) इत्यादि।

(2) वोऽहम्, सोऽहम्, सोऽस्माकम्, तेऽगिरः, वोऽर्वाची—इन दो पदों में अकार पूर्वरूप को प्राप्त करता है।[3] जैसे—वः+अहम्=वोऽहम् (वा० सं० 9/4) इत्यादि।

(3) ये से परवर्ती अन्न और अत्र का अकार पूर्वरूप को प्राप्त करता है।[4] जैसे—ये+अत्र=येऽत्र (वा० सं० 12/45)

(4) ये से परवर्ती अविद्या और असम्भूति का भी अकार पूर्वरूप को प्राप्त करता है।[5] जैसे—ये+अविद्या=येऽविद्या (वा० सं० 40/12)। ये+असम्भूतिम् =येऽसम्भूतिम् (वा० सं० 40/9)।

(5) उपस्थेऽन्तः और तेभ्योऽकरम् में अकार पूर्वरूप को प्राप्त हो जाता है।[1] जैसे—उपस्थे+अन्तः=उपस्थेऽन्तः (वा० सं० 12/39)। तेभ्य+अकरम्= तेभ्योऽकरम् (वा० सं० 16/8)।

---

1. एदोद्भ्यां पूर्वमकारः (वा० प्रा० 4/62, प्रा० प्र० शि० 14).
2. गाहमानः शिवो भरन्तो···अद्रुहः (वा० प्र० 4/65)
3. वोऽहम् सोऽहम्···वोऽर्वाची (वा० प्रा० 4/66)
4. येऽन्नात्रयोः (वा० प्रा० 4/67)
5. अविद्यासम्भूत्योश्च (वा० प्रा० 4/68)

(6) सौत्रामणी में न होने पर नमोस्तु में अकार का पूर्वरूप होता है।[2] जैसे—नमः + अस्तु = नमोऽस्तु (वा० सं० 13/6)।

(7) विश्वे, अग्रे, विशो और रायो से परवर्ती अकार पूर्वरूप को प्राप्त करता है किन्तु अग्निचयन में नहीं।[3] जैसे—विश्वे + असुङ्घर्मम् = विश्वेअसुङ्घर्मम् (वा० सं० 8/19) इत्यादि।

(8) सूर्यो और अग्ने से परवर्ती अभि का अकार पूर्वरूप को प्राप्त करता है।[4] जैसे—सूर्यो + अभि = सूर्योऽभि (वा० सं० 13/30)। अग्ने + अभि = अग्नेऽभि (वा० सं० 12/7)।

(9) रिषो, यवसे, पुरुप्रियो, अन्तपते और अर्णवे से परवर्ती अकार का पूर्वरूप हो जाता है।[5] जैसे—रिषो + अम्ब = रिषोऽम्ब (वा० सं० 11/68) इत्यादि।

(10) यकार और वकार बाद में होने पर भी अकार पूर्वरूप हो जाता है।[6] जैसे—योजने + अव = योजनेऽव (वा० सं० 16/54)। तेजो + अयस्मयम् = तेजोऽयस्मयम् (वा० सं० 12/63)।

(11) गवे, मे, मनसो, सोम्यासः, पाशिनो, विदानो, अन्नते, मूजवतो, वृष्णे, अपाकः, दीदिवः, त्रयस्त्रिंशे, ब्राह्मणे, यकः, रथः, विश्वतः, पादः, और वसन्तः से परवर्ती अकार का पूर्वरूप हो जाता है।[7] जैसे—गवे + अश्वाय = गवेऽश्वाय (वा० सं० 3/59) इत्यादि।

(12) अवोऽस्तु, अग्ने गृहपतेऽभि, सत्वानोऽह्य, नोऽजस्रया, विमानोऽजस्रः सुतेऽश्विना, नमोऽग्नये, तेऽग्रम्, तेऽग्रे वृक्षस्य, प्राथमोऽन्तः और तेऽन्येन में अकार का पूर्वरूप हो जाता है।[8]

---

1. उपस्थेऽन्तस्तेभ्यो करम् (वा० प्रा० 4/69)
2. नमोस्त्वसौत्रामण्याम् (वा० प्रा० 4/70)
3. विश्वेऽग्रे विशो रायोऽनग्नो (वा० प्रा० 4/71)
4. सूर्योऽग्नेऽभो (वा० प्रा० 4/72)
5. रिषो यवसे पुरुप्रियोऽन्नपते र्णवे (वा० प्रा० 4/73)
6. व्यपरे च (वा० प्रा० 4/74)
7. गवे मे मनसो······पादो वसन्तः (वा० प्रा० 4/75)
8. अवो स्त्वग्ने······तेऽन्येन (वा० प्रा० 4/76)

(13) पणयः, जहीमः और अम्बिके से परवर्ती अकार का पूर्वरूप हो जाता है।[1] जैसे—पणयः + असुम्ना = पणयोऽसुम्ना (वा० सं० 35।1) इत्यादि।

(14) नोनुमोऽदुग्धा इव, प्रचेतसोऽश्वान्, नरोऽस्माकम्, वृषपाणयोऽश्वाः, प्रदिशोऽनु, उदितेऽनागाः, अन्धसोऽर्चा, वनस्येतेऽद्धा, यज्ञियेभ्योऽमृतत्वम्, विपश्चितोऽभि, जनोऽनमीव, आयवो, नु, नोऽद्य, देशेऽभवत्, वयुने जनिष्ट, विद्मनापसोऽजायन्त, पूर्व्यासोऽरेणवः, नोऽस्मा, नोऽदितिः, नोऽहिः—में अकार का पूर्वरूप हो गया है।[2] जैसे—नोनुनो + अदुग्धा इव = नोनुनोऽदुग्धा इव (वा० सं० 27/35) इत्यादि।

(15) ब्राह्मणः से परवर्ती अकार पूर्वरूप को प्राप्त करता है।[3] जैसे—ब्राह्मणः + अस्यः = ब्राह्मणोऽस्य (वा० सं० 31/11)।

(16) यजुषों में भी अकार पूर्वरूप को प्राप्त करता है।[4] जैसे—वेदः + असि = वेदोऽसि (वा० सं० 4/65)।

(17) सङ्क्रम में भी सर्वत्र अकार पूर्वरूप को प्राप्त करता है।[5] जैसे—शूद्रे यत् + अर्ये = शूद्रेयदर्ये (वा० सं० 20/17) (पदों में सङ्क्रम होकर) = शूद्रे ये।

पूर्वरूप के अपवाद

(1) उपरोक्त स्थलों के अतिरिक्त ऋचाओं में अकार प्रकृतिभाव से रहता है।[6] जैसे—आरे + अस्मे = आरे अस्मे (वा० सं० 3/11)

(2) जुषाणः से परवर्ती अध्वन् के अकार से अन्य अकार प्रकृतिभाव से रहते हैं।[7] जैसे—जुषाणः + अप्तुराज्यस्य = जुषाणो अप्तुराज्यस्य (वा० सं० 5/35)।

(3) अनुदात्त ते से परवर्ती अनुदात्त अकार प्रकृतिभाव से रहता है[8] जैसे—ते + अग्ने = ते अग्ने (वा० सं० 5/2)।

---

1. पणयोजहीमोऽम्बिके (वा० प्रा० 4/77)
2. नोनुमोऽदुग्धा······नोहिः (वा० प्रा० 4/78)
3. ब्राह्मणः (वा० प्रा० 4/79)
4. यजुष्षु (वा० प्रा० 4/80, प्रा० प्र० शि० 16)
5. सङ्क्रमे च सर्वत्र (वा० प्रा० 4/81)
6. प्रकृतिभाव ऋक्षु (वा० प्रा० 4/82) प्रा० प्र० शि० 15.
7. जुषाणश्चानध्वनि (वा० प्रा० 4/83)
8. तै चानुदात्तमनुदात्ते (वा० प्रा० 4/84)

(4) हेडः, आपः, गुवः, अपाग्ने, धीरासः, देवासः, उरः, रक्षाणः, मो, वैश्वानरः, वृषभः, वचः, प्राणः, उदानः, अङ्गे, इमा मे, वृष्णः, दशमास्यः, अन्धः, आवित्तः, अरिष्टः, अर्जुनः, प्रत्याश्रावः, स्विष्टः, घासे प्रणीतः, तेभ्यः, नमोऽस्तु, दूरे, नो, अद्य, यज्ञे, सधस्थे, सो अध्वराय, इन्द्रे हिरण्यपवः, द्वारः देवः, अब्दः, रथिभ्यः अहद्भ्यः और संसदः से परवर्ती अकार प्रकृतिभाव से रहता है।[1] जैसे—हेडः + अवयासि = हेडो अवयासि (वा० सं० 21/3) इत्यादि।

(5) अङ्कुपम्, अङ्काङ्कम् और अस्नवयः बाद में होने पर छन्दों का ओकार प्रकृतिभाव से रहता है।[2] जैसे—छन्दः + अङ्कुपम् = छन्दो अङ्कुपम् (वा० सं० 15/4 इत्यादि)

अकार का दीर्घभाव

(1) वकार बाद में होने पर अन्न, रश्मि, सुमति, मति, श्व, सुत, चारय, घृणि, सेदिम, इन्द्रिय, धारय, चित्र, भङ्गुर, वयन, अश्वस्य, हृदय, घुष्य, ऋत, अभि, अवत, अधि, अर्च, शक्ति, पुरु, शचि का ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है।[3] जैसे—अश्वावतीम् (वा० सं० 12/81) इत्यादि।

(2) सह, भुव, पुष, वसु, बाद में होने पर विश्व का अकार दीर्घ हो जाता है।[4] जैसे—विश्व-साहम् = विश्वासाहम् (वा० सं० 7/36)।

(3) नर, हा तथा मित्र बाद में होने पर भी विश्व का अकार दीर्घ हो जाता है।[5] जैसे—विश्व + नराय = विश्वानराय (वा० सं० 33/23) इत्यादि।

(4) आद्युदात्त "तिष्ठ" पद का अकार दीर्घ हो जाता है।[6] जैसे—तिष्ठ + देवः = तिष्ठादेवः (वा० सं० 11/42)।

(5) वन, श्रृंग और यास बाद में होने पर "प्र" का अकार दीर्घ हो जाता है।[7] जैसे—प्र + वनेभिः = प्रावणेभिः (वा० सं० 12/50)।

---

1. हेडः······संसदः (वा० प्रा० 4/85)
2. छन्दो अङ्कुपमङ्काङ्कमस्नवयः (वा० प्रा० 4/86)
3. अश्वरश्मि···वकारे (वा० प्रा० 3/97, प्रा० प्र० शि० 102)
4. विश्वसहभुवपुषवसुषु (वा० प्रा० 3/102, प्रा० प्र० शि० 106)
5. नरहामित्रेषु च (वा० प्रा० 3/102, प्रा० प्र० शि० 105)।
6. तिष्ठाद्युदात्तम् (वा० प्रा० 3/103, प्रा० प्र० शि० 107)।
7. प्रणवश्रृङ्गयासेषु (वा० प्रा० 3/104, प्रा० प्र० शि० 108)

(6) यकार बाद में होने पर श्रथ, उदारिथ, शोच, पनय, सादय, ऋजु वृष, शत्रु, सलक्ष्म, घ, अघ, अराति, ऋत, और भवत का अकार दीर्घ हो जाता है।[1] जैसे—(1) श्रथ+य=श्रथाय (वा० सं० 12/12), (2) उदारिथ यज्ञे= उदारिथा यज्ञे (वा० सं० 17/75) इत्यादि।

(7) वृध और वृज बाद में होने पर "व" का अकार दीर्घ हो जाता है।[2] जैसे—(1) द्रुग्वावृधे (वा० सं० 7/39), (2) वावृजे (वा० सं० 33/42)।

(8) तम्, हकार, चकार, भवत, वृणीमहे और देव बाद में होने पर अद्य का अन्तिम अकार दीर्घ हो जाता है।[3] जैसे—(1) अद्या तमस्य (वा० सं० 33/97), (2) अद्या+हुवेम (वा० सं० 8/45) इत्यादि।

(9) मकार बाद में होने पर श्रृणुत, त्विषि, ध्रजि, भवत पिब, इत, रम, तिष्ठ, रक्ष का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है।[4] जैसे—श्रृणुताम् (वा० सं० 7/34)। त्विषी मते (वा० सं० 16/17)

(10) "वती" बाद में होने पर विश्वदेव्य तथा सोम का अन्तिम अकार दीर्घ हो जाता है।[5] जैसे—विश्वदेव्यावती (वा० सं० 11/61), सोमावतीम् (वा० सं० 12/81) इत्यादि।

(11) महोभिः नक्त, ईम्, ईकार, एकार, ओकार तथा नकार से परवर्ती उष का अकार दीर्घ हो जाता है।[6] जैसे—महोभिः उषासानक्ता (वा० सं० 20/40–41) इत्यादि।

(12) पूष्णः, जहीमः और तैं बाद में होने पर अत्र का अन्तिम अकार दीर्घ हो जाता है।[7] जैसे—अत्रा पूष्णः (वा० सं० 25/27)। अत्रा जहीमः (वा० सं० 35/10)।

(13) नरः, सप्तऋषीन्, नः त आहुः और नियुद्भिः बाद में होने पर यत्र का अन्तिम अकार दीर्घ हो जाता है।[8] जैसे—यत्रा नरः (वा० सं० 39/48) तत्रा सप्तऋषीन् (वा० सं० 17/26)।

1. श्रथोदारिथ···यकारे (वा० प्रा० 3/112, प्रा० प्र० शि० 115)
2. ववृधवृजो (वा० प्रा० 3/113, प्रा० प्र० शि० 166)
3. अद्य तं हकार चकार भवत वृणीमहे देवेषु (वा० प्रा० 3/114)
4. श्रृणुतत्विषिध्रजि···रक्षामकारे (वा० प्रा० 3/116)
5. विश्वदेव्यसोमो वत्याम् (वा० प्रा० 3/117)
6. उष महोभिर्नक्तेमीकारेकारोकार नकारेभ्यः (वा० प्रा० 3/118)
7. पूष्णो जहीमस्तेष्वत्र (वा० प्रा० 3/120)
8. नरस्सप्तऋषीन्नस्त आहुर्नियुद्भिष्षु यत्र (वा० प्रा० 3/121)

(14) अभिमाति, पृतनासु, सपत्न, धूः, विश्व, समत्सु, पृतना, व्रात से पर-वर्ती सह का अकार दीर्घ हो जाता है।[1] जैसे—अभिमातिषाहः (वा० सं० 12/113) ' पृतनासु साहसिम् (वा० सं० 11/76) इत्यादि।

(15) उक्थ से परे रास का भी अन्तिम अकार दीर्घ हो जाता है।[2] जैसे—उक्थशासश्चरन्ति (वा० सं० 17/31)।

(16) एव, अच्छ, चक्रम अथ का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है।[3] जैसे – एवा नो (वा० सं० 13/20) इत्यादि।

(17) सौत्रामणी से अन्य स्थलों में विद्म का अकार दीर्घ हो जाता है।[4] जैसे--विद्मा ते (वा० सं० 12/19)।

(18) यत्, स्म, ग्ना और वायु वाद में न होने पर अध का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है।[5] जैसे—अधा यथा (वा० सं० 19/39) इत्यादि।

(19) वायु शब्द रहित द्वन्द्व समासों में पूर्वपद का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है।[6] जैसे—अग्नीषोमो (वा० सं० 2/15) इत्यादि।

(20) पिबा सोमम्, पिबा सुतस्य, स्था मयोभुवः, नू रणे, शमीष्ठा, मामहानः, मामहन्तां, अशीतम, रीरिषः, रीरिषत, यामयन्ति, हिष्माते, वर्धया रयिम्, श्रुधी हवम, चरा सोम, सूयवसिनी, श्रोता ग्रावाणः, धर्षा मानुषः, पाथा दिवः, युक्ष्वा हि, गमया तमः, सिञ्चता सुतम्, पीरवापक्ष उक्था शस्त्राणि, अत्ता हवींषि, आच्या जानु, क्षामा रेरिहत, क्षामा भिन्दतः रहेमा स्वस्तये, जनयथा च, धारया मयि, तरा मृधः, बोधा मे, विवृता उन्धम्, अवता हवेषु, शृणधी गिरः, रक्षा तोकम्, वर्षणीसहाम्, वर्षणीधृतः, येना समत्सु, वनेमा ते, ऋध्यामा ते, शिक्षा सखिभ्यः तत्रारथम्, दीयारथेन, इता जयत, वर्धया त्वम्, प्रब्रवामा घृतस्य, आजगन्था परस्याः, ररिमा हि, पुरीतता, प्लीहाकर्ण और शुण्ठाकर्णः, नीकाशाः, अनूकाशेन, चक्रा जरसम्, मिथू कः, तरता सखायः, सासह्वान्, अपामार्ग, उभयादतः,

---

1. अभिमाति पृतनासु सपतन धूर्विश्व समत्सु पृतना व्रातेभ्यः सहेः।
(वा० प्रा० 3/122)
2. उक्थाच्च शसैः (वा० प्रा० 3/123)
3. एवाच्छचक्रमाथ (वा० प्रा० 3/124)
4. बिद्मासोत्रामण्याम् (वा० प्रा० 3/125)
5. अधा त्स्मग्नावायुषु (वा० प्रा० 3/126)
6. पूर्वो द्वन्द्वेष्ववायुषु (वा० प्रा० 3/127)

ऋतीहृषम्, अभीषु, सुष्टरीमा, जुषाणा, यज्ञा देवान्, येना पावक, अश्वायन्तः, यदी सरमा, स्वदया, सुजिह्व, निषद्या दधिष्व, सदतना रणिष्टन, भरा चित्किसा गविष्टो, अवावदत, रक्षा च, आयुनक्, सृजा रराणः तथा सान्दयम्—इन स्थलों पर ह्रस्व स्वर दीर्घ हो गया है।[1]

अकार के दीर्घत्व के अपवाद

(1) हिरण्य से परवर्ती अश्ववत् के अश्व का पदान्तीय ह्रस्व दीर्घ नहीं होता।[2] जैसे—हिरण्यवदश्ववत् (वा० सं० 8/63)।

(2) अश्वस्य वाजिनः—इस द्वैपद में भी अश्वस्य का पदान्तीय अकार दीर्घ नहीं होता।[3] जैसे—अश्वस्य वाजिनः (वा० सं० 23/37)।

इकार का दीर्घभावः

(1) वार तथा हार बाद में होने पर नि का इकार दीर्घ हो जाता है यदि "नि" अवग्रह न हो।[4] जैसे—नि + वारा = नीवाराः (वा० सं० 8/12)। नि + हारेण = नीहारेण (वा० सं० 17/31)।

(2) तकार और नकार बाद में होने पर "रथि" का इकार दीर्घ हो जाता है।[5] जैसे—रथीतमम् (वा० सं० 12/56), रथीनाम् (वा० सं० 12/56)।

(3) कतिपय आचार्यों के अनुसार शय बाद में होने पर हरि का पदान्त इकार दीर्घ हो जाता है।[6] जैसे—हरि + शया = हरीशया (वा० सं० 5/8)।

इकार के दीर्घत्व के अपवाद

विख्येषम्, वीर, विश्व, सत्स, वृत्र और वाजयन्त बाद में होने पर अभि का इकार दीर्घ नहीं होता।[7] जैसे—अभि + विख्येषम् = अभिविख्येषम् (वा० सं० 1/11)।

---

1. पिबासोमं पिबासुतस्य ··सादन्यमिति। (वा० प्रा० 3/129)
2. नाश्ववद्धिरण्यात् (वा० प्रा० 98)
3. अश्विन वाजिन इति च (वा० प्रा० 3/100)
4. निवारहारयोरनवग्रहे (वा० प्रा० 3/105)
5. रथितकारनकारयोः (वा० प्रा० 3/111)
6. हरिशयेत्येके (वा० प्रा० 3/128)
7. अभि विख्येषं वीरविश्ववत्सवृत्रवाजयन्तेषु (वा० प्रा० 3/99)

उकार का दीर्घभाव

(1) सु बाद में होने पर अपृक्त उकार संहिता में दीर्घ हो जाता है।[1] जैसे—ऊ षु णः (वा० सं० 11/42)।

(2) अवसानस्थ पूरुष में उकार हो गया है।[2] जैसे—पूरुषः (वा० सं० 12/91)

स्वर सन्धि के अपवाद

(1) प्रातिशाख्यप्रदीप-शिक्षा तथा वा० प्रा० के अनुसार का, ध्रुवा, ऊती, सदना, होतारा, ज्या, स्वधा, पृथिवी, प्रतिमा—इनके पदान्त स्वर क्रमशः ईम्, असदन्, अश्याम, अकर्म, ऊर्ध्वम्, इयम्, अवस्तात्, उत और अस्ति बाद में होने पर प्रकृतिभाव रहते हैं।[3] जैसे—का + ईम् = का ईम् (वा० सं० 23/55)। ध्रुवा + असदन् = ध्रुवा असदन् (वा० सं० 2/6)।

(2) स्वर बाद में होने पर प्रगृह्य संज्ञक स्वर वर्ण प्रकृतिभाव से रहते हैं।[4] प्रगृह्य स्वरों का विवेचन इसी प्रकरण में किया जा चुका है। वे स्वर विकार को प्राप्त नहीं होते। जैसे—इन्द्राग्नी + आगतम् - इद्राग्नी आगतम् (वा० सं० 7/31)। (यहाँ स्वर सन्धि का अपवाद है)।

(3) स्पर्श भिन्न वर्ण के बाद में होने पर अपृक्त उकार प्रकृतिभाव से रहता है।[5] जैसे—एतवा उ अञ्जि। यहाँ अपृक्त उकार प्रकृतिभाव से है क्योंकि उसके पूर्व मे स्पर्श नहीं है स्पर्श पूर्व में होने पर प्रकृतिभाव से नहीं होता अपितु विधानानुसार विकृत हो जाता है। जेसे—तत् + उ = तदु, तदु + अन्तिके = तद्वन्तिके। यहाँ पूर्व में स्पर्श तकार के होने से उकार का असवर्ण भिन्न स्वर अकार बाद में रहने के कारुण वकार में विकृत हों गया है।

व्यञ्जन वर्णों के विकार

इसके अन्तर्गत पदान्तीय पदादि अथवा दोनों व्यञ्जनों के प्राप्त विकार आते हैं। व्यञ्जनवर्णों के विकारों का विधान स्वराष्टक शि०, वर्णरत्नप्रदीप शि०,

---

1. अपृक्तः सो (वा० प्रा० 3/110)
2. पूरुषर्षोऽवसाने (वा० प्रा० 3/119)
3. का ध्रुवोती सदना होतारा···उतास्तिषु (प्रा० प्र० शि० 17, वा० प्रा० 4/87)
4. प्रगृह्यं स्वरे (प्रा० प्र० शि० 13, वा० प्रा० 4/68)
5. उकारोऽपृक्तो स्पर्शात् (प्रा० प्र० शि० 19, वा० प्रा० 4/91)

या० शि०, प्रा० प्र० शि० तथा अन्य कतिपय शि० में किया गया है जो इस प्रकार है—

स्पर्श वर्णों के विकार

इस विकार को मुख्यतः दो भागों में बाँटा जा सकता है—(1) अपञ्चम स्पर्श के विकार तथा (2) पञ्चम स्पर्श के विकार। इन्हीं विभागों के आधार पर यहाँ अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है—

अपञ्चम स्पर्श के विकार

(1) तृतीयस्पर्श-भाव

व० प्र० शि० के अनुसार पूर्ववर्ती पदान्त अपञ्चम स्पर्श, स्वर अथवा सघोष व्यञ्जन बाद में होने पर अपने वर्ग का तृतीय हो जाता है।[1] जैसे—उत्+एनम्=उदेनम् (वा० सं० 17/50)। स्वराष्टक शि० के अनुसार भी क, च, ट, त, प, अर्थात् वर्गों के प्रथम स्पर्श क्रमशः ग, ज, ड, द, ब विकारों को प्राप्त करते हैं यदि उनके बाद अश् प्रत्याहार के वर्ण हो[2]। अश् प्रत्याहार के अन्तर्गत अवर्ण, इवर्ण, उवर्ण, ऋवर्ण, ऌवर्ण, ए, ओ, ऐ, औ अर्थात् सभी स्वर वर्ण तथा ह य र ल व न म ङ ण न झ भ छ ढ ध ज ब ग ड द अर्थात् सभी सघोष वर्ण आते हैं। इस प्रकार इसमें भी यही विधान है कि सघोष तथा स्वरवर्ण बाद में होने पर प्रथम स्पर्श वर्ण अपने वर्ग का तृतीय हो जाता है इसमें इसका उदाहरण भी दिया गया है जैसे—उर्क्+असि=उर्गसि। सम्राट्+असि=सम्राडसि। उत्+वयम्=उद्वयम्। त्रिष्टुप्+इति=त्रिष्टुबिति।

उल्लेखनीय है कि यहाँ चकार के तृतीयत्व भाव अर्थात् जकार होने का उल्लेख नहीं हुआ है इसका कारण है कि चकार का माध्यन्दिनसंहिता में जकारत्व उपलब्ध नहीं होता है।

या० शि० में भी विधान किया गया है कि सघोष वर्ण बाद में होने पर प्रथम स्पर्श अपने वर्ग का तृतीय हो जाता है।[3] जैसे—यत्+ग्रामे=यद् ग्रामे।

---

1. आद्यः स्वरे तृतीयत्वं घोषवत्सु त्वपञ्चमः (व० प्र० शि० 109 पू०)
पदान्ताः प्रथमाः वर्णाः परतो स्वरघोषिणोः।
भजन्ते स्वतृतीयत्वं स्वोत्तमत्वं यथोत्तमे॥ व० प्र० शि० 110
2. कचटतपा गजडदबा नशि। उर्क् असि उर्गसि। सम्राट् असि सम्राडसि।
उत् वयम् उद्वयम्। त्रिष्टुप् इति त्रिष्टुबिति।
3. प्रथमा तृतीयाः स्युः परे घोषवति स्थिते। (या० शि० 102 पू०)

प्रा० प्र० शि० के अनुसार भी स्वर तथा घि संजक (घोष) वर्ण बाद में होने पर प्रथम स्पर्श अपने वर्ग का तृतीय हो जाता है।[1]

(2) प्रथमस्पर्श-भाव

वर्णरत्नप्रदीप शि० के अनुसार अघोष व्यञ्जन बाद में होने पर पदान्तीय अपञ्चम स्पर्श अपने वर्ग के प्रथम स्पर्श हो जाते हैं यह विकार विकल्प से होता है।[2]

(3) द्वितीयस्पर्श-भाव

या० शि० के अनुसार शकार, षकार तथा सकार बाद में होने पर प्रथम स्पर्श अपने वर्ग का द्वितीय स्पर्श हो जाता है।[3] जैसे—अनुष्टुप्+शारदी=अनुष्टुब्छारदी।

(4) पञ्चमस्पर्श-भाव

व० प्र० शि० के अनुसार पदान्त प्रथम स्पर्श, अन्तिम स्पर्श (वर्गों के पञ्चम स्पर्श) बाद में होने पर अपने वर्ग के पञ्चम स्पर्श हो जाते हैं।[4] जैसे—वाक्+मात्या=वाङ्मात्या (वा० सं० 13/58) इत्यादि। स्वराष्टकशिक्षा के अनुसार क ट त तथा प अर्थात् वर्गों के प्रथम स्पर्श, पञ्चम स्पर्श बाद में होने पर क्रमशः ङ ण न तथा म हो जाते हैं।[5] स्वराष्टकशिक्षा में इसका उदाहरण भी प्रस्तुत किया गया है। वाक्+मनः=वाङ्मनः। वट्+महान्=वण्महान्। तत्+मित्रस्य=तन्मित्रस्य। अनुष्टुप्+मात्या=अनुष्टुम्मात्या।

या० शि० के अनुसार पञ्चम स्पर्श बाद में होने पर प्रथम स्पर्श अपने वर्ण का पञ्चम स्पर्श हो जाता है।[6] उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं।

---

1. स्पर्शोऽपञ्चमः स्वरतो तृतीयम् (प्रा० प्र० शि० 13, वा० प्रा० 4/120)
2. अघोषे प्रथमत्वं वा उदेणं यद् ग्रामे अपि (व० प्र० शि० 109 उ०)
3. प्रथमाश्च तृतीया स्युः परे घोषवति स्थिते।
   पञ्चमः पञ्चमे पाठे द्वितीयः शखसेषु च ॥ (पा० शि० 102)
4. स्वोत्तमत्वं यथोत्तमे (व० प्र० शि० 110 उत्तरार्ध)
5. कटतपाः ङणनमा पञ्चमे। वाक् मनः वाङ्मनः। वट्महान् वणमहान्।
   तत् मित्रस्य तन्मित्रस्य। अनुष्टुप् मात्या अनुष्टुम्मात्या॥ स्वराष्टक शि० 2
6. पञ्चमाः पञ्चमे···।। या० शि० 102 उ०

दन्त्य-स्पर्श का तालव्यभाव

व० प्र० शि० के अनुसार चवर्ग (के वर्ण) बाद में होने पर पदान्तीय तवर्ग के स्थान पर चवर्ग हो जाता है।[1] जैसे—तत्+चक्षुः=तच्चक्षु (वा० सं० 36/34)। स्वराष्टक शिक्षा में विधान किया गया है कि चवर्ग तथा शकार बाद में होने पर तवर्ग का चवर्ग हो जाता है।[2] जैसे—तत्+चित्रम्=तच्चित्रम्। तत्+जुषस्व=तज्जुषस्व। यहाँ पहले तकार का चकार होता है तत्पश्चात् घोष वर्ण जकार बाद में होने पर चकार का स्ववर्गीय तृतीयत्व जकार हो गया है। आदित्यान्+श्मश्रुभिः=आदित्याञ्श्मश्रुभिः। यहाँ शकार बाद में होने से नकार का चवर्गीय नकार हो गया है।

वा० प्रा० के अनुसार भी चवर्ग तथा शकार बाद में होने पर तवर्ग का चवर्ग हो जाता है, जिसे प्रा० प्र० शि० में भी उद्धृत किया गया है।[3]

तकार का लकारभाव

प्रा० प्र० शि० तथा स्व० शि० के अनुसार लकार बाद में होने पर तकार का लकार हो जाता है।[4] जैसे—यत्+लोहितम्=यल्लोहितम् (वा० सं० 2/17। व० प्र० शि० में भी लकार बाद में होने पर तकार के लकार होने का विधान किया गया है।[5]

पञ्चम स्पर्श के विकार

पञ्चम स्पर्श वर्णों (ङ ञ ण न तथा म) में नकार तथा मकार के ही विकार प्राप्त होते हैं। ये दोनों वर्ण अत्यधिक परिवर्तनशील हैं तथा परिस्थिति-वशात् अनेक विकारों को प्राप्त करते हैं। शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षा ग्रन्थों में इनके विकार का विधान हुआ है जो इस प्रकार हैं—

---

1. पदान्तस्य तवर्गस्य चवर्गे परते स्थिते।
   चवर्गस्स्यात् तकारस्य चछयो शागमः स्मृतः। व० प्र० शि० 124
2. तदनाश्च जनाः शचवर्गयोः। तत् चित्रम् तच्चित्रम्। तत् जुषस्व तज्जुषस्व।
   आदित्यान् श्मश्रुभिः आदित्याञ्श्मश्रुभिः। स्वराष्टक शि० 3
3. तकारवर्गश्चवर्गे चकारवर्गम्। शकारे च परे।
   (प्रा० प्र० शि० 1, 2)
4. तो लॅल्ले (स्व० अ० शि० 4)
   तकारो ले लम् (प्रा० शि० 6)
5. लकारे लत्वमाप्नोति (व० प्र० शि० 132)

नकार के विकार

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं में उपलब्ध नकार के विकार इस प्रकार हैं—

नकार का रेफ भाव

स्वर बाद में होने पर शत्रून्, क्रतून्, वनस्पतीन् परिधीन् का नकार रेफ को प्राप्त करता है[1] तथा उपधा नासिक्य हो जाता है। जैसे—शत्रून्+अप =शत्रूँरप। (वा० सं० 7/37)। परिधीन्+अप=परिधीँरप (वा० सं० 19/53)। क्रतून्+अनु=क्रतूँरनु (वा० सं० 19/40)। वनस्पतीन्+अनु=वनस्पतीँनु (वा० सं० 13/7)।

नकार का अनुनासिक लकारभाव

प्रा० प्र० शि० तथा व० प्र० शि० के अनुसार लकार बाद में होने पर पदान्तीय नकार लकार हो जाता है तथा पूर्व स्वर अनुनासिक हो जाता है।[2] जैसे - त्रीन्+लोकान्=त्रीँल्लोकान् (वा० सं० 9/31)। स्व० अ० के अनुसार अनुनासिक तवर्ग (=नकार), लकार बाद में होने पर अनुनासिक लकार हो जाता है।[3] जैसे—तान्+लोकान्=ताँल्लोकान्।

नकार का शकार भाव

व० प्र० शि० के अनुसार चकार बाद में होने पर नकार, शकार हो जाता है। जैसे—अहीन्+च=अहीँश्च (वा० सं० 16/5)। स्व० अ० तथा प्रा० प्र० शि० में भी विधान किया गया है। कि चकार तथा छकार बाद में होने पर नकार, शकार हो जाता है तथा पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है।[4] इसके उदाहरण दिये जा चुके हैं।

नकार का सकार भाव

नकार के सकारभाव का विधान व० प्र० शि० तथा स्व० अ० शि० में किया गया है। व० प्र० शि० के अनुसार तकार बाद में होने पर नकार सकार

---

1. शत्रून्क्रतून्वनस्पतीन्परिधीरँच चतुर्थकम्।
   स्वरे रेफत्वमाप्नोति नासिक्यं चोपधा तथा॥ (व० प्र० शि० 139)
2. पदान्तस्थो नकारो यः सोऽनुनासिकपूर्वकः।
   लकारे लत्वमाप्नोति शसत्वं च तकारयो॥ व० प्र० शि० 132
   नुश्चानुनासिकम् (प्रा० प्र० शि० 7)
3. अनुनासिकलँल्ले (स्व० शि० 5)
4. नः शचच्छयोः पूर्वश्चानुनासिकम् (स्व० प्र० शि० 7)
   चछयोः शम् (प्रा० प्र० शि० 6)।

हो जाता है तथा पूर्व स्वर अनुनासिक हो जाता है। स्व० अ० शि० तथा प्रा० प्र० शि० में भी विधान किया गया है कि तकार तथा थकार बाद में होने पर नकार के स्थान पर सकार हो जाता है और पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है।[1] जैसे—गवयान्+त्वष्ट्रे=गवयाँस्त्वष्ट्रे (वा० सं० 24/28)।

यद्यपि तकार बाद में न होने पर वाजसनेयिसंहिता में सर्वत्र सकार उपलब्ध नहीं होता जिसका उल्लेख व० प्र० शि० में किया गया है।

नकार विकार के अपवाद

(1) व० प्र० शि० के अनुसार चकार तथा तकार से अन्य स्पर्श बाद में होने पर नकार प्रकृतिभाव से रहता है।[2] जैसे—अस्मिन्+गोष्ठे=अस्मिन्गोष्ठे। अक्रन्+कर्म=अक्रन्कर्म। देवान्+दिवम्=देवान्दिवम्। पशून्+पाहि=पशून्पाहि।

(2) व० प० शि० के अनुसार तद्धित "तम" बाद में होने पर नकार का विकार नहीं होता।[3] जैसे—मदिन्+तमानाम्=मदिन्तमानाम् वा० सं० 4/82)। मधुन्+तमानाम्=मधुन्तमानाम्।

(3) व० प्र० शि० के अनुसार तमसि बाद में होने पर निर्जगन्वान् का नकार पक्रतिभाव से रहता है।[4] जैसे—निर्जगन्वान्+तमसि=निर्जगन्वान्तमसि (वा० सं० 12/13)।

नकार का विसर्जनीय भाव

प्रा० प्र० शि० तथा व० प्र० शि० के अनुसार पकार बाद में होने पर नॄन् का नकार विसर्जनीय हो जाता है तथा उपधा का नासिक्य हो जाता है।[5] जैसे—नॄन्+पाहि=नॄँः पाहि (वा० सं० 13/52)।

---

1. नः सन्तथयोः पूर्वश्चानुनासिकम् (स्व० अ० शि० 8)
   तथयोः सम् (प्रा० प्र० शि० 7)
2. स्पर्शे परे नकारस्य विकारो नोपलभ्यते।
   चतौ विहाय तत्रापि प्रकृत्याभवनं क्वचित् ॥ (व० प्र० शि० 134)
3. मदिन्तमानां च मधुन्तमानां तद्धिते तमे ॥ (व० प्र० शि० 137 पू०)
4. निर्जगन्वान्तमसि च न विकारो भवेदिह ॥ (व० प्र० शि० 137 उ०)
5. नॄन्पकारे विसर्गत्वमुपधारञ्जनं लभेत् (व० प्र० शि० 138 उ०)
   नॄन्पकारे विसर्जनीयम् (प्रा० प्र० शि० 10)

नकार का लोप

(1) प्रा० प्र० के अनुसार दधन्वान् तथा स्ववान् का नकार, यकार बाद में होने पर लुप्त हो जाता है[1] जैसे—दधन्वा यः, स्ववा यातु।

(2) प्रा० प्र० शि० के अनुसार रयिवृधे बाद में होने पर नकार का लोप हो जाता है[2]। जैसे—अन्नान् + रयिवृधे = अन्ना यिवृधे।

नकार का यकारभाव

प्रा० प्र० शि० में विधान किया गया है कि आकार उपधा वाला नकार यकार हो जाता है तथा उपधा स्वर अनुनासिक हो जाता है।[3] तात्पर्य यह है कि यदि पदान्त नकार से पूर्व में आकार हो तो नकार का यकार हो जाता है तथा पूर्ववर्ती आकार अनुनासिक हो जाता है। जैसे—यान् + आवह = याँ य् आवह (यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः से यकार का लोप) = याँ आवह। महान् इन्द्रः = महाँ इन्द्रः (वा० सं० 7/40)

यहाँ पदान्तीय आकार उपधा वाले नकार का यकार हो गया। इसके बाद उस यकार का लोप हो गया है।

मकार के विकार

मकार के विकारों का उल्लेख शिक्षाग्रन्थों में उपलब्ध होता है जो इस प्रकार है—

मकार का परसस्थानीय पञ्चमभाव

प्रा० प्र० शि० तथा स्व० अ० शि० के अनुसार मकार के बाद में स्पर्श होने पर मकार परवर्ती स्पर्श के समान स्थान वाला पञ्चम स्पर्श हो जाता है।[4] अर्थात् मकार के बाद यदि स्पर्श हो तो मकार अपने परवर्ती व्यञ्जन के समान स्थान वाला अनुनासिक स्पर्श हो जाता है। कवर्ग बाद में होने पर मकार का ङकार, चवर्ग बाद में होने पर मकार का ञकार, टवर्ग बाद में होने पर मकार का णकार, तवर्ग बाद में होने पर मकार का नकार हो जाता है तथा पवर्ग का वर्ण बाद में होने पर मकार, मकार ही रहता है जैसे—व्रतम् + कृणुध्व = व्रतङ्

1. दधन्वान्स्ववान्यकारे लोपम् (प्रा० प्र० शि० 8)
2. रयिवृधे च (प्रा० प्र० शि० 9)
3. आकारोपधो यकारम् (प्रा० प्र० शि० 12)
4. मः परपञ्चमं स्पर्शे (स्व० अ० शि० 9)
   स्पर्शे परपञ्चमम् (प्रा० प्र० शि० 3)

कृणुष्व (वा० सं० 4/11)। व्रतम्+चरिष्यामि=व्रतञ्चरिष्यामि (वा०सं० 1/5); एतम्+ते=एतन्ते (वा० सं० 2/12)। इदम्+पितृभ्यः=इदम्पितृभ्यः (वा० सं० 19/68)। व० प्र० शि० में भी इसी प्रकार का विधान किया गया है।[1]

परसवर्ण अनुनासिक अन्तःस्थभाव

अन्तःस्थ वर्ण बाद में होने पर पदान्तीय मकार परवर्ती अन्तःस्थ हो जाता है तथा उससे पूर्ववर्ती स्वर (उपधा) नासिक्य हो जाता है। इस प्रकार का विधान व० प्र० शि० तथा स्व० शि० में उपलब्ध होता है। व० प्र० शि० के अनुसार अन्तःस्था बाद में होने पर पदान्तीय मकार का अन्तःस्था हो जाता है तथा उपधा नासिक्य हो जाता है।[2] जैसे—सम्+योमि=संय्योमि (वा० सं० 1/22)। सम्+वपामि=सँव्वपामि (वा० सं० 1/21)। तम्+लोकम् =तँल्लोकम् (वा० सं० 20/25)। प्रा० प्र० शि० तथा स्व० अ० शि० में भी विधान किया गया है कि यकार, वकार तथा लकार बाद में होने पर मकार का क्रमशः अनुनासिक यकार, वकार तथा लकार हो जाता है।[3] अर्थात् मकार के बाद में यकार होने पर मकार का अनुनासिक यकार, वकार होने पर मकार का अनुनासिक वकार तथा लकार होने पर मकार अनुनासिक लकार हो जाता है उदाहरण तो ऊपर दिये ही गये हैं।

उल्लेखनीय है कि व० प्र० शि० में अन्तःस्थ अर्थात् य, व, र तथा ल—इन चारों वर्णों के बाद में होने पर पूर्ववर्ती मकार के परवर्ती अन्तःस्थ होने का विधान किया गया है किन्तु स्व० अ० में केवल य, व तथा ल के बाद में होने पर हो। इसमें रेफ के बाद में होने पर मकार के अन्तःस्थ होने का विधान नहीं है। वस्तुतः रेफ बाद में होने पर मकार का अनुस्वार हो जाता है।

मकार का अनुस्वारभाव

प्रा० प्र० शि० तथा स्व० अ० के अनुसार शकार, षकार तथा हकार

---

1. मादौ पदे परे मान्ते पूर्वमुच्चारिते सति।
 ससवर्णं तु तत्र स्यादिमम्मे इति दर्शनम्॥
 व० प्र० शि० 141, या० शि० 45 उ०
2. पदान्तीयमकारस्य त्वन्तस्था परतो यदि।
 नासिक्यमुपधापूर्वं सोऽन्तःस्थात्वमवाप्नुयात्॥ व० प्र० शि० 142
3. मोऽनुनासिक्यवलान्यवलेषु (स्व० अ० शि० 6)
 अन्तःस्थामन्तःस्थास्वनुनासिकां परसस्थानम् (प्रा० प्र० शि० 5)

अथवा रेफ बाद में होने पर मकार का अनुस्वार हो जाता है।[1] जैसे—सम्+शिवम्=सं शिवम्। त्वाम्+शश्वन्तः=त्वां शश्वन्तः (वा० सं० 17/76)। देवम्+सविता=देवं सविता (वा० सं० 4/25)। तपूंषि (वा० सं० 13/10)। उरुम् हि=उरुं हि (वा० सं० 8/23)। अपाम्+रसेन=अपां रसेन (वा० सं० 19/94)।

यकार तथा वकार का लोप

दो स्वरों के मध्य में अयादि सन्धि के परिणामस्वरूप प्राप्त पदान्तीय यकार तथा वकार का लोप हो जाता है। लोप के बाद पुनः सन्धि नहीं होती। तात्पर्य यह है कि स्वर बाद में होने पर पदान्तीय ए का अय्, ओ का अव् ए का आय् तथा औ का आव् होता है। इस अयादि का पदान्तीय यकार लुप्त हो जाता है। तत्पश्चात् परवर्ती स्वर के साथ सन्धि प्राप्त होने पर भी सन्धि नहीं होती है।[2] यहाँ ध्यातव्य है कि लोप होने पर भी वहाँ यकार तथा वकार की सत्ता विद्यमान रहती है उसका दर्शन मात्र नहीं होता अर्थात् लुप्त वर्ण अदृश्य होते हुए भी वह विद्यमानवत् रहता है अतः उस वर्ण की सत्ता होने के कारण पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वर में उस यकार तथा वकार का व्यवधान रहता है। उस व्यवधान के कारण सन्धि नहीं होती क्योंकि सन्धि अव्यवहित वर्णों में ही होती है।

ऊष्म वर्णों के विकार

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं में ऊष्म वर्णों (श ष स तथा ह) के भी विचार उपलब्ध होते हैं जो इस प्रकार है—

शकार का छकारभाव

व० प्र० शि० के अनुसार तवर्ग से परवर्ती शकार छकार हो जाता है यदि उसके बाद स्पर्श वर्ण न हो।[3] अर्थात् पदान्त तवर्ग के बाद में शकार होने पर शकार छकार हो जाता है यदि उस शकार के बाद में स्पर्श वर्ण न हो। उल्ले-

---

1. मः अकारं शषसहरेफेषु (स्व० अ० शि० 12)
   अनुस्वारं रोष्मसु मकारः (प्रा० प्र० शि० 16)
2. यवयोरत्र लोपः स्यात् स्वरमध्ये पदान्तयोः।
   अयादौ यवयोर्लोपे न पुनः सन्धिरिष्यते॥
   (व० प्र० शि० 202 उ० 230 पू०)
3. शकारश्छत्वमाप्नोति तवर्गाद् स्पर्श वर्जितः (व० प्र० शि० 125)
   झयः परः शश्छः (स्व० अ० शि० 14)

खनीय है कि पदान्त तवर्ग के बाद में शकार होने पर तवर्ग का चवर्ग हो जाता है तथा इस विधान के अनुसार शकार का छकार हो जाता है। जैसे—तत्+शकेयम्: तच्छकेयम् (वा० सं० 1/5)।

प्रा० प्र० शि० के अनुसार भी तवर्ग से परवर्ती शकार का छकार हो जाता है।[1] यदि उसके बाद में स्पर्श वर्ण न हों।

हकार का पूर्व—चतुर्थभाव

व० प्र० शि० के अनुसार प्रथम स्पर्श के बाद में हकार होने पर उस पूर्ववर्ती स्पर्श के समान स्थान वाला चतुर्थ वर्ण हो जाता है, अर्थात् यदि हकार कवर्ग के बाद में हो तो हकार का घकार, यदि चवर्ग के बाद में हो तो झकार, यदि टवर्ग के बाद में हो तो ढकार, यदि तवर्ग के बाद में हो तो धकार तथा यदि पवर्ग के बाद में हो तो भकार हो जाता है। जैसे—भिषक्+होमः=भिषग्घोमः। तत्+हविः=तद्धविः, सम्राट्+होमः=सम्राड्ढोमः। स्व० शि० के अनुसार झय् प्रत्याहर के वर्णों के बाद में स्थित हकार पूर्ववर्ती के समान स्थान वाला चतुर्थ हो जाता है।[2] झय् प्रत्याहार के अन्तर्गत पञ्चम स्पर्श से व्यतिरिक्त सभी स्पर्श वर्ण आते हैं। इस प्रकार अपञ्चम स्पर्श से परे हकार अपने पूर्ववर्ती का चतुर्थ हो जाता है। उदाहरण तो ऊपर दिये ही गये हैं। प्रा० प्र० शि० में भी हकार को अपने पूर्ववर्ती स्पर्श संस्थानीय चतुर्थ स्पर्श में विकृत होने का विधान किया गया है।[3]

विसर्जनीय के विकार

या० शि० में विसर्जनीय को आठ रूपों में विकृत होने का विधान किया गया है—ओ, विवृत्ति, श, ष, स, र, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय।[4]

(1) ओकार भाव

विसर्जनीय के विकार से प्राप्त ओकार के स्थल का निर्देश करते हुए या० शि० में कहा गया है कि जहाँ पदादि उकार तथा पदान्त अकार के सन्धि के परिणामस्वरूप ओकार हो वह विसर्जनीय का ओकार नहीं होता, जहाँ परवर्ती

1. परश्चास्पर्शपरच्छम् (प्रा० प्र० शि० 8)
2. झयः परो हः चतुर्थम् (स्व० अ० शि० 14)
3. हश्च तस्मात्पूर्वचतुर्थम् (प्रा० प्र० शि० 15)
4. ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः॥ (या० शि० 2/50)

पदादि उकार नहीं होता वहाँ उपलब्ध ओकार, विसर्ग का विकार होता है।[1] तात्पर्य यह है कि पूर्ववर्ती अकार के बाद में स्थित विसर्ग का ओकार होता है तथा पूर्ववर्ती अकार एवम् परवर्ती ऊकार के स्थान पर भी एकादेश ओकार होता है। जहाँ परवर्ती उकार तथा पूर्ववर्ती अकार के साथ सन्धि के परिणाम-स्वरूप ओकार होता है उससे अन्य स्थलों पर ओकार, अकार से परवर्ती विसर्ग का विकार समझना चाहिए। जैसे—त्वा + उर्जे = त्वोर्जे में ओकार पदान्त अकार तथा पदादि उकार के सन्धि के परिणाम स्वरूप है। इससे अन्यत्र स्थल कुक्कुटः + असि = कुक्कुटोऽसि में ओकार को विसर्जनीय का विकार जानना चाहिए क्योंकि यहाँ पदान्त उकार का अभाव है।

स्वराष्टक शि० के अनुसार अकार अथवा हश् प्रत्याहार के वर्ण (सघोष व्यञ्जन) बाद में होने पर अकार से परवर्ती विसर्ग का ओकार हो जाता है।[2] जैसे—शिवः + असि = शिवोऽसि। देवेभ्यः + हवि = देवेभ्यो हविः

विकार की दृष्टि से विसर्जनीय का बड़ा महत्त्व है। यह सर्वदा पद के अन्त में आता है। पदान्तीय वर्ण होने के कारण परिस्थिति-विशेष में अनेक रूपों में विकृत हो जाता है इन विकारों का विवेचन वा० प्रा० तथा शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में उपलब्ध होता है। जो इस प्रकार है—

विसर्जनीय का उकारभाव

वा० प्रा० तथा प्रा० प्र० शि० में विसर्जनीय के उकारभाव का विधान किया गया है। इसके अनुसार उकार में विकृत विसर्जनीय से परवर्ती दन्त्य वर्ण मूर्धन्य हो जाता है।[3] विसर्जनीय के उकार सम्बन्धी विधान इस प्रकार हैं—

(1) दकार बाद में होने पर दुः का विसर्जनीय उकार हो जाता है।[4] जैसे—दुः + दभः = दूडभः (वा० सं० 3/36)

(2) नाश बाद में होने पर दुः का विसर्जनीय उकार हो जाता है।[5] जैसे—दुः + नाशः = दूणाशः।

---

1. यथोभाव प्रसन्धानमुकारादिपरं पदम्।
   स्वरान्तं तादृशं विद्यात् यदन्यद् व्यक्तमूष्मणः॥ (या० शि० 2/51)
2. अपरविसर्गस्यावहशोः (स्व० अ० शि० 1)
3. परश्च मूर्धन्यम् (वा० प्र० 3/40)
4. उकारं दुर्दे (वा० प्रा० 3/42, शि० सं० पृ० 232 प्रा० प्र० शि०)
5. नाशे च (वा० प्रा० 3/43)

(3) दाश बाद में होने पर पुरः का विसर्जनीय उकार हो जाता है ।[1] जैसे–पुरः+दाशैः=पुरोडाशैः (वा० सं० 19/20)

विसर्जनीय का ओकारभाव

(1) अकार बाद में होने पर विसर्ग अकार सहित ओकार हो जाता है ।[2] जैसे–वेदः+असि=वेदोऽसि (वा० सं० 2/21)

(2) घि संज्ञक वर्ण (सघोष व्यञ्जन) बाद में होने पर विसर्जनीय पूर्ववर्ती अकार सहित ओकार हो जाता है ।[3] जैसे–अघशंसः+ध्रुवा=अघशंसो ध्रुवा (वा० सं० 1/1)।

(3) हकार बाद में होने पर एषः का विसर्जनीय पूर्ववर्ती अकार-सहित ओकार हो जाता है ।[4] जैसे—एषः+ह=एषो ह

(4) रुह, स्वः और रात्रि बाद में होने पर अः का विसर्जनीय ओकार हो जाता है ।[5] जैसे—स्वः रुहाणा=स्वो रुहाणा (वा० सं० 11/22)। अहः रात्र्याः =अहोरात्र्याः ।

(5) सिश्च बाद में होने पर इतः का विसर्जनीय ओकार हो जाता है ।[6] इतः सिञ्चत=इतो सिश्चत (वा० सं० 19/2)।

विसर्जनीय का यकारभाव

प्रा० प्र० शि० तथा वा० प्रा० के अनुसार स्वर बाद में होने पर तथा कण्ठ्य स्वर अकार पूर्व में होने पर अरिफित विसर्जनीय यकार हो जाता है ।[7] उल्लेखनीय है कि उस यकार का पदान्त होने के कारण लोप हो जाता है । जैसे—याः ओषधीः=याय् ओषधीः=या ओषधीः (वा० सं० 1/75)

---

1. पुरो दाशे (वा० प्रा० 3/44)।
2. अकारे च (वा० प्रा० 4/45)
3. सर्वो अःकारः ओकारम् (वा० प्रा० 4/43), प्रा० प्र० शि० 17
4. एषो ह च (वा० प्रा० 4/45)
5. स्वो रुहाणाश्च रात्र्याम् (वा० प्रा० 4/46)
6. ओकारमितः सिश्चतो सोपधः (वा० प्रा० 3/46)
7. कण्ठ्यपूर्वो यकारमरिफितः (वा० प्रा० 4/38), प्रा० प्र० शि० 15

विसर्जनीय का रेफभाव

(1) वा० प्रा० के अनुसार स्वर बाद में होने पर भावी संज्ञक स्वर (अर्थात् अवर्ण से अन्य स्वर) से परवर्ती विसर्जनीय का रेफ हो जाता है।[1] जैसे—अग्निः + एकारक्षरेण = अग्निरेकाक्षरेण (वा० सं० 9/31)। व० प्र० शि० में भी इसी प्रकार का विधान है।[2]

(2) क्रमशः साम् और सह बाद में होने पर स्वः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है[3] तथा परवर्ती दन्त्य वर्ण मूर्धन्य हो जाता है। जैसे—स्वः + साम् = स्वर्षाम् (वा० सं० 34/20)।

(3) पति बाद में होने पर अहः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है।[4] जैसे—अहः + पतये = अहर्पतये (वा० सं० 9/20)।

विसर्जनीय का परसस्थानीय उष्मभाव

(1) चकार तथा छकार बाद में होने पर विसर्जनीय का शकार हो जाता है।[5] जैसे—वाजः + च = वाजश्च (वा० सं० 1/81)। अस्त्रीवधः + छन्दः = अस्त्रीवधश्छन्दः (वा० सं० 14/18)।

(2) तकार तथा थकार बाद में होने पर विसर्जनीय सकार हो जाता है।[6] जैसे—आखुः + ते = आखुस्ते (वा० सं० 3/57)।

(3) मुत् संज्ञक वर्ण (= श, ष तथा स) बाद में होने पर शाकटायन के मत से विसर्जनीय परवर्ती का सवर्ण हो जाता है।[7] जैसे—आशुः + शिशानः = आशुश्शिशानः (वा० सं० 17/33)। अदितिः + षोडश = अदितिष्षोडश (वा० सं० 9/34)। वः + संहिता = वस्संहिता (वा० सं० 1/1)। व० प्र० शि० में भी शाकटायन के इस मत को प्रस्तुत किया गया है।[8] किन्तु वहीं पर शाकल्य के मत को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि उनके मत में श, ष तथा स बाद में होने पर

1. रेफं स्वरधौ (वा० प्रा० 4/37)
2. अघोषे घोषवति तु लोपो रेफो यथाक्रमम् (व० प्र० शि० 117 उ०)।
3. स्वः सांसह्योः (वा० प्रा० 3/41)।
4. अहः पतौ रेफम् (वा० प्रा० 3/39)
5. विसर्जनीयः। चछयोः शम् (० प्रा० 3/6-7)
6. तथयोः सम् (वा० प्रा० 3/8)
7. प्रत्ययसवर्णं मुदि शाकटायनः (वा० प्रा० 3/9)
8. प्रत्ययस्य सवर्णत्वं यातीति शाकटायनः (वा० प्र० शि० 119 उ०)

विसर्जनीय अविकृत रहता है ।[1] जैसे—आशुः शिशानः = आशुः शिशानः (वा० सं० 17/33) इत्यादि ।

(4) ककार, खकार बाद में होने पर विसर्जनीय जिह्वामूलीय तथा पकार, फकार बाद में होने पर विसर्जनीय उपध्मानीय हो जाता है ऐसा शाकटायन आचार्य मानते हैं ।[2]

बिसर्जनीय का प्रकृतिभाव

(1) व० प्र० शि० तथा प्रा० प्र० शि० के अनुसार ककार, खकार, पकार तथा फकार बाद में होने पर विसर्जनीय प्रकृतिभाव से रहता है ।[3]

(2) व० प्र० शि० में कहा गया कि श, ष तथा स बाद में होने पर विसर्जनीय प्रकृतिभाव से रहता है ऐसा शाकल्प आचार्य मानते हैं ।[4] जैसे—आशुः शिशानः = आशुः शिशानः (वा० सं० 17/33) इत्यादि ।

प्रकृतिभाव के अपवाद

व० प्र० शि० के अनुसार अम्ब निष्पर समरी, द्यौष्पिता, वसुष्कविः आविष्कृणुष्व तथा पर्णे वो वसतिष्कृता में विसर्जनीय का षकार हो जाता है ।[5] जैसे—निः परसमरीः = निष्परसमरीः ।

विसर्जनीय का षकार तथा सकार-भाव

वा० प्रा० में विसर्जनीय का षकार तथा सकार-भाव विषयक विधान हुआ है जिसका उद्धरण प्रा० प्र० शि० में भी दिया गया है । वह इस प्रकार है—

1. अविकारं च शाकल्यो मन्यते शषसेषु च (व० प्र० शि० 120 पू०) ।
2. जिह्वामूलीयोपध्मानीयो शाकटायनः (वा० प्रा० 3/12) ।
3. कखयोः परयोर्नित्यं पफयोः परयोरपि ।
   विसर्गस्य यदुक्तलक्षणं नात्र सिध्यति ॥ (व० प्र० शि० 113)
   प्रकृत्या कखयोः पफयोः (प्रा० प्र० शि० 23)
4. अविकारं च शाकल्यो मन्यंते शषसेषु च (व० प्र० शि० 120 पू०) ।
5. अम्वनिष्परसमरीद्यौष्पिता च वसुष्कविः ।
   आविष्कृणुष्वेव तथा पर्णे वो वसतिष्कृतः ॥
   एवमादौ विसर्गस्य षत्वमिच्छन्ति सूरयः ।
   पूर्वोक्तस्यापवादो यं ज्ञातव्यः कृतबुद्धिभिः ॥ (व० प्र० शि० 115-116)

अधिकार सूत्र

वा० प्रा० के अनुसार ककार तथा पकार बाद में होने पर विसर्जनीय का सकार हो जाता है।[1] भावी उपधा वाला विसर्जनीय षकार हो जाता है।[2] तात्पर्य यह है कि यदि विसर्जनीय पूर्व में हो तथा ककार अथवा पकार बाद में हो तो विसर्जनीय सकार हो जाता है यदि उस विसर्जनीय से पूर्ववर्ती स्वर (उपधा) भावी (अकण्ठ्य स्वर = अवर्ण — व्यतिरिक्त स्वर) हो तो ककार अथवा पकार बाद में होने पर विसर्जनीय का सकार हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि ककार अथवा पकार बाद में हो तो अवर्ण (अ आ) से अन्य स्वर के बाद में स्थित विसर्जनीय षकार तथा अवर्ण के बाद में स्थित विसर्जनीय सकार हो जाता है।

व० प्र० शि० के अनुसार भी कण्ठ्य स्वर वर्ण (=अवर्ण) उपधा वाला विसर्जनीय सकार हो जाता है।[3] जैसे—दिवः + पुत्राय = दिवस्पुत्राय। भावी (अवर्ण से अन्य स्वर वर्ण) उपधा वाला विसर्जनीय षकार हो जाता है। जैसे—ज्योतिः + कृत् = ज्योतिष्कृत्।

वा० प्रा० में विसर्जनीय के सकार तथाषकार में परिवर्तित होने के कुछ विशेष स्थलों का निर्देश हुआ है। जो इस प्रकार है—

(1) आविः, निः, इडः, इडायाः, वसतिः और वरिवः का विसर्जनीय यथाविहित षकार अथवा सकार हो जाता है।[4] जैसे—आविः + कृणुष्व = आविष्कृणुष्व (वा० सं० 13/13), निः + परः = निष्परः (वा० सं० 6/36) इत्यादि।

(2) ककुत् और पृथिवी पद के ककार तथा पकार से अन्य ककार तथा पकार बाद में होने पर दिवः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।[5] जैसे—दिवः + पुत्राय = दिवस्पुत्राय (वा० सं० 11/70)।

---

1. ककारपकारयोः सकारम् (वा० प्रा० 3/21, प्रा० प्र० शि० 33)
2. भाव्युपधः षकारम् (वा० प्रा० 3/22, प्रा० प्र० शि० 34)
3. कण्ठ्योपधो सकारः स्यादभाव्युपधः ष एव च ॥
(व० प्र० शि० 117 पू०)
4. आविर्निरिड इडाया वसतिर्वरिवः (वा० सं० 3/23, प्रा० प्र० शि० 35)
5. दिवो ककुत्पृथिवी (वा० प्रा० 3/34, प्रा० प्र० शि० 36)

(3) क्रमशः पोष और पुत्र बाद में होने पर रायः और सहसः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।[1] जैसे—रायः+पोषेण=रायस्पोषेण (वा० सं० 4/22)। सहसः पुत्रः=सहसस्पुत्रः (वा० सं० 11/70)।

(4) परस्तात् बाद में न होने पर तमसः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।[2] जैसे—तमसः+पारम्=तमसस्पारम् (वा० सं० 12/73)।

(5) पा धातु बाद में होने पर अध्वनः, रजसः, रिषः और स्पृशः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।[3] जैसे–अध्वनः+पातुः=अध्वनस्पातु (वा० सं० 4/19)। रजसः पातु=रजसस्पातु (वा० सं० 17/60) इत्यादि।

(6) कुरु बाद में होने पर अध्वनः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।[4] जैसे—अध्वनः+कुरु=अध्वनस्कुरु (वा० सं० 26/1)।

(7) एक पद के मध्य में विद्यमान विसर्जनीय भी सकार अथवा षकार हो जाता है।[5] जैसे—श्रेयः+करः=श्रेयस्करः (वा० सं० 10/28)। भूयः+करः=भूयस्करः (वा० सं० 10/28)। आयुः+पा=आयुस्पा (वा० सं० 21/1)।

(8) अवसान में स्थित परि बाद होने पर पूर्ववर्ती पद का विसर्जनीय सकार अथवा षकार हो जाता है।[6] जैसे—ओषधयः परि=ओषधयस्परि (वा० सं० 12/91)।

(9) कविः, करत् और कृधि बाद में होने पर पूर्ववर्ती पद का विसर्जनीय सकार अथवा षकार हो जाता है।[7] जैसे—वसुः+कविः=वसुष्कविः (वा० सं० 15/36)। वस्यसः+करत्=वस्यसस्करत् (वा० सं० 3/58)। पुनः+कृधि=पुनस्कृधि (वा० सं० 4/10)।

(10) कृधि बाद में होने पर कृषीः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।[8] जैसे—कृषीः+कृधि=कृषीस्कृधि (वा० सं० 4/10)।

---

1. रायः सहसः पोषपुत्रयोः (वा० प्रा० 3/25, प्रा० प्र० शि० 36)
2. तमसो परस्तात् (वा० प्रा० 2/26, प्रा० प्र० शि० 38)
3. अध्वनो रजसो रिषः स्पृशस्पातो (वा० प्रा० 3/28, प्रा० प्र० शि० 40)
4. अध्वनस्कुर्विति च (वा० प्रा० 3/29, प्रा० प्र० शि० 41)
5. समानपदे च (वा० प्रा० 3/30, प्रा० प्र० शि० 42)
6. परावसाने (वा० प्रा० 3/31, प्रा० प्र० शि० 43)
7. कविष्करत्कृधिषु (वा० प्रा० 3/32, प्रा० प्र० शि० 44)
8. कृषीश्च कृधी सकारम् (वा० प्रा० 3/33, प्रा० प्र० शि० 45)

(11) क्रमशः कृतम्, पिता और पथ बाद में होने पर सदः, द्यौः और नमः का विसर्जनीय यथाविहित सकार तथा षकार हो जाता है।[1] जैसे—सदः+कृतम् =सदस्कृतम् (वा० सं० 13/8)। द्यौः+पिता=द्यौष्पिता। नमः+पथे= नमस्पथे।

(12) तालव्य स्वरान्त पति शब्द बाद में होने पर पूर्ववर्ती पद का विसर्जनीय सकार अथवा षकार हो जाता है[2] जैसे—वाचः + पतिम्=वाचस्पतिम् (वा० सं० 8/45) इत्यादि।

विसर्जनीय के सकार तथा षकारभाव के अपवाद

(1) परुष बाद में होने पर परुषः का विसर्जनीय सकार नहीं होता।[3] जैसे—परुषः+परुषस्परि=परुषः परुषस्परि (वा० सं० 13/20)।

(2) पति शब्द के होने पर ही पूर्ववर्ती विसर्जनीय का सकार या षकार होता है पदावयव होने पर नहीं।[4] जैसे—अभिधीतः+प्रजापतिः=अभीधीतः प्रजापतिः (वा० सं० 8/54)।

(3) वाजपतिः, वासः, एदिधिषुः, अन्तःपर्शव्येन और अन्तःपार्श्वंयम् का विसर्जनीय सकार अथवा षकार नहीं होता।[5] जैसे—वाजपतिः+कविः=वाजपतिः कविः (वा० सं० 11/25) इत्यादि।

लोप

लोप शब्द लुप्त होना अर्थ वाली लुप् धातु में निष्पन्न हुआ है। वा० प्रा० में वर्णों के अदर्शन को लोप कहा गया है। तात्पर्य यह है कि लोप होने पर वर्ण की सत्ता विद्यमान रहती है, केवल उनका दर्शनमात्र नहीं होता। वे वहाँ दिखलाई नहीं पड़ते। वर्णों के लोप का विवेचन तो उनके विकार के प्रसङ्ग में कर दिया गया है। यहाँ कुछ विधानों को प्रस्तुत किया जा रहा है जिनका उल्लेख उन स्थलों पर नहीं हुआ है।

---

1. सदो द्योर्नमस्कृतं पितापथेषु (वा० प्रा० 3/34, प्रा० प्र० शि० 46)
2. पत्योः तालव्यस्वरोदये (वा० प्रा० 3/35, प्रा० प्र० शि० 47)
3. न पुरुषः परुषि (वा० प्रा० 3/37, वा० प्र० शि० 48)
4. पदे च (वा० प्रा० 3/36)
5. वाजपतिवसि एदिधिषुरन्तपर्शव्येनान्तःपार्श्वयमिति च (वा० प्रा० 3/38) (प्रा० प्र० शि० 49)

अकार का लोप

मांस्पचनी में अकार का लोप हो गया है।[1] जैसे—मांसपचन्याः=मांस्पचन्याः (वा० सं० 25/26)।

इकार का लोप

नपुंसक लिङ्ग वाले शब्द के नकार से परवर्ती इकार का लोप हो जाता है।[2] जैसे—एमनि+सादयामि=एमन्सादयामि (वा० सं० 13/53)। भस्मनि सादयामि=भस्मन् सादयामि (वा० सं० 13/53)

नि का लोप

नि शब्द का बहुल करके लुप्त हो जाता है।[3] अर्थात् अनेक प्रकार से नि का लोप होता है।

(1) कभी-कभी पूरे नि का लोप हो जाता है। जैसे—चत्वारि शृङ्गा त्रयः (वा० सं० 17/91)। यहाँ शृङ्गाणि के नि सम्बन्धी णि का लोप हो गया है।

(2) कहीं पर केवल नकार का लोप हो जाता है। जैसे—इस्कर्तारम् (वा० सं० 12/110)। यहाँ पर निष्कर्तारम् के नकार का लोप होकर केवल इष्कर्तारम् ही शेष है।

(3) कहीं-कहीं केवल इकार का लोप होता है। जैसे—एमनूत्सादयामि (वा० सं० 13/53)। यहाँ पर एमनि के इकार का लोप हो गया है।

(4) कहीं-कहीं लोप नहीं भी होता है। जैसे—अघ्न्ये नामानि (वा० सं० 8/43)। यहाँ नामानि के नि का लोप नहीं हुआ है।

यकार तथा वकार का लोप

(1) दो स्वरों के मध्य में स्थित पदान्तीय यकार तथा वकार का लोप हो जाता है[4]। जैसे—महान् (महाँय्) इन्द्रः=महाँ इन्द्रः (वा० सं० 7/30)। विष्णो (विष्णाव्) उरुगाय=विष्ण उरुगाय (वा० सं० 8/1)।

---

1. अलोपो मांस्पचन्याः (वा० प्रा० 4/42)
2. नपुंसकादिकारस्य (वा० प्रा० 3/137)
3. नि शब्दो बहुलम् (वा० प्रा० 3/18)
4. यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः (वा० प्रा० 4/127)

इस विधान के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों के भी दो मत प्रस्तुत किये गये हैं—

प्रथम मत

कतिपय आचार्यों के मत से असमान (भिन्न उच्चारण स्थान वाला) स्वर बाद में होने पर वकार का लोप नहीं होता।[1] जैसे—विष्णो + एते = विष्णव् + एते = विष्णवेते (वा० सं० 5|16)।

द्वितीय मत

यह मत शाकटायन का है। इनके अनुसार असो का वकार भी लुप्त नहीं होता।[2] जैसे—असो + एहि = असावेहि (वा० सं० 28/2)।

(2) प्र उगम् में यकार का लोप हो गया है।[3] जैसे—प्र युगम् = प्र उगम्। यहाँ यकार के लोप होने पर प्र के अकार तथा परवर्ती उकार का वा० प्रा० 4|55 (उवर्ण ओकारम्) से एकादेश ओकार प्राप्त होता है जिसका "न परकाल: पूर्वकाले पुन:" से निषेध हो जाता है।

याकार का लोप

'जास्पत्य' पद में यकार तथा आकार का लोप हो गया है।[4] जैसे—जाया-स्पत्यम् = जास्पत्यम् (वा० सं० 23/12)।

विसर्जनीय का लोप

कतिपय परिस्थितियों में विसर्जनीय लुप्त हो जाता है, वे इस प्रकार हैं—

(1) व्यञ्जन बाद में होने पर स: का विसर्जनीय लुप्त हो जाता है तथा स्य: और एष: का भी विसर्जनीय व्यञ्जन बाद में होने पर लुप्त हो जाता है।[5] जैसे—स: न: = स न: (वा० सं० 3|36)। एष: स्य: रात्थ्य = एष स्य रात्थ्य: (वा० सं० 9/14)।

(2) औषधी तथा इम बाद में होने पर स: का विसर्जनीय लुप्त हो जाता है।[6] जैसे—स: ओषधी = स ओषधी (वा० सं० 12/36)। स: + इमाम् = स इमाम् (वा० सं० 29/54)।

---

1. न वकारस्यासस्थान एकेषाम् (वा० प्रा० 4|128)
2. असौ च शाकटायन: (वा० प्रा० 4/129)
3. प्रउगमिति यकारलोप: (वा० प्रा० 4|130)
4. यकाराकारयोजस्पत्ये पदे (वा० प्रा० 4/41)
5. व्यञ्जने च। यस्य एष च (वा० प्रा० 3/16–17) शि० सं० पृ० 229 प्रा० प्र० शि०)।
6. स औषधीमयो: (वा० प्रा० 3/15) शि० सं० पृ० 229 (प्रो० प्र० शि०)।

(3) भाविन् स्वर (अवर्ण–व्यतिरिक्त स्वर) पूर्व में होने पर विसर्जनीय का लोप हो जाता है तथा रिफित विसर्जनीय का भी लोप हो जाता है; यदि उनके बाद रेफ हो। उपधा वर्ण दीर्घ हो जाता है।[1] जैसे––रुरुः + रौद्रः = रुरू रौद्रः (वा० सं० 24/39)।

(4) कण्ठ्य स्वर वर्ण पूर्व में होने पर तथा घि संज्ञक वर्ण (सघोष वर्ण) बाद में होने पर अरिफित विसर्जनीय लुप्त हो जाता है।[2] जैसे––अयक्ष्माः मा = अयक्ष्मा मा (वा० सं० 36/16)।

स्व० अ० शि० में भी इसी प्रकार का विधान करते हुए कहा गया है कि हश् प्रत्याहार (= सघोष व्यञ्जन) बाद में होने पर आकार से परवर्ती विसर्जनीय लुप्त हो जाता है।[3] जैसे––देवाः हसन्ति = देवा हसन्ति।

(5) जित्संज्ञक (= अघोष व्यञ्जन) वाद में है जिसके ऐसे मुत् संज्ञक वर्ण श, ष तथा स बाद में होने पर विसर्जनीय का लोप हो जाता है।[4] जैसे–अन्धः + स्थ = अन्धस्थ (वा० सं० 3/20)।

प्रकृतिभाव

समीपस्थ दो वर्णों में सन्धि के परिणामस्वरूप किसी विकार के न होने को प्रकृतिभाव कहा जाता है। प्रकृतिभाव का अर्थ है––प्रकृति रूप से रहना, मूलरूप में रहना, अविकृत रहना। अर्थात् विकार की सम्भावना होने पर भी पदान्त तथा पदादि का संहिता में अपने रूप में दिखलायी पड़ना ही प्रकृतिभाव कहलाता है। वैदिक संहिताओं में इस प्रकार के अनेक स्थल मिलते हैं जहाँ प्रकृतिभाव होता है। इस प्रकृतिभाव को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं––

(1) स्वर वर्ण का प्रकृतिभाव तथा
(2) व्यञ्जन वर्ण का प्रकृतिभाव।

(अ) स्वर वर्ण का प्रकृतिभाव

कभी-कभी पास-पास विद्यमान दो स्वर वर्णों में विकार सम्भव होने पर भी उनमें विकार नहीं होता है। संहिता में पदान्त तथा पदादि स्वर वर्ण अपनी मूल अवस्था में ज्यों का त्यों रहते हैं। स्वरों के इस अविकृत अवस्था में रहने को

---

1. भाव्युपधश्च रिद्विसर्जनीयः। रेफे लुप्यते दीर्घं चोपधा। (वा० प्रा० 4/35–36)
2. लोपन्धौ वा० प्रा० 4/39); शि० सं० पृ० 228 (प्रा० प्र० शि०)
3. आपरो लोपं हशि (स्व० अ० शि०)
4. लुङ्मुदि जित्परे (वा० प्रा० 3/13), शि० स० पृ० 229 (प्रा० प्र० शि०)

स्वर का प्रकृतिभाव कहा जाता है। जहाँ पर दो स्वरों के पास-पास रहने पर कोई विकार नहीं होता वहाँ दोनों स्वरों के मध्य में उच्चारणकाल का व्यवधान होता है जिसे विवृत्ति कहा जाता है।

विवृत्ति

वि उपसर्गपूर्वक वृत् धातु से निष्पन्न विवृत्ति शब्द का अर्थ है—पृथक्करण। वस्तुतः विवृत्ति वह है जिसमें काल-व्यवधान से दो स्वर वर्णों का अलगाव होता है। दो स्वरों का विवरण (=पृथगुच्चारण) विवृत्ति है।[1] या० शि० की शिक्षावल्ली नामक व्याख्या में कहा गया है कि विवेक से—पृथग्भाव से जो रहती है वह विवृत्ति है। इस विवृत्ति से "य ईशे" में "यः"—इस पद को "ईशे" पद से विच्छिन्न करके उच्चारण करने पर मध्य में सन्धि (=विकार) के अभाव से जो अर्धमात्रा की विरति होती है वह विवृत्ति है।[2]

विवृत्ति दो स्वरों के मध्य में होती है। जब पदान्त तथा पदादि दोनों स्वर वर्ण अपने प्रकृतिभाव से रहते हैं तो दोनों स्वरों के बीच में उच्चारणकाल का थोड़ा व्यवधान हो जाता है जो विवृत्ति नाम से अभिहित किया जाता है। कभी-कभी दो स्वरों के मध्य में विद्यमान वर्ण के लोप होने के कारण भी दोनों स्वरों में सन्धि का अभाव होता है। जैसे—यः + ईशे = य ईशे। यहाँ पदान्त अकार तथा पदादि ईकार की सन्धि नहीं होती। इसका कारण यह है कि यकार में अकार से परवर्ती विसर्ग का लोप हो गया है। उल्लेखनीय है कि लोप में लुप्त वर्ण की सत्ता विद्यमान रहती है उसका अदर्शन मात्र होता है। अतः सन्धि नहीं होती। पदान्तीय तथा पदादि स्वर वर्ण के प्रकृतिभाव में रहने पर अथवा दो स्वर वर्णों के मध्य में विद्यमान वर्ण के लोप हो जाने पर—इन दोनों ही अवस्थाओं में पदान्तीय तथा पदादि स्वर वर्ण के उच्चारण के समय मध्य में उच्चारणकाल का व्यवधान हो जाता है जिसे विवृत्ति कहा जाता है। विवृत्ति का विधान प्रायः सभी शुक्ल—यजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में हुआ है जिसका विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

---

1. विवरणं विवृत्ति स्वरयोः पृथगुच्चारणम्।
(या० शि० 24 पर पञ्चिका भाष्य)

2, तेन विवेकेन पृथग्भावेन वर्तते इति विवृत्तिरिति निरुक्त्या य इति पदम् ईशे इति पदात् विच्छिद्योच्चार्यं मध्ये यार्धमात्रिका विरतिः सन्ध्यभावात् भवति सा विवृत्तिः (पृ० 93, या० शि० पर शिक्षावल्ली)

पिपीलिका

जिस विवृत्ति में पदान्त तथा पदादि दोनों स्वर वर्ण दीर्घ हों, वहाँ पिपीलिका नामक विवृत्ति होती है। इस तथ्य का उद्‌घाटन या० शि० तथा स्वरभक्ति-लक्षणपरिशिष्ट—शिक्षा में किया गया है।[1] जैसे—नाभ्या आसीत् (दा० सं० 31/13) यहाँ पदान्त आकार तथा पदादि आकार में सन्धि नहीं हुई है बल्कि दोनों ही स्वर वर्ण प्रकृतिभाव से विद्यमान हैं। अतः यहाँ पिपीलिका नामक विवृत्ति है। पिपीलिका (चींटी) के समान दोनों ओर दीर्घ होने के कारण ही इस विवृत्ति का नाम अन्वर्थ है। अर्थात् जिस प्रकार पिपीलिका दोनों किनारों पर दीर्घ (मोटी) तथा बीच में कृश (पतली) होती है उसी प्रकार इस विवृत्ति के के पहले तथा बाद में दोनों ओर दीर्घ स्वर वर्ण होते हैं।

या० शि० की शिक्षावल्ली में कहा गया है कि विवृत्ति के आदि तथा अन्त में दीर्घ स्वर वर्ण के होने से स्थूलता तथा बीच में विवृत्ति की कृशता के कारण इस विवृत्ति को पिपीलिका (चींटी) के समान कहा गया है।[2] वस्तुतः दीर्घ स्वर का उच्चारणकाल दो मात्रा होता है तथा विवृत्ति का उच्चारणकाल एकमात्रा काल होता है। इस प्रकार विवृत्ति का आकार दीर्घ स्वर की अपेक्षा कृश तथा दीर्घ स्वर का आकार विवृत्ति की अपेक्षा स्थूल है।

पाकवती

पाकवती विवृत्ति में दोनों (ओर) ह्रस्व स्वर वर्ण होते हैं अर्थात् जिस विवृत्ति में पदान्त तथा पदादि दोनों ह्रस्व स्वर वर्ण हों वह पाकवती विवृत्ति कहलाती है। इसी तथ्य का प्रतिपादन या० शि० तथा स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्ट शि० में हुआ है।[3] जैसे—विन इन्द्र (वा० सं० 8/44)। यहाँ पदान्त अकार

---

1. पिपीलिकाद्यन्तदीर्घा नाभ्यासीन्निदर्शनम्। (या० शि० 11 पू०)
पिपीलिकाद्यन्तदीर्घा नाभ्यासीन्निदर्शनम्।
(स्व० भ० ल० रि० शि० 34, पू०)
2. विवृत्तेरादावन्ते च स्थौल्यं दीर्घाक्षरसम्भवात्। मध्ये सः स्वस्याः निपतनाद् कार्श्यत्वेन पिपीलिकाजन्तुसादृश्यम्। तस्मादस्याऽपि पिपीलिकात्वम्।
(या० शि० 11 पर शिक्षावल्ली)
3. पाकवत्युभयाह्रस्वा विन इन्द्रेति दर्शनम् (या० शि० 11 उ०)
द्वितीया तूभया ह्रस्वा विन इन्द्रेति दर्शनम् (स्व० भ० ल०परि०शि० 34उ०)

तथा पदादि इकार है। इस प्रकार दोनों स्वर वर्ण ह्रस्व हैं अतः यहाँ पाकवती नाम विवृत्ति है। यह विवृत्ति स्वल्परूप में श्रुतिगोचर होती है क्योंकि इसमें दोनों ओर ह्रस्व स्वर होते हैं।

वत्सानुसारिणी

वत्सानुसारिणी विवृत्ति में पदान्त स्वर दीर्घ तथा पदादि स्वर ह्रस्व होता है। या० शि० तथा स्व० भ० ल० प० शि० में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है।[1] जैसे—ता अस्य (वा० सं० 12/55)। यहाँ पदान्त आकार दीर्घ है तथा पदादि अकार ह्रस्व है। दोनों कीं सन्धि-एकीभाव आकार उपलब्ध होने पर भी सन्धि नहीं हुई है। अतः यहाँ लक्षण के अनुसार वत्सानुसारिणी विवृत्ति है। विवृत्ति की यह संज्ञा अन्वर्थक है।

वत्सानुसारिणी का अर्थ है—बछड़े का अनुसरण करने वाली। जिस प्रकार गाय बछड़े का अनुसरण करती है उसी प्रकार पदान्त दीर्घ स्वर पदादि ह्रस्व स्वर का अनुसरण करता है। इस तथ्य को या० शि० की शिक्षावल्ली में प्रतिपादित किया गया है। दीर्घ स्वर की अपेक्षा ह्रस्व स्वर अल्प होने के कारण (ह्रस्व स्वर) दीर्घ स्वर के बछड़े के समान है। उसी दीर्घ का अनुसरण करने के कारण ह्रस्व का बछड़े के समान अनुसरण करना है।[2] यहाँ उल्लेखनीय है कि दीर्घ स्वर का उच्चारण काल दो मात्रा तथा ह्रस्व स्वर का उच्चारण काल एक मात्रा होता है। इसलिए ह्रस्व स्वर दीर्घ स्वर के बछड़े (बच्चे) के समान माना गया है।

वत्सानुसृजिता

इस विवृत्ति में पदान्त स्वर ह्रस्व तथा पदादि स्वर दीर्घ होता है। स्व० भ० ल० प० शि० में इसका लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि अन्त अर्थात् पदादि में दीर्घ स्वर वर्ण वाली तथा पदान्त में ह्रस्व स्वर वर्ण वाली विवृत्ति[3] चतुर्थ अर्थात् वत्सानुसृजिता कहलाती है। या० शि० में भी इसका लक्षण प्रस्तुत किया

---

1. वत्सानुसारिणी वादौ दीर्घं ता अस्य दर्शनम्। (या० शि० 2/12 पू०)
   तृतीया चोदिता दीर्घा ता अन्येति निदर्शनम्॥
   (स्व० भ० ल० प० शि० 35 पू०)
2. दीर्घापेक्षया ह्रस्वदस्याल्पकायत्वाद् वत्सत्वम्। तमनुसरन्त्या विवृत्तेर्वत्सानुसारिणीत्वम्। (या० शि० 12 पर शिक्षावल्ली)
3. अन्ते चतुर्थी दीर्घा स्थात्तान आवोढमश्विना॥
   (स्वर भ० ल० परि० शि० 35 उ०)

गया है। इसके अनुसार भी अन्त में दीर्घ स्वर वर्ण वाली विवृत्ति वत्सानुसृजिता कहलाती है[1]। जैसे—तान आवोढम् (वा० सं० 20/83)। यहाँ पदान्त ह्रस्व अकार तथा पदादि आकार दीर्घ है। सन्धि के अभाव में यहाँ वत्सानुसृजिता विवृत्ति है। यह भी अन्वर्थक संज्ञा है। वत्सानुसृजिता का अर्थ है—बछड़े द्वारा अनुसरण की जाती हुई। जिस प्रकार बछड़ा गाय का अनुसरण करता है उसी प्रकार ह्रस्व स्वर दीर्घ स्वर का अनुसरण करता है। जैसा कि या० शि० की शिक्षावल्ली में भी कहा गया है—आदि ह्रस्व के साथ परवर्ती दीर्घ स्वर वर्ण के उच्चारण होने से यह विवृत्ति वत्सानुसृजिता कहलाती है।[2]

विवृत्ति का काल

विवृत्ति का काल एक मात्रा होता है। तात्पर्य यह है कि विवृत्ति के स्थल पर पूर्ववर्ती पदान्त स्वर वर्ण के उच्चारण के बाद परवर्ती पदादि स्वर वर्ण के उच्चारण के बीच में एक मात्रा काल तक रुका जाता है। पदान्त स्वर के उच्चारण के बाद एक मात्रा काल तक रुककर पदादि स्वर का उच्चारण किया जाता है। इस प्रकार पदान्त तथा पदादि स्वर वर्ण के बीच में एक मात्रा काल तक रुकना ही विवृत्ति है। विवृत्ति के काल-विषयक इस तथ्य को शिक्षा ग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है। याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार विवृत्ति विच्छेद उतने समय तक होता है जितने समय तक आकाश में बिजली की चमक होती है अथवा बाल काटते समय जितने समय तक कैंची किट्ट की आवाज करती है।[3] या० शि० में एक स्थल पर मात्रा-काल का निर्धारण करते हुए कहा गया है कि एक मात्रा से काल के उतने अंश को समझना चाहिए जितना समय पलक मारने से अथवा बिजली के चमकने में लगता है।[4] इस प्रकार स्पष्ट है याज्ञवल्क्यशिक्षा के शिक्षाकार को विवृत्तिकाल एक मात्रा अभिमत था। क्योंकि उन्होंने विवृत्ति-काल को विद्युत् के चमकने में लगे समय के बराबर निर्धारित किया है जो एक मात्रा काल के बराबर होता है।

---

1. अन्ते वत्सानुसृजिता तान आवोढमश्विना (या० शि० 2/12 उ०)
2. ह्रस्वेन संस्पृष्टतया विवृत्तेर्वत्सानुसृजितात्वम्। यथा तान आवोढम् इत्यत्र विवृत्तेरन्ते दीर्घत्वादादिह्रस्वेन सहोच्चारणाच्च वत्सानुसृजितात्वम् (या० शि०)।
3. आकाशस्य यथा विद्युत् स्फुटिता मणिसूत्रवत्।
   एषश्छेदो विवृत्तीनां यथा बालेषु कर्त्तरी॥ (या० शि० 2/8)
4. निमेषो मात्राकालः स्याद्विद्युत्कालस्तथापरे।
   अक्षरात्तुल्ययोगाश्च मतिः स्यात्सोमशर्मणः॥ (या० शि० 1/10)

प्रगृह्य संज्ञक स्वर-वर्ण का प्रकृतिभाव

स्वर वर्ण बाद में होने पर प्रगृह्य संज्ञक स्वर वर्ण प्रकृतिभाव से रहते हैं[1]। जैसे—इन्द्राग्नी आगतम् (वा० सं० 7/31)।

प्रगृह्य संज्ञक स्वर-वर्ण के अपवाद

रोदसी का प्रगृह्य संज्ञक ईकार, इमे बाद में होने पर प्रकृतिभाव से नहीं रहता है।[2] अर्थात् इमे बाद में होने पर रोदसी का प्रगृह्य स्वर वा० प्रा० 4/52 से सवर्ण दीर्घ को प्राप्त हो जाता है। जैसे—रोदसी इमे=रोदसीमे (वा० सं० 7/24)।

अपृक्त उकार का प्रकृति-भाव

स्पर्श के बाद में न होने पर अर्थात् स्पर्श से अन्य वर्ण के बाद में होने पर अपृक्त उकार प्रकृतिभाव से रहता है।[3] जैसे—न वा उ एतत्=न वा उ एतत् (वा० सं० 23/16)।

पदान्तीय ओकार का प्रकृतिभाव

इति बाद में होने पर पदान्तीय ओकार प्रकृतिभाव से रहता है।[4] जैसे—चित्रभानो इति=चित्रभानो इति। कृशानो इति=कृशानो इति (वा० सं० 4/27)।

कतिपय बन्ध स्वर वर्णों के प्रकृतिभाव

(1) क्रमशः ईम्, असदनम्, अयाम, अकर्म, ऊर्ध्वम्, इधम्, अवस्तात्, उत, अस्ति—बाद में होने पर का, ध्रुवा, उती, सदना, होतारा, ज्या, स्वधा पृथिवी और प्रभीता का परान्तीय स्वर वर्ण प्रकृतिभाव से रहता है।[5] जैसे—का ईमरे =का ईमरे (वा० सं० 23/55), ध्रुवा+असदनम्=ध्रुवा असदनम् (वा० सं० 2/6) इत्यादि।

---

1. प्रगृह्यं स्वरे (वा० प्रा० 2/88)
2. न रोदसी मे (वा० प्रा० 4/89), शि० सं० पृ० 220 (प्रा० प्र० शि०)
3. उकारोऽपृक्तो स्पर्शात् (वा० प्रा० 4/91)
4. ओकारश्च (वा० प्रा० 4|93)
5. का ध्रुवोती सदना होतारा ज्या स्वधा पृथिवी—उतादिषु (वा० प्रा० 4/87)

(2) उपस्थित (अर्थात् इतिकरण) में इव बाद में होने पर विश्पती पद का पदान्तीय स्वर-वर्ण प्रकृतिभाव से रहता है।[1] जैसे—विश्पती इवेति विश्पती इव (वा० सं० 3344)।

व्यञ्जन का प्रकृतिभाव

वैदिक संहिताओं में कहीं-कहीं व्यञ्जन का विकार प्राप्त होने पर भी विकार नहीं होता। निमित्त के होने पर भी व्यञ्जनों के अविकृत रूप में रहने अर्थात् संहिता में विकार हुए बिना मूलरूप में रहने को व्यञ्जन का प्रकृतिभाव कहा जाता है। व्यञ्जन के प्रकृतिभावों को व्यञ्जनों के विकार के अपवाद के रूप में पहले ही कहा जा चुका है।

नति

नति संज्ञा का प्रयोग वा० प्रा० में किया गया है। इसके अनुसार दन्त्य वर्णों का मूर्धन्यभाव नति होता है।[2] अर्थात् नति के अन्तर्गत वे विकार आते हैं जिनमें दन्त्य वर्ण (त् थ् द् ध् न् और स्) क्रमशः मूर्धन्य वर्ण (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् तथा ष्) में विकृत हो जाते हैं।

तकार का टकारभाव

(1) आडम्बर के बाद में स्थित न होने पर आघा शब्द से परवर्ती तकार मूर्धन्य (अर्थात् टकार) हो जाता है[3]। जैसे—दारु आघातः = कालका दार्वाघाट; (वा० सं० 24।35)।

(2) षकार से परवर्ती तकार मूर्धन्य टकार हो जाता है।[4] जैसे—वरुत्रीः त्वा=वरुत्रीष्ट्वा (वा० सं० 11/61)।

थकार का ठकार भाव

षकार से परवर्ती थकार ठकार हो जाता है।[5] जैसे—आखरे स्थः = आखरेष्ठः (वा० सं० 2।1)।

---

1. विश्पतीवोपस्थिते (वा० प्रा० 4/90)
2. दन्तस्य मूर्धन्यापत्तिः नतिः (वा० प्रा० 1/42)
3. आघादनाडम्बरात् (वा० प्रा० 3/48)
1. षात्तथो मूर्धन्यम् (वा० प्रा० 3/79), शि० सं० पृ० 235 (प्रा० प्र० शि०)
2. षात्तथो मूर्धन्यम् (वा० प्रा० 3/79) शि० सं० पृ० 235 (प्रा० प्र० शि०)

नकार का णकारभाव

वा० प्रा० के बारह सूत्रों (3।84–95) में नकार के णकारभाव का विधान किया गया है। इन विधान-सूत्रों में समीपवर्ती वर्ण के प्रभाव से होने वाले नकार के विकार का विधान किया गया है।

समीपवर्ती वर्ण के प्रभाव से होने वाला नकार का णकार

(1) एक पद में ऋकार, रेफ और षकार से परवर्ती नकार का णकार हो जाता है[1]। जैसे—नृणाम् (वा० सं० 11।27)। पूष्णः (वा० सं० 1।10)। पूर्णा (वा० सं० 3।49)।

(2) केवल स्वर, यकार, वकार, हकार, कवर्ग तथा पवर्ग का व्यवधान होने पर ऋकार, षकार तथा रेफ से परवर्ती नकार णकार हो जाता है[2]। जैसे—नृमना = नृमणा (वा० सं० 12।18)। पुरीष वाहनः = पुरीषवाहणः (वा० सं० 11।44)। प्रवाहनः = प्रवाहणः (वा० सं० 5/31)।

(3) प्र से परवर्ती नी, नुद् तथा हिनोमि का नकार णकार हो जाता है।[3] जैसे—प्र नय = प्रणय (वा० सं० 11/8)। प्र नुदा नः = प्रणुदा नः (वा० सं० 15/1)। प्र हिनोमि = प्रहिणोमि (वा० सं० 35/19)।

(4) इन स्थलों में नकार का णकार निपातन से होता है—निषण्णाय, रथवाहणम्, इन्द्र एणम्, परणीयते, समिन्द्रणः, उरुष्याणः, रक्षाणः, पूणः, षुणः षुणासत्वा, स्वर्णः, अस्थूरिणो, प्रण आयूंषि।[4] जैसे—निषन्नाय = निषण्णाय (वा० सं० 22/8)। रथवाहनम् = रथवाहणम् (वा० सं० 29/45)।

(5) शाकटायन के मत से परिणः का णकार निपातन से होता है।[5] जैसे—परि नः = परिणः (वा० सं० 16/50)।

---

1. ऋषरेफेभ्यो नकारो णकारं समानपदे (वा० प्रा० 3/84), शि० सं० पृ० 240 (प्र० प्र० शि०)
2. स्वरयवहकपेभ्य (वा० प्रा० 3/85)
3. प्र नेतिनुदातिहिनोमीनाम् (वा० प्रा० 3।88), शि० सं० पृ० 240 (प्रा० प्र० शि०)
4. निषण्णाय······ ·····प्र ण आयूंषि (वा० प्रा० 3।86), शि० सं० पृ० 241 (प्रा० प्र० शि०)
5. परि ण इति शाकटायनः (वा० प्रा० 3।87)

नकार के षकारभाव के अपवाद

(1) पदान्तीय नकार प्रकृतिभाव से रहता है।[1] जैसे—पितॄन्=पितॄन् (वा० सं० 19/70) इत्यादि। यहाँ वा० प्रा० 3/84 से प्राप्त नकार के णकार का निषेध किया गया है।

(2) तवर्ग बाद में होने पर नकार प्रकृतिभाव से रहता है।[2] यथा—तृम्पन्तु (वा० सं० 7/15) इत्यादि। प्रस्तुत विधान वा० प्रा० 3/85 द्वारा प्राप्त नकार के णकार-भाव का निषेध करता है।

(3) श्, ष्, स् तथा मध्यम वर्णों (चवर्ग, टवर्ग और तवर्ग) के वर्णों से व्यवहित नकार प्रकृतिभाव से रहता है।[3] जैसे—दृशानः = दृशानः (वा० सं० 12/1) इत्यादि। यहाँ यह शंका होती है कि वा० प्रा० 3/85 (स्वर, यकार, वकार, हकार, कवर्ग तथा पवर्ग से व्यवहित होने पर नकार का णकार हो जाता है) से स्पष्ट हो जाता है कि इससे अन्य वर्णों का व्यवधान होने पर नकार का णकार नहीं होता है। इसलिए यह सूत्र निष्प्रयोजन है। भाष्यकार उवट ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि इन दोनों सूत्रों में किए गये विधान शिष्यों की बुद्धि को बढ़ाने के लिए है।[4]

(4) नि, वनि, नसः और प्रपीनम् का नकार प्रकृतिभाव से रहता है।[5] जैसे—वभ्रु+नीकाशाः=बभ्रुनीकाशाः (वा० सं० 24/18)। ब्रह्म+वनि=ब्रह्मवनि (वा० सं० 1/17) इत्यादि।

(5) कतिपय आचार्यों के अनुसार श्रीमनाः का नकार प्रकृतिभाव से रहता है।[6] जैसे—श्रीमनाः = श्रीमनाः (वा० सं० 17/56)।

---

1. प्रकृत्या पदान्तीयः (वा० प्रा० 3/89), शि० सं० शि० 240
(प्रा० प्र० शि०)
2. तवर्गे च (वा० प्रा० 3/93), शि० सं० पृ० 241
(प्रा० प्र० शि०)
3. शिषिसिवर्गमध्यमव्यवहितोऽपि (वा० प्रा० 3/95)
4. एवन्तर्हि उभयथा लक्षणानुकथनम् शिष्यबुद्धिव्युत्पादनार्थम्।
(वा० प्रा० 3/95 पर उवट)
5. नि वनि नसः प्रपीनम्। (वा० प्रा० 3/90), शि० सं० पृ० 240
(प्रा० प्र० शि०)
6. श्रीमना इत्येके (वा० प्रा० 3/91), शि० सं० पृ० 240
(प्रा० प्र० शि०)

(6) इन्द्राग्नी, चित्रभानो, वार्त्रघ्नं, दुःष्वप्न्यं, ध्रुवयोनिः, पुरोऽनुवाक्याभिः, पुरोऽनुवाक्य और चर्मंम्नम्—इन पदों का नकार प्रकृतिभाव से रहता है।[1] जैसे—इन्द्राग्नी = इन्द्राग्नी (वा० सं० 2/15)। चित्रभानो = चित्रभानो (वा० सं० 20/87) इत्यादि।

(7) षकार से अव्यवहित परवर्ती नकार ऋकार बाद में होने पर प्रकृतिभाव से रहता है।[2] जैसे—त्वेष + नृम्णा = त्वेष नृम्णा (ता० सं० 33/80)।

सकार का षकारभाव

(1) एकपद में अकण्ठ्य स्वर (अ, आ से भिन्न स्वर) से बाद में स्थित सकार षकार हो जाता है।[3] जैसे—गो + स्थानम् = गोष्ठानम् (वा० सं० 1/25) इत्यादि।

(2) अ, आ से भिन्न स्वर है पूर्व में जिसके ऐसे अनुस्वार के बाद में स्थित सकार भी षकार हो जाता है।[4] जैसे—तपूं सि = तपूंषि (वा० सं० 13/10)।

(3) ककार और रेफ से भी बाद में स्थित सकार षकार हो जाता है।[5] जैसे—दिक् सु = दिक्षु (दिक्षु) (वा० सं० 16/6)।

(4) नि से परवर्ती सीदति का सकार षकार हो जाता है।[6] जैसे—नि सीदत = निषीदत (वा० सं० 7/34)।

(5) नि से परवर्ती ससाद का पदादि सकार षकार हो जाता है।[7] जैसे—नि ससाद = निषसाद (वा० सं० 10/27)।

(6) ओकार से परवर्ती सु का सकार षकार हो जाता है।[8] जैसे—मोसु = मोषु (वा० सं० 3।46)।

---

1. इन्द्राग्नी……चर्मंम्नम् (वा० प्रा० 3/92)।
2. षादनन्तरं ऋकारे (वा० प्रा० 3/94)
3. भाविभ्यः सः ष समानपदे (वा० प्रा० 3।56), शि० सं० पृ० 235 (प्रा० प्र० शि०)
4. अनुस्वाराच्च तत्पूर्वात् (वा० प्रा० 3।57), शि० सं० पृ० 236 (प्रा० प्र० शि०)
5. करेफाभ्यां च (वा० प्रा० 3।58), शि० सं० पृ० 236 (प्रा० प्र० शि०)
6. नेः सीदतेः (वा० प्रा० 3।59), शि० सं० पृ० 236 (प्रा० प्र० शि०)
7. ससाद (च वा० प्रा० 3।60), शि० सं० पृ० 236 (प्रा० प्र० शि०)
8. ओकारात्सु (वा० प्रा० 3।61), शि० सं० पृ० 236 (प्रा० प्र० शि०)

(7) अपृक्त ऊ से भी परवर्ती सु का सकार षकार हो जाता है।[1] जैसे–ऊ सु=ऊ षु (वा० सं० 11।42)।

(8) अभि से परवर्ती सकार षकार हो जाता है।[2] जैसे–अभि सिष्वामि =अभिषिष्वामि (वा० सं० 9।30)।

(9) परि से परवर्ती सिञ्च् का सकार, षकार हो जाता है।[3] जैसे—परि सिञ्चन्ति=परिषिञ्चन्ति (वा० सं० 20।28)।

(10) अभि से परवर्ती सिञ्च् का सकार, अकार से व्यवहित होने पर भी षकार हो जाता है।[4] जैसे—अभि असिञ्चन्=अभ्यषिञ्चन् (वा० सं० 10।1)।

(11) यकार बाद में होने पर वि से परवर्ती सकार, षकार हो जाता है।[5] जैसे—विस्यामि=विष्यामि (वा० सं० 12।65)।

(12) मकार अथवा थकार बाद में होने पर हि से परवर्ती सकार, षकार हो जाता है।[6] जैसे—हि स्म=हिष्म (वा० सं० 3/46)। हि स्था=हिष्ठा (वा० सं० 11/50)।

(13) द्यवि शब्द से परवर्ती सकार, षकार हो जाता है।[7] जैसे द्यवि+स्थ=द्यविष्ठ (वा० सं० 38/53)।

(14) नि से परवर्ती स्त्य और स्तन का सकार, षकार हो जाता है।[8] जैसे—निः स्त्यायताम्=निष्ट्यायताम् (वा० सं० 6/15)। निःस्तनिहि=निष्टनिहि (वा० सं० 29/56)।

(15) ततक्षु बाद में होने पर निस् का सकार, षकार हो जाता है।[9] जैसे—निः ततक्षु=निष्टतक्षुः (वा० सं० 17/92।

1. ऊश्चापृक्तात् (वा० प्रा० 3।62), शि० सं० पृ० 236 (प्रा० प्र० शि०)
2. अभेश्च (वा० प्रा० 3।63), शि० सं० पृ० 236 (प्रा० प्र० शि०)
3. परेश्च सिञ्चतेः (वा० प्रा० 3/64), शि० सं० पृ० 236 (प्रा० प्र० शि०)
4. अव्यवहितोऽपि (वा० प्रा० 3/65)
5. वेर्युदयः (वा० प्रा० 3/66), शि० सं० पृ० 236 (प्रा० प्र० शि०)
6. हेर्मथोदयः (वा० प्रा० 3/67), शि० सं० पृ० 237 (प्रा० प्र० शि०)
7. द्यवेश्च (वा० प्रा० 3/67), शि० सं० पृ० 237 (प्रा० प्र० शि०)
8. नेः स्त्यास्तनोः (वा० प्रा० 3/69), शि० सं० पृ० 237 (प्रा० प्र० शि०)
9. ततंक्षो (वा० प्रा० 3/70), शि० सं० पृ० 237 (प्रा० प्र० शि०)

(16) अनु से परवर्ती स्तुवन्ति का सकार, षकार हो जाता है[1]। जैसे—अनु स्तुवन्ति = अनुष्टुवन्ति (वा० सं० 33/97)।

(17) दुःष्वपन्यम् में सकार, षकार हो गया है[2]। जैसे—दुःष्वप्न्यम् = दुःष्वप्न्यम् (वा० सं० 35/11)।

(18) वन्दारुः और माकिः का विसर्जनीय—सकार, षकार हो जाता है[3]। जैसे—वन्दारुः ते = वन्दारुष्टे (वा० सं० 12/42)। माकिः ते = माकिष्टे (वा० सं० 13/11)।

(19) पृतना से परवर्ती सह का सकार षकार हो जाता है[4]। जैसे—पृतना साह्याय = पृतनाषाह्याय (वा० सं० 18/68)।

(20) सधिः, अंशुः अदितिः का विसर्जनीय-सकार, षकार हो जाता है[5]। जैसे—सधिः तव = सधिष्टव (वा० सं० 12/36)। आंशुः ते = आंशुष्टे (वा० सं० 5/7)। अदितिः त्वा = अदितिष्ट्वा (वा० सं० 11/61)।

(21) एक अक्षर वाला पद बाद में होने पर वायुः, अग्निः और अग्नेः का विसर्जनीय—सकार, षकार हो जाता है[6]। जैसे—वायुः ते = वायुष्टे (वा० सं० 14/14)। अग्निः ते = अग्निष्टे (वा० सं० 13/24)। अग्ने त्वा = अग्नेष्ट्वा (वा० सं० 2/11)।

(22) सकार बाद में है जिसके ऐसा एकाक्षर पद बाद में होने पर भी पूर्ववर्ती पदों का विसर्जनीय-सकार षकार हो जाता है।[7] जैसे—वृहस्पतिः त्वा = वृहस्पतिष्ट्वा (वा० सं० 4/21)। प्रजापतिः त्वा = प्रजापतिष्ट्वा (वा० सं० 13/17)।

(23) मातृभिः, अर्चिभिः, वायुभिः, वरुत्रीः का विसर्जनीय—सकार षकार हो जाता है।[8] जैसे—मातृभिः त्वम् = मातृभिष्ट्वम् (वा० सं० 12/38)।

---

1. अनोः स्तुवन्त्याम् (वा० प्रा० 71), शि० सं० पृ० 237 (प्रा० प्र० शि०)
2. दुःष्वप्न्यम् (वा० प्रा० 72)
3. वन्दारुर्माकिः (वा० प्रा० 8/73), शि० सं० पृ० 23; (प्रा० प्र० शि०)
4. सहेः पृतनाहाः (वा० प्रा० 3/74), शि० सं० पृ० 237 (प्रा० प्र० शि०)
5. सधिरंशुरदितिः (वा० प्रा० 3/75), शि० सं० पृ० 238 (प्रा० प्र० शि०)
6. वायुरग्निरग्नेरेकाक्षरे (वा० प्रा० 3/76), शि० सं० पृ० 238 (प्रा० प्र० शि०)
7. सकारपरे (वा० प्रा० 3/77), शि० सं० पृ० 238 (प्रा० प्र० शि०)
8. मातृभिरर्चिभिः पायुभिर्वरुत्रीः (वा० प्रा० 3/76), शि० सं० पृ० 238 (प्रा० प्र० शि०)

अर्चिभिः त्वम्=अर्चिभिष्ट्वम् (वा० सं० 12/32)। पायुभिः त्वम्=पायुभिष्ट्वम् (वा० सं० 33/84)। वरुत्रीः त्वा=वरुत्रीष्ट्वा (वा० सं० 11/61)।

सकार के षकार-भाव के अपवाद

(1) अधोलिखित पदों में सकार प्रकृतिभाव से रहता है। पृथक् पद में स्थित सकार का प्रकृति-भाव तभी होगा जब उसके बाद में तकार हो—अनुसन्तनोतु, बृहस्पतिसुतस्य, सुसमिद्धाय, सुसन्दृशम्, अभिसत्वा, अभिसंविशन्तु, सुसस्याः, अतिस्थूलम्, मुसले, पत्नीसंयाजान्, क्रतुस्थला, अञ्जिसक्थः, दिविस्पृशाः, क्रदिस्पृशम्, हिंसीः, ऋक्सामयोः, ऋक्सामाभ्याम्, तित्तिरिः, सीसेन, सीसाः, सीसम्, पशुसनि, गोसनि, प्रतिसदृङ्, प्रतिसदृक्षासः तथा चतुस्त्रिंशत्।[1]

(2) ऋकार, रेफ और अर् बाद में है जिसके वह सकार अविकृत रहता है[2]। जैसे—तिसृभिः=तिसृभिः (वा० सं० 14/26)। तिस्रः=तिस्रः (वा० सं० 18/24) विसर्जनम्=विसर्जनम् (वा० सं० 1/15)।

(3) पृथिवि, दिवि, उपरि, वर्षणि, शकुनि और यासि के बाद में स्थित सकार प्रकृतिभाव से रहता है। जैसे—पृथिविसदम्=पृथिविसदम् (वा० सं० 9/2)। दिविसदम्=दिविसदम् (वा० सं० 9/2) इत्यादि।

पदपाठ का महत्त्व

वेद की संहिताओं के मन्त्रों के अर्थ तथा उनके स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखनें कें लिए पदपाठ का अत्यधिक महत्त्व है। पदपाठ को ही प्रकृति मान कर प्रातिशाख्य तथा शिक्षाग्रन्थों में संहिता-निर्माण के विधान किये गये हैं। इसी की सहायता से क्रमपाठ, घनपाठ तथा मालापाठ इत्यादि का प्रचलन हुआ, जिससे वेदमन्त्र बहुत काल के अनन्तर आज भी ज्यों के त्यों सुरक्षित बने हुए हैं। पदपाठ से ही व्याकरणशास्त्र का उद्भव हुआ, अर्थात् पदपाठ व्याकरणशास्त्र की प्रथम अवस्था है। वेदों के पदपाठ द्वारा उनकी प्रामाणिकता भी स्पष्ट होती है। जैसे—ऋग्वेद के पदपाठकार शाकल्य ने छः मन्त्रों का पदपाठ नहीं किया है। इससे स्पष्ट होता है कि शाकल्य इन मन्त्रों को प्रामाणिक नहीं मानते। इस प्रकार पदपाठ का विशेष महत्त्व है।

पदपाठ के प्रयोजन

किसी भी विषय के अध्ययन से पूर्व उसके प्रयोजन को जान लेना आवश्यक है। वा० प्रा० तथा शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं के अनुसार वर्ण, अक्षर, विभक्ति

1. प्रकृत्या नानापदस्थे तकारः। असन्तनोतु···चतुस्त्रिंशत् (वा० प्रा० 3/60,61)
2. एकाररेफारुदयश्च (वा० प्रा० 3/82)

और पद के साथ वेद का अध्ययन-अध्यापन तथा श्रवण करना पुण्यदायक होता है।[1] आचार्य कात्यायन ने इस सूत्र में पदपाठ की महत्ता के साथ-साथ ही उसके प्रयोजन और आवश्यकता की ओर भी संकेत किया है। इसके अतिरिक्त पदपाट के कतिपय प्रयोजन इस प्रकार हैं—

पद के मूल स्वरूप का ज्ञान

संहिता में स्थित पदों के वर्ण परस्पर तथा अपने समीपवर्ती पदों के वर्णों से प्रभावित होते हैं। कभी-कभी इस प्रभाव के परिणामस्वरूप उनमें कुछ विकार इत्यादि हो जाता है जिसे इसी प्रकरण में विवेचित किया गया है। ये विकार इत्यादि दो प्रकार के होते हैं—

(1) समीपवर्ती पद के वर्ग के प्रभाव से विकार

(2) पद के मध्य में विकार।

प्रथम विकार इत्यादि दो पदों के मध्य पदान्त तथा पदादि में होते हैं तथा द्वितीय विकार इत्यादि एक पद के मध्य में होते हैं। संहिता में विकृत रहने से पद के मूल स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता है। पदपाठ में सभी पदों को अलग-अलग करके रखा जाता है जिससे समीपवर्ती पद के वर्ण का प्रभाव एक दूसरे पर नहीं पड़ता और पद विकारादि से रहित होकर अपने मूल स्वरूप में होते हैं।[2] जैसे—पीवोपसवनानाम् (वा० सं० 21/43)। पीवः उपवसनानाम् (पा० पा०)। यहाँ संहिता में पीवः के विसर्जनीय का लोप हो गया है तथा पदान्त अकार और पदादि उकार मिल कर ओकार में विकृत हो गये हैं, जिससे संहिता में पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पद विकार के कारण अपने मूल स्वरूप में नहीं दिखलाई पड़ते। पदपाठ में विग्रह द्वारा अलग-अलग हो जाने पर पदादि उपवसन का प्रभाव पदान्त पीवः के विसर्जनीय पर नहीं पड़ता, जिससे विसर्जनीय का लोप नहीं होता। पदों के अलग-अलग होने से दोनों पदों में सन्धि के परिणाम-स्वरूप कोई विकार नहीं होता। फलतः दोनों पद पदपाठ में अपने मूलस्वरूप में रहते हैं।

एकपद के अन्तर्गत हुए विकार इत्यादि को पदपाठ में स्थितोपस्थित द्वारा दिखाकर पद के मूल स्वरूप को स्पष्ट किया जाता है। जैसे—श्रेयस्करः (वा०

---

1. वेदस्याध्ययनाद्धर्मः सम्प्रदानात्तथा श्रुते।
   वर्णशो क्षरशो ज्ञानाद्विभक्तिपदशो पि च ।। (वा० प्रा० 8/37)
2. पदाध्ययनमन्तादिशब्दस्वरार्थम् (च० अ० 4/107)
   प्रकृतिदर्शनम् समापत्तिः (च० अ० 4/73)

सं० 10/28)=श्रेयस्करः। श्रेयः कर इति श्रेयः–करः (पा० पा०)। यहाँ संहिता में एक पद में ककार बाद में होने से अकार है पूर्व में जिसके ऐसे विसर्जनीय का सकार हो गया है। इसलिए संहिता में विकृत हो जाने से विसर्जनीय सकार के रूप में दिखलायी पड़ता है। पदपाठ में इस पद के मूलस्वरूप को स्थितोपस्थित द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

पद के मूलस्वर का ज्ञान

संहितास्थ पद के परस्पर प्रभावित होने से उन पदों के स्वर भी समीपवर्ती पद के स्वर से प्रभावित होते हैं। इस प्रभाव के कारण पदों के स्वरूप के समान उनके स्वरों में भी परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन दो प्रकार से होता है—

(1) पदान्त तथा पदादि स्वर वर्ण के संहिता में विकृत होने से परिवर्तन तथा

(2) पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वर के प्रभाव से परिवर्तन।

इन दोनों प्रकार के होने वाले परिवर्तनों को स्वर-प्रकरण में विवेचित किया जा चुका है। इन परिवर्तनों के कारण पदों के स्वर, संहिता में अपने मूलरूप में नहीं दिखलायी पड़ते। पदपाठ में पदों के अलग-अलग हो जाने से एक पद के स्वर का भी दूसरे पद के स्वर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परिणामतः ये मूलरूप में विद्यमान रहते हैं। जैसे—प्रार्पयतु (वा० सं० 1/1)= प्र। अर्पयतु (पा० पा०)। यहाँ संहिता में पदान्त तथा पदादि उकार का एकीभाव विकार–आकार होने के कारण पूर्ववर्ती अकार का उदात्त स्वर तथा परवर्ती अकार का अनुदात्त स्वर मिलकर उदात्त स्वर हो गया है। पूर्ववर्ती आकार के उदात्त से प्रभावित होकर "प" अक्षर का अनुदात्त स्वरित हो गया है तथा उस स्वरित के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त स्वर प्रचय हो गये हैं। इस प्रकार संहिता में अपर्यतु के सभी स्वर अपने मूल रूप में नहीं दिखलायी पड़ते। पदपाठ में दोनों पद अलग-अलग होते हैं, जिससे पूर्ववर्ती पद के स्वर का प्रभाव न पड़ने से अर्पयतु के स्वर अपने मूल रूप में स्पष्ट दिखलायी पड़ते हैं।

अर्थ का ज्ञान

संहितागत मन्त्रों के अर्थ का सुस्पष्ट ज्ञान पदपाठ की सहायता से होता है। पद अपने अर्थ का ज्ञान कराते हैं। पदों के अर्थों की जानकारी हो

जाने पर पदों से निष्पन्न मन्त्रों के अर्थ का बोध हो जाता है। मन्त्र में प्रयुक्त पदों को पदपाठ द्वारा ही जाना जा सकता है। जैसे—न तस्य प्रतिमा अस्ति (वा० सं० 32/3)। यहाँ नतस्य पद है अथवा न तस्य—इसे पद-पाठ द्वारा जान लेने के बाद ही इस मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ किया जा सकता है।

इस प्रकार पदपाठ के द्वारा सन्देहास्पद पदों के विभक्ति, समस्तपद, उपसर्ग—आख्यात, प्रकृति-प्रत्यय, प्रगृह्य स्वर इत्यादि पूर्वरूपेण स्पष्ट हो जाते हैं।

पद

पद का लक्षण बतलाते हुए वा० प्रा० तथा प्रा० प्र० शि० में कहा गया है कि जिससे अर्थ का बोध होता है वह पद है।[1] इस सूत्र पर भाष्यकार उवट का कथन है कि अर्थ का अभिधान करने वाला पद होता है। इसके द्वारा अर्थ प्राप्त किया जाता है, अर्थ तक जाया जाता है, अर्थ ज्ञात होता है—इसलिए पद कहलाता है।[2] पद का विधान करते हुए वा० प्रा० में यह कहा गया है कि अक्षरों का समुदाय अथवा अक्षर पद होते हैं।[3] पद के लक्षण तथा संज्ञा-विषयक विधानों से यह स्पष्ट होता है कि अर्थ का बोध कराने वाला अक्षर अथवा अक्षरों का समुदाय पद है। जैसे—इषे (वा० सं० 1/1)।

यहाँ यह शङ्का होती हैं कि जब अर्थ का अभिधायक अक्षर या अक्षरों का समूह पद होता है तो अनर्थक होने से निपात, पदसंज्ञक कैसे होंगे? भाष्यकार उवट ने इस प्रकार की शङ्का उठाकर उसका समाधान करते हुए कहा है कि सूत्रकार ने 8/57 में निपातों को भी पद माना है[4] और कहा है कि पादपूरक होने से निपात भी सार्थक हैं। वस्तुतः वा० प्रा० 3/2 सूत्ररचना में सूत्रकार का यह आशय है कि पद के सदृश, दिखलायी पड़ने वाले पदावयवों की भी पद संज्ञा न हो।[5]

---

1. अर्थः पदम् (वा० प्रा० 2/2, प्रा० प्र० शि० 235)
2. अर्थाभिधयि पदम्। पद्यते गम्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति पदम्
   (वा० प्रा० 3/2, उ०)
3. अक्षरसमुदायः पदम्। अक्षरं वा। (वा० प्रा० 8/50, 51)
4. तच्चतुर्धा। नामाख्यातोपसर्गनिपाताः
   (वा० प्रा० 8/52-53, प्रा० प्र० शि० 236।
5. द्रष्टव्य—वा० प्रा० 3/2, उ०।

कतिपय विशिष्ट पदों का स्वरूप

वा० प्रा० के पच्चीस सूत्रों (4/27-33, 151-161 तथा 6/26-31) में कतिपय विशेष पदों का स्वरूप बतलाया गया है। इन पदों के स्वरूप का कथन पदपाठ तथा वेदार्थ-विचार में सन्देह निवारण के लिए किया गया है। जिनमें से कुछ का उद्धरण प्रा० प्र० शि० में भी हुआ है। वे इस प्रकार हैं–

(1) सम्भवः शुक्रः, मन्थी, पृथिवीम् और परो देवेभिः—ये पद बाद में होने पर पृथिव्या पद स्वरान्त होता है।[1] जैसे—पृथिव्याः। सम्। भवः (प०पा०) =पृथिव्या सम्भवः (वा० सं० 4/13) इत्यादि।

(2) च विश्वा, वो, ब्रह्म, विश्वास, हरी, यक्ताः, तौ, शफानाम्, जजान और नु कम्—ये पद बाद में होने पर इमा पद स्वरान्त होता है।[2] जैसे – इमा। च। विश्वा (प० पा०) = इमा च विश्वा (वा० सं० 9/23) इत्यादि।

(3) हवेमा और उतेमा—ये पद स्वरान्त होते हैं।[3] जैसे—मित्रावरुणा। इव। हवेमाः (प० पा०) = मित्रावरुणा हवेमा (वा० सं० 2।18)। विश्वकर्मन्निति। उत। इमाः (प० पा०)=विश्वकर्मन्नुतेमाः (वा० सं० 17।20)।

(4) विष्णो, ते, बभूव, सासत्या, भिषजा, न वावोढम्, या देवाः, हविषः, नो मृडातः, नो अच्छ और विमुञ्च—ये पद बाद में होने पर ता पद स्वरान्त होता है।[4] जैसे—ता। विष्णो इति। पाहि (प० पा०) =ता विष्णो पाहि (वा० सं० 2/6) इत्यादि।

(5) ता ता पद भी स्वरान्त है।[5] जैसे--ताता इति ता-ता। पिण्डानाम् (प० पा०)=ताता पिण्डानाम् (25/82)।

(6) क्रमशः हविः और दम्पती पद बाद में होने पर साध्या और दा पद स्वरान्त होते हैं।[6] जैसे—साध्याः हविः (प० पा०)= साध्या हविः (वा० सं० 25/41)। आशीर्देत्याशीः—दा। दम्पती इति दम्पती (प० पा०)=आशीर्दा दम्पती (वा० सं० 8/5)।

---

1. पृथिव्या स्वरान्तं सम्भव···रित्येषु (वा० प्रा० 4।28)
2. च विश्वास वो ब्रह्म···इत्येतेष्विमा (वा० प्रा० 4।29)
3. हवेमोतेमा च (वा० प्रा० 4/30)
4. विष्णो ते···विमुञ्चेत्येतेषु ता (वा० प्रा० 4/31)
5. ता ता च···(वा० प्रा० 4/32)
6. हविर्दम्पत्योः साध्या दा (वा० प्रा० 4।33)

(7) धिष्ण्या वरिवोविदं, धिष्ण्या युवम् में धिष्ण्या पद स्वरान्त होता है।[1] जैसे—धिष्ण्या। वरिवोविदमिति वरिवः विदम् (प० पा०)=धिष्ण्या वरिवोविदम् (वा० सं० 20/74)। धिष्ण्या। युवम् (प० पा०)=धिष्ण्या युवम् (वा० सं० 25/15)।

ऊष्मान्तीय पद

परि द्विषः, त्वम्, त्वाम्, यदजयः, विराजति, अनिराः, अवीवृधन्, वरिष्ठाः, सुक्षितयः, आशाः, औषधीः, आभाहि, अमीवात, हि मायाः ते और असि—ये पद बाद में होने पर विश्वा पद ऊष्मान्त (विसर्जनीयान्त) होता है।[2] जैसे – विश्वाः। परिद्विषः (प० पा०) = विश्वा परिद्विषः (वा० सं० 4।29) इत्यादि।

दो यकार वाले पद

आप्याय्यमानो यमः, रय्ये, धाय्यारूपम्, श्रवाय्यम्, नृपाय्यम्, पौरुषेय्याः, हृदय्याय, सहरय्या, निवाय्य, सान्नाय्य तथा सन्ताय्य–ये पद दो यकार वाले हैं।[3] जैसे—आप्याय्यमानः। यमः (प० पा०)=आप्याय्यमानो यमः (वा० सं० 8।53) इत्यादि। इन पदों में वा० प्रा० 4।101 के अनुसार द्वित्वज तृतीय यकार की प्राप्ति होती है जिसका इस विधान द्वारा निषेध हो जाता है।

एक यकार वाले पद

(1) ज्योतिः, च्यवनः श्येनः, श्यामम्, श्यामाकाः, श्येतः, ज्येष्ठः, ज्योक्, ज्या तथा छ्यति—इन पदों में एक यकार होता है।[4] जैसे—बृहत्+ज्योतिः (प० पा०)=बृहज्ज्योति (वा० सं० 11।3) इत्यादि।

(2) "जुषत्व यविष्ठ्य" और "शोधा यविष्ठ्य" में भी एक ही यकार होता है।[5] जैसे—जुषस्व। यविष्ठ्य (प० पा०)=जुषस्व यविष्ठ्य (वा० सं० 11।73)। शोचा। यविष्ठ्य (प० पा०) = शोचा यविष्ठ्य (वा० सं० 3।3)।

---

1. धिष्ण्या वरिवोविदम् युवमिति च (वा० प्रा० 4।34)
2. विश्वास ऊष्मान्तं···हि मायास्ते सीत्येषु (वा० प्रा० 4।27)
3. द्वियकारम्। आप्याय्यमानो यमो···सन्ताय्येति च (वा० प्रा० 4।152, 153), प्रा० प्र० शि० 147, 148)
4. एकः। ज्योतिश्च्यवनः···ज्याच्छ्यति (वा० प्रा० 4।154-155)।
5. जुषस्व यविष्ठ्य शोचा यविष्ठ्येति च (वा० प्रा० 4।156)

(3) पद के अवयव के रूप में विद्यमान स्य और ण्य में भी एक-एक यकार होता है।[1] जैसे—कस्य (प० पा०)=कस्य (वा० सं० 23।47)। हिरण्यम् (प० पा०)=हिरण्यम् (वा० सं० 34।52)।

(4) एक पद में स्वर है पूर्व में जिसके ऐसे शकार, चकार और जकार का द्विरुच्चारण होने पर उनके बाद में एक यकार होता है।[2] जैसे—अश्श्याम (प० पा०) =अश्याम (वा० सं० 16।74) इत्यादि।

अपवाद

(1) व्यञ्जन बाद में होने पर स्वर है पूर्व में जिसके ऐसे द्विरुच्चारित शकार, चकार और जकार के बाद यकार नहीं होता।[4] जैसे—अदृश्श्रम् (प० पा०) =अदृश्श्रम् (वा० सं० 5।40)।

(2) जातूकर्ण्य के मतानुसार ऋषि का वाचक न हो तो कश्यप में यकार नहीं होता है।[8] जैसे—मासाम्। कश्यपः (प० पा०)=मासाङ् कच्छपः (वा० सं० 24।37)। तात्पर्य यह है कि—कश्यप शब्द में द्विरुच्चारण (द्वित्व) होने पर यकार नहीं होता है किन्तु शकार का छकार हो जाता है)। यह यकार का न होना जातुकर्ण्य के मत से है। वा० प्रातिशाख्य के प्रणेता के अनुसार यकार होता है तथा संहिता में भी यकार प्राप्त होता है, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है।

(3) उच्चैः, रज्जुः और मज्जानः में भी यकार नहीं है।[5] जैसे—उच्चैष्ठोषायेत्युच्चैः घोषाय (प० पा०)=उच्चैर्गोष्ठाय (वा० सं० 16।19)। इत्यादि।

(4) मर्त्तो वुरीत, मर्त्तेष्वग्निः, परो मर्त्तः और ते मर्त्त—इन पदों का मर्त्तः पद यकार-रहित होता है।[6] जैसे—मर्त्तः। वुरीत (प० पा०)=मर्त्तो वुरीत (वा० सं० 4।8) इत्यादि।

---

1. स्येति ण्यत्वं च (वा० प्रा० 4।157)
2. स्वरपूर्वाश्च शचजाः समानपदे दिरुक्ताः (वा० प्रा० 4।158)
3. व्यञ्जनपराश्च न (वा० प्रा० 4।159)
4. कश्यपस्यानार्षेये जातूकर्ण्यस्य (वा० प्रा० 4।160)।
5. उच्चैरज्जुमज्जानश्च (वा० प्रा० 4।161)
6. मर्त्तो वुरीत मर्त्तेष्वग्निः परोमर्त्तस्ते मर्त्त इति च (वा० प्रा० 4/162)

दो सकार वाले पद

शास्स्व और रास्स्व—इन दौनों पदों में दो-दो सकार होते हैं।[1] जैसे—शास्स्व (प० पा०)=शास्स्व (वा० सं० 21।61)। रास्स्व (प० पा०)=रास्स्व (वा० सं० 4।16)।

दो स्पर्श वाले पद

वेत्तु, चित्त्वा, अस्मद्द्र्यक्, पात्त्रम्, अभित्त्यम्, मृत्तिका, द्ध्वम्, दात्त्रम्, समावर्त्ति, ऋद्धिः, वृद्धिः, अराद्धये, अर्द्धे, शुद्ध, बुद्ध, नक्क्तम्, निषण्ण, स्विन्न, अन्न और सन्न—ये पद दो स्पर्श वाले हैं।[2] जैसे—वेत्तु (प० पा०)=वेत्तु (वा० सं० 1/19) इत्यादि।

द्विस्पर्श पद के अपवाद

(1) क्ष, वृ, चि, श्वि, स, त, य से बाद में स्थित त्र में एक ही स्पर्श होता है दो नहीं।[3] जैसे—क्षत्रस्य (प० पा०)=क्षत्रस्य (वा० सं० 10।8) इत्यादि।

(2) गतिशील द्रव्यों के वाचक ईध्याय, वार्ध्रीनस और उद्र में दो स्पर्श नहीं होते हैं।[4] जैसे—वीध्यायेति वि ईध्याय (प० पा०))=वीध्याय (वा० सं० 16।38) इत्यादि।

दो अनुनासिक वाले पद

बर्हिरङ्ङ्क्ताम्, मद्रेण पृङ्ङ्क्तम्, पङ्ङ्क्ति, समङ्ङ्धि परिवृङ्ङ्धि, पाङ्ङ्त्रान् में तथा आरपन्ती को छोड़कर इस प्रकार के अन्य पदों में एक स्पर्श के पूर्व में दो अनुनासिक होते हैं।[5] जैसे—बर्हिः। अङ्क्ताम् (प० पा०)=बर्हिरङ्ङ्क्ताम् (वा० सं० 2।22) इत्यादि।

तीन स्पर्श वाले पद

उपोत्थितः, उत्त्तम्भनम्, उत्त्तभान, उत्त्थाय, उत्त्थिताय—इन पदों में तीन-तीन स्पर्श होते हैं।[6] जैसे—उपोत्थितः (प० पा०)=उपोत्त्थितः (वा० सं० 8।55) इत्यादि।

---

1. द्विसकारं शास्स्व रास्स्वेति (वा० प्रा० 4।147, प्रा० प्र० शि० 149)
2. द्विस्पर्शम्। वेत्तु चित्त्वा···सन्नाश्च (वा० प्रा० 6।25-26)
3. न क्षवृचिश्विसतयेभ्यश्चैकम् (वा० प्रा० 6।27)
4. ईध्याय वार्ध्रीनसोद्राश्च राश्चेत् (वा० प्रा० 6।28)
5. बर्हिरङ्ङ्क्ताम् ··पूर्वावारपन्तीवर्जमिति (वा० प्रा० 6।30)
6. उपोत्थित उत्त्तम्भनमुत्त्तभानोत्त्थायोत्त्थितायेति त्रीणि (वा० प्रा० 6।29)

खकार-युक्त पद

मा० शि० में शुक्लयजुर्वेद-संहिता के कतिपय सकार वाले पदों का निर्देश किया गया है। इसका कारण यह है कि इस संहिता में कुछ विशेष परिस्थिति में षकार का खकार उच्चारण होता है। अध्येता इन स्थलों पर भी खकार को षकार के स्थान पर उच्चारित खकार न समझ लें। यहाँ खकार मूलतः हैं, षकार के स्थान पर उच्चारित नहीं। इसी ज्ञान हेतु इन पदों को निर्दिष्ट किया गया है जो इस प्रकार है—

आखरेष्टः, आखुस्ते, मयूखैः, ध्रामालेखी, ततः खनेम, उखा-कृणोतु, उखाम्परिददामि, खनत्ववर, दधतूखे, मित्रैतान्त उखाम्, त्वङ् खाद; सुखादितान्; अभालख्य, गन्धर्वा खनन्, आखिदते, प्रखिदते, विशिखा इव, श्रिये शिखा, भूम्या खनन्, ऋतुनामाखुः, खड्गो वैश्वदेवः नखेषु मोखा भ्राजन्ती, उखायाः, मधुशाखः, स्त्रीषखम्, सङ् खध्मम्, मखस्य शिरोऽसि, मखाय त्वा।

माध्यन्दिन-संहिता में बकार तथा वकार का निर्धारण

प्रायः पदों में विद्यमान बकार तथा वकार के उच्चारण में सन्देह हो जाता है। यद्यपि दोनों का उच्चारणस्थान ओष्ठ है। दोनों के उच्चारण में भेद केवल आभ्यन्तर प्रयत्न का होता है। बकार का आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट तथा वकार का उच्चारण स्थान इषत्स्पृष्ट होता है। अतः दोनों के उच्चारण-विषयक सन्देह की निवृत्ति हेतु माध्यन्दिनसंहिता से सम्बद्ध अमोघानन्दिनी शिक्षा में बकार तथा वकार के स्थलों का निर्देश किया गया है।[1] जो इस प्रकार है—

माध्यन्दिन-संहिता में बकार वाले पद

इस संहिता में उपलब्ध बकार वाले पद ये हैं।[1]—ब्रह्म, बाहू, बृहत्, बद्धः, बृहती, धोर्बधान, बर्हिः, बृहस्पते, बिभ्राड्, बिभीतः, बहु, बोधय, बर्हिषा, पिब, ब्रूते, त्र्यम्बकम्, बाध, बुद्धयः, बन्धुः, स्तब्धी, बध्नीत्, अम्बिकया, बभ्लुशाय, ब्रवीत्, दृबासि, बम्भारे, अम्बः, बहुर्बहुः, क्षत्रस्योल्बम्, अब्दम्, शतम्बः, बहनी, बाहवोः, पूर्वाबन्धुम्, बिभ्रतम्, बिभ्रता, गृभ्णातु, ब्रुवे, आबबन्ध, बीज, बभ्रुः, पड्बीश, किल्बिषात्, यद्वरतो बध्ना अबोधि, अग्निबाणवान्, उपबुध्य, ऐलबृदा, बद्धो, बाहवे, बिल्मिने, कुबलम्, बिबलम्, बलम्ः अर्बुदम्, न्यर्बुदम्, शुल्बम्, उल्बम्, बीभत्सम्, बहुः, ब्रुहि, बडवा, स्तंबधारयन् प्रबोधय, अम्बिके, अम्बे, अम्बालिके, बलायका, अम्बे बष्किहा, बाह्यम्, बालम्, बाधध्व, बर्हितः, बिभ्रतामपि, बेश्व

1. अमोघानन्दिनी शि० (3–15)

व्वरः व्रवाणि, क्लिवे, बिदलकारीम्, वोधि, वद्ध, जुम्बक, बीभत्साये, शावल्याम्, शब्दायाडम्वरा, वभूत्, वण्महान्, वडादित्य, वटसूर्यस्य, सुवीरये, येषामम्वरेषु, वहुलम्, प्रव्रवामः, विर्भात, विर्भाष, विभर्ष्यस्तवे ।

वकार वाले पद

माध्यन्दिनसंहिता में वकार वाले ये पद उपलब्ध होते हैं ।[1]—विष्णु, वायुः, वह्निः, वरुणस्य, विषूचिका, वसोः, विभाति, विश्वस्य, वाममद्य; विन्नः, प्रेशीनां वृषभः, वन्ध्यमाना, वृत्रम्, वाचः सत्यमशीय, वृष्णो, वम्यो, वधेऽसि, वप्रा, उर्वी, वहन्ति, वेदी, वर्चः, वराहः, वलः, वस्ति, वलम्, वाहनम्, वुरीतम, विवब्रुः, कुवलम्, विवलम्, चावार्वाणम्, वक्ष्य, मुक्ष्व, वक्ष्यमाणम्, वक्ष्यमस्तु, वेत्वा, वीताम्, व्यन्तु, यह्वी, विशल्यः, वाणी, घृष्णः, विद्मा, विभृतेः, प्रतद्वो, वित्तस्य, विभ्राष्टि, विभ्राट्, विभ्राजमाना, न तद्देवीरापः, आपो देवी, विभृता, रथोहणं वलम् ।

माध्यन्दिनसंहिता में विद्यमान मकार वाले पद

मल्लशर्मकृत शिक्षा में मा० सं० में उपलब्ध ओष्ठ्य मकार को गिनाया गया है। इसके अनुसार निम्नलिखित स्थलों पर मकार प्राप्त होता है - म्रम्ते, निम्रतो, मोघे, मूत्रम्, मध्यं, मधे, मिधे, मले, मिमन्धे, मिमर्तो, मिभर्योः, मभये, म्राहमणे, मृषे, माघेः, महिपम्, मध्याम्, मृहन्ते, मधानके, मृहस्पतो, पिमते, मृते, माल्वे, मभूषिते, म्रिभाड्, प्रमुधे, मध्वे, मध्नो, प्रमाहके, मम्लुशे, मदरे, म्रघ्ने, मयायो, ब्रह्मचर्यके, मटे, सोमे, भीमत्से, क्लीमे, त्र्यम्बके, शमले–सभी विभक्तियों के रूपों में याज्ञवल्क्य ने ओष्ठ्य मकार को वतलाया है ।[2]

माध्यन्दिनसंहिता में विद्यमान ठकार वाले पद

मल्लशर्मकृत शिक्षा के आधार पर मा० सं० में इन स्थलों पर ठकार उपलब्ध होता है—पृष्ठ, गोष्ठ, शोचिष्ठ, अनुष्ठान, पिष्ठक, अधिष्ठान, स्वादिष्ठ, वसिष्ठक, निष्ठा, ओष्ठ, अनिष्ठ, कनिष्ठा, मदिष्ठक, निष्ठा, अनिष्ठा, षष्ठक, प्रतिष्ठा, यविष्ठ्य, वर्षिष्ठ, तिष्ठत, निष्ठीवन, चाखरेष्ठ, पुञ्जिष्ठ, गह्वरेष्ठक, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, कनिष्ठ, भूयिष्ठा, पिष्ठक, नरिष्ठा, गरिष्ठ, भ्राजिष्ठ के सभी विभक्तियों में ठकार होता है ।[3]

1. वही (16–23)
2. मल्लशर्मकृत शिक्षा (50–55)
3. मल्लशर्मकृत शिक्षा (56–61)

पदपाठ के नियम

वा० प्रा० में पदपाठ में होने वाले स्वर, स्थितौपस्थित, अवग्रह, परिग्रह और सङ्क्रम इत्यादि विषयक विधानों का विस्तृत विवेचन किया गया है। जिनका विवेचन प्रा० प्र० शि० में भी हुआ है। वे ये हैं—

(1) पदपाठ में संहिता के प्रकृतिभूत पदों को अलग-अलग उनके मूलरूप में रखा जाता है। पदों को अलग-अलग करके रखना ही पदपाठ (असंहिता) कहा जाता है।[1] पदों को पृथक्-पृथक् करके रखने से उनमें विकार, लोप तथा आगम इत्यादि गहीं होते।

(2) पदों के छान्दस् रूप को (जो व्याकरण के अनुसार सिद्ध नहीं होते, उन्हें) पदपाठ में स्पष्ट किया जाता है। वा० प्रा० 3/2। से लेकर तृतीय अध्याय की समाप्ति तक अन्तःपदीय विकारों को कहा गया है।[2] इन छान्दस् विकारयुक्त पदों को पदपाठ में पहले कह कर पुनः उसके अविकारी रूप का उल्लेख विधान के अनुसार किया जाता है।[3]

(3) वा० प्रा० के पाँचवें अध्याय में विहित अवग्रह—विषयक विधानों के अनुसार पदपाठ में स्थितोपस्थित द्वारा पृथक्करण किया जाता है।[4]

(4) वा० प्रा० के 4/168 से 4/181 तक सङ्क्रम-विषयक विधान किया गया है। इन विधानों के अनुसार विहित गलत्पद को पदपाठ में छोड़ दिया जाता है अर्थात् गलत् पदों का पदपाठ नहीं किया जाता। इसका विधान प्रा० प्र० शि० भी हुआ है।

पदपाठ में स्वर-विषयक विधान

संहिता में स्वर अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पद से प्रभावित होते हैं। इसलिए उनके स्वरों का भी प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता है। इस प्रभाव से कभी-कभी पदों के स्वर के मूलरूप में परिवर्तन हो जाता है। पदपाठ में पदों के पृथक्-पृथक् हो जाने से उनके स्वर परस्पर प्रभावित नहीं होते।[5] अतः पदपाठ में पदों को उनके मूल-स्वर के साथ रखा जाता है।

---

1. पदविच्छेदो संहितः [वा० प्रा० 1।156]
2. अनितावध्याये (वा० प्रा० 3/19)
3. अनितावन्तर्विकारागमं प्रागुक्त्वा (वा० प्रा० 4/23)
4. द्रष्टव्य—वा० प्रा० पञ्चम अध्याय
5. संहितावदवग्रहः स्वरविधौ परं च सर्वं चेदनुदात्तम्। वा० प्रा० 1/148

अवग्रह, प्रगृह्य, रिफित तथा छान्दस् विकार वाले पदों के मूलरूप को स्पष्ट करने के लिए उन्हें विधानानुसार स्थितोपस्थित पाठ के सहित रखा जाता है। स्थितोपस्थित का इतिपद निपात होने के कारण आद्युदात्त होता है। स्थितोपस्थित में इति से पूर्ववर्ती पद का अन्तिम वर्ण इति के पदादि इकार के साथ तथा इति का अन्तिम वर्ण आवृत्त पद के पदादि वर्ण के साथ विधानानुसार वर्ण-विकार तथा स्वर-विकार को प्राप्त करता है। जैसे—आतन्वानेभ्यः (वा० सं० 16/22) = आतन्वानेभ्य इत्यातन्वाने-भ्यः (प० पाठ)

यहाँ स्थितोपस्थित पाठ में वर्ण के विकार के साथ-साथ स्वर में भी विकार हुआ है। इति से पूर्ववर्ती पदान्तीय स्वरित परवर्ती पदादि इति के आद्युदात्त होने से अनुदात्त ही है तथा इति के पदान्त स्वरित स्वर के साथ द्वितीय आवृत्ति का अनुदात्त आकार अपनी अनुदात्तता छोड़कर स्वरित हो गया है। इस प्रकार स्थितोपस्थित पाठ में पद के मूलस्वर में कभी-कभी थोड़ा परिवर्तन हो जाता है।

स्थितोपस्थित में स्वरविषयक विशिष्ट-विधान

वा० प्रा० तथा प्रा० प्र० शि० के अनुसार स्वर के विषय में सावग्रह पद का पूर्वपद (अवग्रह) संहिता के समान स्वर को प्राप्त करता है और उत्तरपद भी संहिता के समान स्वर को प्राप्त करता है यदि वह उत्तरपद सर्वानुदात्त हो।[1] तात्पर्य यह है कि पदपाठ के स्थितोपस्थित पाठ में इति के बाद में पढ़े गये सावग्रह पद में पूर्व तथा उत्तर दो पद हो जाते हैं। उन दोनों पदों में से पूर्वपद इति के साथ सन्धि होने पर संहिता के समान स्वर को प्राप्त करता है और पूर्वपद से परवर्ती उत्तरपद भी सर्वानुदात्त होने पर संहिता के समान स्वर को प्राप्त करता है। जैसे—वह्नितमिति बह्नितमम् (वा० सं० 1/8)। प्रस्तुत उदाहरण में इति से बाद में वह्नितमम्—इस सावग्रह पद के पूर्वपद वह्नि की पूर्ववर्ती इति के साथ सन्धि होने पर तथा उत्तरवर्ती सर्वानुदात्त तमम् पद संहिता के समान स्वर को प्राप्त किया है, जिससे इति के प्रथम अक्षर इ के उदात्त स्वर के प्रभाव से द्वितीय अक्षर ति स्वरित न होकर वह्नि के प्रथम अक्षर के उदात्त के प्रभाव से अनुदात्त ही है। वह्नि का द्वितीय अक्षर प्रथम उदात्त अक्षर के प्रभाव से स्वरित है तथा उत्तर सर्वानुदात्त तमम् पद भी संहिता के समान स्वर को प्राप्त करने के कारण पूर्ववर्ती स्वरित के प्रभाव से प्रचय है।

1. संहितावदवग्रहः स्वरविधौ परं च सर्वं चेदनुदात्तम्।—वा० प्रा० (1/148)

यदि सावग्रह पद का उत्तरपद सर्वानुदात्त न होकर उदात्त अथवा स्वरित युक्त हो तो वह अपने स्वरित पद से रहेगा। अर्थात् संहिता के समान स्वर को नहीं प्राप्त करेगा। जैसे—वि-रुरुचुरिति विरुरुचुः (वा० सं० 3/15)। इस उदाहरण में विरुरुचुः—इस सावग्रह पद का उत्तर पद रुरुचुः अन्तोदात्त होता है, अतः इसका पूर्वपद "वि" इति की सन्धि के बाद संहिता के समान स्वर को प्राप्त किया है; जिससे पूर्ववर्ती स्वरित के प्रभाव से प्रचय होता है किन्तु अन्तोदात्त होने से उत्तरपद रुरुचुः अपने प्रकृतिस्वर से ही विद्यमान है जिससे इसके प्रथम अक्षर के अनुदात्त पर पूर्ववर्ती स्वरित का प्रभाव न पड़कर प्रकृति स्वर में ही है।

काण्व आचार्य का मत

काण्व आचार्य के अनुसार पदपाठ में इति से परवर्ती सावग्रह पद का उत्तर पद अन्तोदात्त अथवा मध्योदात्त होने पर पूर्व पद अनुदात्त होता है।[1] तात्पर्य यह है कि यदि सावग्रह पद का उत्तर पद मध्योदात्त अथवा अन्तोदात्त हो तो काण्वानुयायियों के अनुसार पदपाठ में इति से बाद में स्थित उस सावग्रह पद का पूर्वपद अनुदात्त होता है। जैसे—द्रोणकलश इति द्रोण–कलशः (वा० सं० 18/21)। प्रस्तुत उदाहरण में द्रोणकलश सावग्रह पद है। इसका उत्तर पद कलश अन्तोदात्त है। पदपाठ में इति से बाद में द्रोणकलश—इस सावग्रह पद का पूर्वपद द्रोण अनुदात्त है। यह मत काण्वानुयायियों का है। माध्यन्दिनशाखियों के मत से तो वा० प्रा० 1/148 तथा प्रा० प्र० शि० 287 के अनुसार द्रोणकलश—इस सावग्रह पद का पूर्व पद द्रोण पूर्ववर्ती इति के साथ सन्धि प्राप्त करके संहिता के समान स्वर को प्राप्त करता है जिससे द्रोण पद के दोनों अक्षरों के अनुदात्त स्वर पूर्ववर्ती स्वरित के प्रभाव से प्रचय हो जाते हैं तथा उत्तर पद कलश अन्तोदात्त होने के कारण अपने प्रकृति स्वर से रहता है जिससे उसके प्रथम दो अक्षरों का अनुदात्त स्वर ज्यों का त्यों बना रहता है। इस प्रकार माध्यन्दिन शाखा वालों के अनुसार द्रोणकलश इति द्रोण-कलशः (वा० सं० 18/21)—यह रूप प्राप्त होता है। काण्व आचार्य के अनुसार अन्तोदात्त तथा मध्योदात्त से अन्य अर्थात् आद्युदात्त सावग्रह पद में इति से बाद वाले अनुदात्त प्रचय हो जाते हैं।[2] अर्थात् पदपाठ में इति से बाद वाले आद्युदात्त सावग्रह पद का उदात्त से

---

1. इतिपरस्तिर्यङ्नीचोऽन्तोदात्तं मध्योदात्ते पर्वणि काण्वस्य वा (वा० प्रा० 1/149, प्रा० प्र० शि० 288)

2. उदात्तमयोऽन्यत्र नीच एव (वा० प्रा० 1/150)

परवर्ती एक अनुदात्त स्वरित तथा अन्य प्रचय हो जाते हैं, जैसे—सोमगोपा इति में सोमगोपाः (वा० सं० 12/22)। इस उदाहरण में सोम-गोपा आद्युदात्त सावग्रह पद है। पदपाठ में इति से बाद में इस पद के उदात्त स्वर से परवर्ती एक अनुदात्त स्वरित तथा अन्य प्रस्तुत विधान वा० प्रा० 1/150 से प्रचय हो गये हैं।

पदपाठ में स्थितोपस्थित-विषयक विधान

वा० प्रा० तथा प्रा० प्र० शि० में पदपाठ के सन्दर्भ में स्थितपोपस्थित-विपयक विधान भी किये गये हैं। ये विधान पदावृत्ति के मध्य में आगम के रूप में विहित है जो इस प्रकार है—

(1) पदपाठ में चर्चा[1] बाद में होने पर प्रगृह्य संज्ञक पद इति से व्यवहित हो जाता है अर्थात् इति का आगम हो जाता है।[2] जैसे—अस्मे (वा० सं० 4/22) = अस्मे इत्यस्मे (पा० पा०)।

(2) अनिरुक्त (अर्थात् संहिता में जिसका रेफ स्वरूप ज्ञात नहीं हुआ है वह) रिफित विसर्जनीय वाला पद भी चर्चा बाद में होने पर इति से व्यवहित हो जाता है।[3] जैसे—पुनः प्राणः (वा० सं० 4/15) = पुनरिति पुनः। प्राणः (पा० पा०)।

यहाँ उल्लेखनीय है कि रिफित विसर्जनीय दो प्रकार का होता है—

(1) निरुक्त—जिसका रेफत्व रूप संहिता में स्पष्ट होता है वह निरुक्त रिफित विसर्जनीय कहा जाता है। जैसे—पुनर्मनः (वा० सं० 4/15) तथा

(2) अनिरुक्त—जिसका रेफ स्वरूप संहिता में स्पष्ट नहीं होता, वह अनिरुक्त रिफित विसर्जनीय कहलाता है। जैसे—पुनः प्राणः (वा० सं० 4/15)।

---

1. चर्चा को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार उवट का कथन है कि चर्चा शब्देन इतिकरणात्परतो यः तस्यैव पदस्य द्विरुक्तिः सोच्यते (वा० प्रा० 4/11 पर उवट)। अर्थात् इतिशब्द से बाद में जो उसी पद का दुबारा कथन होता है वह चर्चा कहलाता है। तात्पर्य यह है कि स्थितोपस्थित में पद के बाद इति रखकर उस पद का पुनर्कथन किया जाता है। वह इति शब्द के बाद दूसरी बार कहा गया पद चर्चा है।
2. प्रगृह्यं चर्चायामितिना पदेषु (वा० प्रा० 4/18)
3. रिफितं च संहितायामनिरुक्तम् (वा० प्रा० 4/19, प्रा० प्र० शि० 241)

प्रस्तुत विधान संहिता के अनिरुक्त रिफित विसर्जनीय के स्वरूप को पदपाठ में स्पष्ट करने के लिए किया गया है।

(3) पद का पुनर्कथन (पदावृत्ति) होने पर मध्य में इति का आगम हो जाता है।[1] तात्पर्य यह है कि वा० प्रा० के चार सूत्रों (4/21–24) तथा प्रा० प्र० शि० में पदपाठ में होने वाले पदों के पुनर्कथन का विधान किया गया है। उन पदों के पुनर्कथन के स्थलों पर दोनों के मध्य में इति का आगम हो जाता है। इस विधान को समझने के लिए पदपाठ में होने वाले पदों की आवृत्ति के स्थलों को जान लेना चाहिए। जो इस प्रकार है--

(क) क्रमपाठ के सन्दर्भ में कही गयी पदावृत्ति पदपाठ में भी होती है, सुपद और अवसाने--इनमें कहीं गयी पदावृत्ति को छोड़कर।[2] तात्पर्य यह है कि पूर्वस्योत्तरसहि (वा० प्रा० 4/190) से अवसाने च (वा० प्रा० 4/196) में क्रमपाठ के सन्दर्भ में होने वाली स्थितोपस्थित-विषयक पदावृत्ति का विधान किया गया है। जैसे—वा० प्रा० 4/194 में तथा प्रा० प्र० शि० 247 में यह कहा गया है कि प्रगृह्य संज्ञक पदों का क्रमपाठ में पूर्वोत्तरसन्धान के बाद स्थितोपस्थित (मध्य में स्थित इति के बाद पदावृत्ति) की जाती है।[3] जैसे—अमी (वा० सं० 13/8)=अमी इत्यमी (पा० पा०)। इन स्थितोपस्थित विषयक पदावृत्ति का विवेचन क्रमपाठ में किया जायेगा। इन विधानों में से सुपदे शाकटायनः (वा० प्रा० 4/191) और अवसाने च (वा० प्रा० 4/196) में कही गयी स्थितोपस्थित विषयक पदावृत्ति को छोड़कर अन्य पदावृत्तियाँ प्रस्तुत विधान वा० प्रा० 4/21 के अनुसार पदपाठ में भी होती है।

(ख) अनितावध्याये (वा० प्रा० 3/19)—इस सूत्र से प्रारम्भ करके तृतीय अध्याय की समाप्ति तक जिन पदों के मध्य में विकार अथवा आगम का विधान किया गया है उन पदों को पहले कहकर तत्पश्चात् उनकी आवृत्ति की जाती है।[4] जैसे—श्रेयस्करः (वा० सं० 10/28)=श्रेयस्करः। श्रेयः कर इति

1. पदावृत्तो चान्तरेण (वा० प्रा० 4/20)
2. क्रमोक्तावृत्तिः पदेषु। सुपदावसानवर्जम् (वा० प्रा० 4/12–22), प्रा० प्र० शि० 242
3. प्रगृह्ये (वा० प्रा० 4/194), प्रा० प्र० शि० 247
4. अनितावन्तर्विकारागमं प्रागुक्त्वा (वा० प्रा० 4/23), प्रा० प्र० शि० 284

श्रेय:कर: (प० पा०)। इस उदाहरण में पद के मध्य में विसर्जनीय का सकार हो गया है। अत: प्रस्तुत विधान के अनुसार पदपाठ में स्थितोपस्थित-विषयक पदावृत्ति हुई है।

(ग) विश्पतीव पद को भी पहले कहकर तत्पश्चात् उसकी आवृत्ति की जाती है।[1] जैसे—विश्पतीव (वा० सं० 33/44) = विश्पती इवेति विश्पती—इव (प० पा०)।

इन पदावृत्ति के स्थलों पर मध्य में इति रखकर स्थितोपस्थित पाठ किया जाता है।

पदपाठ में अवग्रह

अवग्रह शब्द "अव" उपसर्गपूर्वक ग्रह् धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है—पृथक्करण। भाष्यकार उवट ने वा० प्रा० 5/1 के भाष्य में अवग्रह का अर्थ बतलाते हुए कहा है कि दो पदों को अलग-अलग ग्रहण करना अवग्रह है।[2] इसके द्वारा पदों को अलग-अलग ग्रहण किया जाता है। वा० प्रा० में अवग्रह शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—(1) संज्ञा के अर्थ में सावग्रह पद के पूर्वपद के लिए और (2) सावग्रह पद के पृथक्करण के लिए। यहाँ अवग्रह शब्द का प्रयोग पृथक्करण अर्थ में किया गया है। पदपाठ में समास तथा कतिपय प्रकृति-प्रत्यय को स्पष्ट करने के लिए सावग्रह पद का पृथक्करण कर दिया जाता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वाजसनेयिसंहिता में सावग्रह पद का भी स्थितोपस्थित के रूप में ही पाठ होता है। स्थितोपस्थित में पढ़े जाने वाले इति से बाद में पुनरुच्चारित सावग्रह पद को अलग-अलग कर दिया जाता है। इसी अलगाव को अवग्रह कहा जाता है।

अवग्रह में मध्यावकाश-काल

स्थितोपस्थित में इति के बाद पुनर्कथित सावग्रह पद का पृथक्करण करने के बाद उन पृथक् किये गये पूर्व तथा उत्तर पद के उच्चारण के मध्य में उच्चारणकाल का थोड़ा सा व्यवधान हो जाता है जिसे अवग्रह-काल कहा जाता है। वा० प्रा० तथा प्रा० प्र० शि० में अवग्रह-काल को निर्धारित करते हुए कहा गया है कि वह पृथक्करण ह्रस्व स्वर के उच्चारण-काल के समान काल वाला

1 विश्पतीवेति च (वा० प्रा० 4/24), प्रा० प्र० शि० 285
2. द्वयो: पदयो: पृथग्ग्रहणमवग्रह: (वा० प्रा० 5/1 पर उवट)

होता है।[1] अर्थात् पृथक्करण होने पर पूर्व तथा उत्तर पद के उच्चारण में ह्रस्व स्वर के समान उच्चारण-काल का व्यवधान होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ह्रस्व स्वर का उच्चारण काल एक मात्रा है। अतः अवग्रह-काल भी एक-मात्रा काल वाला होगा।

अवग्रह के स्थल

वा० प्रा० तथा प्रा० प्र० शि० में विहित अवग्रह के स्थल इस प्रकार हैं–

(1) समास-पदों में पृथक्करण (अवग्रह) होता है।[2] भाष्यकार उवट ने समास का लक्षण करते हुए कहा है कि दो अथवा दो से अधिक पदों का वह समूह समास कहलाता है जो परस्पर आकाङ्क्षा से सम्वद्ध होते हैं। यह समास चार प्रकार का होता है—(1) अव्ययीभाव, (2) तत्पुरुप, (3) द्वन्द्व तथा (4) वहुव्रीहि। उनमें पूर्वपद की प्रधानता वाला समास अव्ययी-भाव होता है।[3] जैसे—विरूपम् अनुरूपम् इत्यादि। उत्तरपद की प्रधानता वाला समास तत्पुरुष होता है।[4] जैसे—अधशंस, व्रतपते इत्यादि। उभयपद प्रधान समास द्वन्द्व होता है।[5] जैसे—अग्नीषोमौ, इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ इत्यादि। अन्यपद-प्रधान बहुव्रीहि होता है।[6] जैसे—कृष्णग्रीवाः, अनमीवाः इत्यादि। इन चार प्रकार के समासों में अवग्रह होता है। जैसे—विपुरूपमिति विपुरूपम् (प० पा०)=विपुरूपम् (वा० सं० 6/20)।

(2) दक्षिण पद समीप में न होने पर उत्कर्प के वाचक तर और तम पद को पूर्वपद से अलग किया जाता है।[7] जैसे—पूर्णतरम् (वा० सं० 18/10)= पूर्णतरमितिपूर्णं तरम् (प० पा०)। वह्लितमम् (वा० सं० 1/8 = वह्लितममिति वह्लि-तमम् (प० पा०)।

---

1. समासेऽवग्रहः (वा० प्रा० 5/1), ह्रस्वसमकालः प्रा० प्र० शि०, 249
2. समासेऽवग्रहः (वा० प्रा० 5/1) प्रा० प्र० शि० 249
3. पूर्वपदप्रधानोऽव्ययीभावः, यथा—विरूपम्, अन्तःपदम्, अनुरूपम्। वा० प्रा० 5/1 पर उवट
4. उत्तरपदप्रधानस्तत्पुरुषः, यथा—अघशंसः, व्रतपते, वहीं
5. उभयपदप्रधानो द्वन्द्वः यथा—अग्नींषोमौ, इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ। वही
6. अन्यपदप्रधानो बहुव्रीहिः, यथा—अनमीवाः, कृष्णग्रीवाः, शितिकक्षः। वही
7. तरतमयोश्चातिशये दक्षिणप्रत्यासङ्गे (वा० प्रा० 5/2, प्रा० प्र० शि० 250)।

(3) वीतम, हुतम, सुतम, गोपातम, रत्नधातम और वसुधातम—ये पद तम के पूर्वपद के साथ अलग किये जाते हैं।[1] जैसे—देववीतम (वा० सं० 11/37)=देववीतम इति देव-वीतम (प० पा०) इत्यादि।

(4) सर्पदेवजनेभ्यः पद में पूर्वपद से पृथक्करण होता है।[2] जैसे—सर्पदेव-जनेभ्यः (वा० सं० 30/8)=सर्पदेवजनेभ्य इति सर्प-देवजनेभ्यः (प० पा०)।

(5) तूणवध्मम् में उत्तरपद से पृथक्करण होता है।[3] जैसे—तूणवध्वम् (वा० सं० 30/19)=तूणवध्वमिति तूणव-ध्वम् (प० पा०)।

(6) रायस्पोषदे और विजावा में भी उत्तरपद से पृथक्करण होता है।[4] जैसे—रायस्पोषदे (वा० सं० 5/1)=रायस्पोषद इति रायस्पोष-दे (प० पा०)। विजावा (वा० सं० 12/51)=विजावेति विजा-वा (प० पा०)।

(7) अनेक पदों वाले समास-रचना के समय बाद में आने वाले पद से पृथक्करण होता है।[5] जैसे—प्रजाप्रतिः (वा० सं० 31/10)=प्रजापतिरिति प्रजा पतिः (प० पा०)। इस उदाहरण में तीन पद हैं—प्र-जा-पतिः। इस प्रजा-पतिः समस्तपद में समास रचना-क्रम के अनुसार उत्तरपद पतिः है अतः प्रस्तुत विधान से पति पद को पृथक् किया गया है। प्रजापतिगृहीतया (वा० सं० 13/39)=प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापति-गृहीतया (प० पा०)। यहाँ पहले प्र और जा समास होकर प्रजा, पुनः प्रजा और पति का समास होकर प्रजापति का रूप बना है। अन्त में प्रजापति और गृहीतया के बीच समास हुआ है। अतः यहाँ भी अन्तिम इकाई गृहीतया से पृथक्करण होता है। सुप्रजाः (वा० सं० 3/37)=सुप्रजा इति सु-प्रजाः (प० पा०)। यहाँ पहले प्र और जा में तत्पश्चात् सु और प्रजा में समाज होता है। सु प्रजा—इस पद में यद्यपि सु का उच्चारण क्रम पहले समास-रचना में उसका स्थान बाद होने से प्रयुक्त नियम के अनुसार इससे ही पृथक्करण होता है।

(8) मत्वर्थीय तद्धित बाद में होने पर पृथक्करण होता है यदि सम्बद्ध पद

---

1. वीतमहूतम············वसुधातम पूर्वेण (वा० प्रा० 5/3, प्रा० प्र० शि० 251)
2. सर्पदेवजनेभ्यश्च (वा० प्रा० 5/4, प्रा० प्र० शि० 252)
3. तूण्वध्वमुत्तरेण (वा० प्रा० 5/5, प्रा० प्र० शि० 253)
4. रायस्पोषदे विजावेति च (वा० प्रा० 5/6, प्रा० प्र० शि० 254)
5. बहुप्रकृतावागन्तुना पर्वणा (वा० प्रा० 5/7, प्रा० प्र० शि० 255)

व्याकरण (न्याय) के अनुसार निष्पन्न हो।[1] जैसे—मधुमत् (वा० सं० 13/26) =मधुमदिति मधु-मत् (प० पा०)।

(9) शस्, त्वम्, त्रा और ताति—ये बाद में होने पर पृथक्करण होता है।[2] जैसे—ऋतुशः (वा० सं० 23/50)=ऋतुश इति इत्यृतु-शः (प० पा०) इत्यादि।

(10) धातु का अर्थ रखने वाला यकार बाद में होने पर स्वरान्त प्रातिपदिक से पृथक्करण होता है।[3] जैसे--वृषायमाणः (वा० सं० 20/29)।=वृषायमाण इति वृष-यमाणः (प० पा०)।

(11) ह्रस्व स्वर से बाद में स्थित भूतकालिक अर्थ का वाचक सम्प्रसारण द्वारा उस रूप में न होने पर पृथक्करण होता है।[4] जैसे--जक्षिवांस इति जक्षिवांसः (वा० सं० 8/19)।

(12) प्रत्न, पूर्व, विश्व, इम और ऋतु--इनसे बाद में स्थित था से पृथक्करण होता है।[5] जैसे--प्रत्नथा (वा० सं० 7/11)=प्रत्नथेतिप्रत्न-था (प० पा०) इत्यादि।

(13) ह्रस्व स्वर और व्यञ्जन से बाद में यदि भकार से प्रारम्भ होने वाला विभक्ति प्रत्यय हो तो उसका पृथक्करण होता है।[6] जैसे--तक्षभ्यः (वा० सं० 16/27)=तक्षभ्य इति तक्ष-भ्यः (प० पा०) इत्यादि।

(14) मूर्धन्यभाव (नति) को प्राप्त न हुआ सप्तमी विभक्ति के सु का पृथक्करण होता है, यदि वह सु ह्रस्व स्वर अथवा व्यञ्जन से बाद में हो।[1] जैसे--अप्सु (वा० सं० 12/13)=अप्स्वित्यप्-सु (प० पा०)।

---

1. तद्वति तद्धिते न्यायसंहितं चेत् (वा० प्रा० 5/8)।
2. शस्त्वन्त्राताातिषु च (वा० प्रा० 5/9, प्रा० प्र० शि० 257)।
3. धात्वर्थे यकारे स्वरपूर्वे (वा० प्रा० 5/10, प्रा० प्र० शि० 258)।
4. वासो च भूतकाले स्वरेण ह्रस्वादनुषि (वा० प्रा० 5/11,) (प्रा० प्र० शि० 259)
5. प्रत्नपूर्वविश्वेमर्तुभ्यस्था (वा० प्रा० 5/12, (प्रा० प्र० शि० 260)
6. ह्रस्वव्यञ्जनाभ्यां भकारादौ विभक्तिप्रत्यये (वा० प्रा० 5/13, (प्रा० प्र० शि० 261)
1. स्विति चानतौ (वा० प्रा० 5/14)

(15) वर्ण वाचक और संज्ञा वाचक के समस्त पदों का विकल्प से पृथक्करण होता है।[1] जैसे—धूम्ररोहितः (वा० सं० 24/2)=धूम्ररोहित इति धूम्ररोहितः (प० पा०)=पञ्चदश (वा० सं० 18/24)=पञ्चदशेति पञ्च-दश (प० पा०)।

(16) अनुदात्त उपसर्ग से परवर्ती क्रिया पद का पृथक्करण होता है।[2] जैसे—उपस्तृणन्ति (वा० सं० 25/39)=उपस्तृणन्तीति उपस्तृणन्ति (प० पा०)।

(17) त्र और श बाद में होने पर गिरि पद से पृथक्करण होता है।[3] जैसे—(वा० सं० 16/3)=गिरित्रेति गिरि–त्र (प० पा०)। गिरिश (वा० सं० 16/4)=गिरिशेति गिरि–श (प० पा०)।

(18) इव, कार, द्विरुक्त (आम्रेडित) पद और अयन बाद में होने पर पृथक्करण होता है।[4] जैसे—स्रुचीव (वा० सं० 20/70)=स्रुचीवेति स्रुचि–इव (प० पा०) इत्यादि।

(19) एक पद से परवर्ती समीची पद में पृथक्करण होता है।[5] जैसे—एकम् समीची (वा० सं० 12/2)=एकम्। समीची इति सम्–ईची (प० पा०)।

(20) त्वायवः, शंयोः, बहिर्धा, अस्मयुम्, मृण्मयीम्ः सुम्नया, आयुधा, साध्या, धृष्णुया, विशालम् और अनुया—इन पदों में पृथक्करण होता है।[6] जैसे—त्वायवः (वा० सं० 20/18)=त्वायव इति त्वा–यवः (प० पा०) इत्यादि।

(21) मृगयुम्, उभयादतः, अपामार्ग और किम्पूरुषम्—इन पदों में पृथक्करण होता है।[7] जैसे—मृगयुम् (वा० सं० 30/5)=मृगयुमितिमृग–युम् (प० पा०) इत्यादि।

---

1. वर्णसङ्ख्येऽन्यतरतः (वा० प्रा० 5/15, प्रा० प्र० शि० 263)
2. अनुदात्तोपसर्गे चाख्याते (वा० प्रा० 5/16, प्रा० प्र० शि० 264)
3. गिरित्रशयोः (वा० प्रा० 5/17) (प्रा० प्र० शि० 265)
4. इवकाराम्रेडितायनेषु च (वा० प्रा० 5/18, प्रा० प्र० शि० 266)
5. एकात्समीची (वा० प्रा० 5/19, प्रा० प्र० शि० 267)
6. त्वाध्यवः···विशालमनुया (वा० प्रा० 5/20, प्रा० प्र० शि० 269)
7. मृगयुमुभयदतोऽपामार्गं किम्पुरुषमिति च (वा० प्रा० 5/21, प्रा० प्र० शि० 269)

(22) जातूकर्ण्य आचार्य के मतानुसार पारावतान् और अग्निमारुताः इन पदों में पृथक्करण होता है।[1] जैसे—पारावतान् (वा० सं० 24/25)= पारावतानितिपारा-वतान् (प० पा०)। अग्निमारुत्ताः (वा० सं० 24/7)= अग्निमारुत्ता इत्यग्नि-मारुत्ताः (प० पा०)।

(23) कतिपय आचार्यों के अनुसार अधीवासम् पद में पृथक्करण होता है।[2] जैसे—अधीवासम् (वा० सं० 25/37)=अधिवासमित्यधि-वासम् (प० पा०)।

अवग्रह के अपवाद

(1) निषेधार्थक नञ् समास में अवग्रह नहीं होता।[3] जैसे–अरक्षसा (वा० स० 11/21)=अरक्षसा (प०पा०)। यह वा० प्रा० 5/1 का अपवाद है।

(2) निषेधार्धक नञ् निपात के उत्तर-वर्ती आकार पदादि वाले पद के साथ हुए समास में पृथक्करण नहीं होता।[4] जैसे—अनातताय (वा०सं० 16/14) अनातताय (प० पा०)। यह वा० प्रा० 5/1 का अपवाद है।

(3) द्वा पूर्वपद है जिसका ऐसे समास में पृथक्करण नहीं होता।[5] जैसे—द्वादश (वा० सं० 14/18)=द्वादश (प० पा०)। यह वा० प्रा० 5.15 का अपवाद है।

(4) संख्यावाची पूर्वपद है जिसका ऐसे "धा" उत्तरपद वाले समास में पृथक्करण नहीं होता।[6] जैसे—अष्टधा (वा० सं० 5.55)=अष्टधा (प० पा०) यह वा० प्रा० 515 का अपवाद है।

(5) स्वरान्त पूर्वपद है जिसका ऐसे द्विवचन वाले द्वन्द समास में पृथक्करण नहीं होता।[7] जैसे—मित्रावरुणा (वा० सं० 7.8) =मित्रावरुण (प० पा०)। यह वा० प्रा० 5.1 का अपवाद है।

---

1. पारावतानाग्निमारुताश्चेति जातूकर्ण्यस्य (वा० प्रा० 5/22)
2. अधीवासमित्येके (वा० प्रा० 5/23, प्रा० प्र० शि० 270)
3. प्रत्तिषेधे नावग्रहः (वा० प्रा० 5/24, प्रा० प्र० शि० 271)
4. उत्तरेण चाकारेण (वा० प्रा० 525, प्रा० प्र० शि० 272)
5. द्वापूर्वम् (वा० प्रा० 3/26) प्रा० प्र० शि० 273
6. संख्यापूर्वश्च धा (वा० प्रा० 9/27, प्रा० प्र० थि० न74)
7. द्वन्द्वानि द्विवचनान्तानि स्वरान्तानि स्वरान्तपूर्वपदानि (वा० प्रा० 5/28, प्रा० प्र० शि० 275)

(6) एकाक्षर पूर्वपद को तद्धित सम्बन्धी वृद्धि आदेश होने पर अव्यवहित उत्तरपद से पृथक्करण नहीं होता।[1] जैसे—त्रैष्टुभेन (वा० सं० 1।।7)= त्रैस्तुभेनेति त्रैस्तुभेन (प० पा०)। यहाँ त्रैष्टुभेन पद छान्दस् विकारयुक्त पद है। अतः इसके छान्दस् विकार-रहित शुद्ध स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए पदपाठ में इतिकरण सहित पाठ किया गया है। संहिता में जिस तद्धित वृद्धि वाले पदों का छान्दस् विकार नहीं होता उसमें अवग्रह और इतिकरहण सहित पाठ—ये दोनों नहीं होते। जैसे—सौभाग्यम् (वा० सं० 20।8)=सौभाग्यम् (प० पा०)।

(7) उरु और सु पूर्व में न होने पर कृत् प्रत्यय का लोप हो गया है जिसके ऐसे अञ्च और सह धातु के पद से बने समास में पृथक्करण नहीं होता।[2] अर्थात् कृत्यप्रत्यय में क्विप्, क्विन् इत्यादि ऐसे प्रत्यय हैं जिनका विधानतः लोप हो जाता है। प्रत्यय के लोप से निष्पन्न अञ्च् और सह् धातु के पद से जो समास पद होता है उसका पृथक्करण नहीं होता। जैसे—प्राङ् (वा० सं० 19/2) - प्राङ् (प० पा०)। यह वा० प्रा० 5/1 का अपवाद है।

(8) सम् और इदा के पूर्वपद तथा वत्सरः के उत्तरपद होने पर पृथक्करण नहीं होता।[3] जैसे—सवंत्सरः (वा० सं० 27/45)=संवत्सरः (प० पा०)। इदावत्सरः (वा० सं० 27/45)।

(9) प्र और अग्नि के साथ इन्ध को छोड़कर अन्य शब्द की प्रश्लिष्ट सन्धि होने पर पृथक्करण नहीं होता है।[4] जैसे—प्राण (वा० सं० 18/12)= प्राणः (प० पा०)। आग्नीध्रम् (प० पा०) = आग्नीध्रम् (वा० सं० 19/18)।

(10) पाङ्त्रान्, उद्द्रुः और व्रभ्राय—इन पदों के पूर्व और उत्तरपद में सन्देह होने से पृथक्करण नहीं होता।[5] जैसे—पाङ्त्रान् (वा० सं० 24/26)= पाङ्त्रान् (प० पा०) इत्यादि। पाङ्त्रान् में पच् धातु का पूर्वपद एवं त्रा धातु का उत्तरपद अथवा पा धातु का पूर्वपद एवं तन् धातु का उत्तरपद है—यह संशय है। उसी प्रकार उद्द्रुः में उत् शब्द पूर्वपद एवं द्रु धातु का उत्तर पद है अथवा

---

1. तद्धिते चैकाक्षरवृद्धावनिहिते (वा० प्रा० 5/9, प्रा० प्र० शि० 276)
2. अञ्चतिसहत्योः कृल्लोपे। अनुरुसुभ्याम् (वा० प्रा० 5/30-31, प्रा० प्र० शि० 277-78)
3. समिदाभ्यां वत्सरः (वा० प्रा० 5/32, प्रा० प्र० शि० 279)
4. प्राग्निभ्यामनिन्धौ प्रश्लेषे (वा० प्रा० 5/33, प्रा० प्र० शि० 280)
5. पाङ्त्रानुद्द्रो व्रभाय संशयात् (वा० प्रा० 5/34)

उत् पूर्वपद एवं रा धातु का उत्तर-पद है—यह संशय है। इसी प्रकार अभ्र में अप् शब्द पूर्वपद भ्रु धातु का उत्तर पद है अथवा अभ् धातु (गत्यर्थक) का ही रूप है—इसमें सन्देह के कारण इन पदों में पृथक्करण नहीं होता।

(11) जनयत्यै, ओषधयः, वृषायिषत, नहि, चन, अस्मभ्यम्, अजावयः और बलगम्—इन पदों का पृथक्करण नहीं होता।[1] जैसे—जनयत्यै (वा० सं० 1/22) = जनयत्यै (प० पा०) इत्यादि।

(12) अश्वमेध प्रकरण (वा० सं० 22–25 एवं 29 अध्याय) को छोड़कर अन्यत्र "समान" शब्द में पृथक्करण नहीं होता।[2] जैसे—समानः (वा० सं० 5/23) = समानः (प० पा०)।

(13) वायुः, असजातः, समुद्रम्, अहोरात्रे, विश्वानरः, विश्वाहा, आग्रयण, असपत्नाः, गोधा, गोधूमाः, आशुशुक्षणिः, न्यग्रोधः, पुरोडाशः, प्रावणेभिः, अशीतम्, तस्कराः, मस्मसा, अश्वत्थे, उपस्तिः, माकिः, विश्वामित्रः, गोपाम्, प्रउगम, अङ्गानि, कक्षीवन्तम्, अदधात्, पत्नीरवत, नीहारेण प्रावृता, घ्नाघ्नः, ईदृङ्, चान्यादृङ्, शूघनासः, कुयवम्, कुचरः, प्रियङ्गवः, नीवाराः, एकादश, षोडश, चन्द्रमाः, आयुवः, व्याघ्रः, अनड्वान्, गविष्ठिरः, कुपर्दिने, पुलस्तये, निषङ्गिणे, कुलालेभ्यः, कर्मारेभ्यः, पुञ्जिष्ठेभ्यः, द्वीप्याय, नीप्याय, किंशिलाय, ऐलबृदाः, शूकराय, सुकृताय, चराचरेभ्यः, पारावतान्, गोलत्तिका, आखुः, अजगरः, विपन्यवः, दाक्षायणा, आयुधम्, सुरामम्, बृहस्पतिः, वनस्पतिः, नराशंसः, सुरभिः, नरिष्ठायै—इन पदों में पृथक्करण नहीं होता।[3] जैसे—वायुः (वा० सं० 36/44) = वायुः (प० पा०) इत्यादि।

(14) उत्तम्भनम् इत्यादि पदों में उत्तरपद के आदि में संशय होने से पृथक्करण नहीं होता।[4] जैसे—उत्तम्भनम् (वा० सं० 4/36) = उत्तम्भनम् (प० पा०)। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भाष्यकारों ने उत्तम्भनम् इत्यादि से उत्तम्भनम् उत्थाय, उत्थिताय का ग्रहण किया है। इन तीनों पदों में पाणिनि के अनुसार क्रमशः उत्स्तम्भनम्, उत्स्थाय और उत्स्थिताय की स्थिति में सकार का पूर्वरूप तकार हुआ है जबकि उत्तम्भनम् में वा० प्र० 4/99 के अनुसार सकार का

---

1. जनयत्या औषध्यो वृषायिभत नहि चनागमभ्यमजावयो बलगम्
(वा० प्रा० 5/35) । प्रा० प्र० शि० 281
2. समानोऽनश्वमेधे (वा० प्रा० 5/36, प्रा० प्र० शि० 282)
3. वायुरसजातः'''सुरभिर्नरिष्ठायै (वा० प्रा० 5/37, प्रा० प्र० शि० 283)
4. उत्तम्भनादीन्यादिसंशयात् (वा० प्रा० 5/38)

लोप हो गया है।[1] फलतः सकारादि का करना या न करना—यह संशय है। इसी संशय से पृथक्करण का निषेध किया गया है। इसी प्रकार उत्थाय और उत्थिताय में भी समझना चाहिए।

(15) विशौजाः पद में व्याकरण-सिद्ध समास न होने से पृथक्करण नहीं होता है।[2] जैसे—विशौजाः (वा० सं० 10/28) = विशौजा (प० पा०)।

(16) दित्योही, तुर्योही, षष्ठोही और हृदयोपशेन—इन पदों में व्याकरण-सिद्ध रूप न होने से पृथक्करण नहीं होता।[3] जैसे—दित्योही (वा० सं० 18/26) = दित्योही (प० पा०) इत्यादि।

(17) दुष्टरः, विष्टरः, विष्टपः, विष्टम्भः और विष्टम्भनीम्—इन पदों में पृथक्करण नहीं होता।[4] जैसे—दुष्टरः (वा० सं० 9/37)=दुस्तर इति दुस्तरः (प० पा०) इत्यादि।

(18) अवध्यम्, उगणाः, उखे, इष्कृतिः, इष्कर्तारम् और उदरम्—इन पदों में उपसर्ग के एकदेश (एक भाग) का लोप होने के कारण पृथक्करण नहीं होता।[5] जैसे—अवध्यम् (वा० सं० 19/83) = अवध्यम् (प० पा०) इत्यादि।

(19) संस्कृतम्, संस्कृतिः, मॉस्पचन्याः और पुंश्चलूम्—इन पदों में उपधा के अनुनासिक होने से पृथक्करण नहीं होता।[6] जैसे—सँस्कृतम् (वा० सं० 4/34) =सँस्कृतम् (प० पा०) इत्यादि।

(20) उपर्युक्त संस्कृतम्, संस्कृतिः, मांस्पचन्याः और पुंश्चलूम्—पदों में अनुस्वारागम होने से भी अवग्रह (पृथक्करण) नहीं होता। यह कतिपय आचार्यों का मत है।[7] जैसे—संस्कृतम् (वा० सं० 4/34) = संस्कृतम् (प० पा०) इत्यादि।

---

1. उदः स्तभाने लोपम् (वा० प्रा० 4/99)
2. विशौजा इत्यन्यायसमासात् (वा० प्रा० 5/39)
3. दित्योही, तुर्योही, पष्ठोही हृदयोपशेनेति च (वा० प्रा० 5/40)
4. दुष्टरो विष्टरो विष्टपो विष्टम्भो विष्टम्भनीम् (वा० प्रा० 5/41)
5. अवध्यमुगणा उख इष्कृतिरिष्कर्त्तारमुदरमित्युपसर्गैकदेशलोपात् (वा० प्रा० 5/42)
6. सँस्कृतं सँस्कृतिमाँस्पचन्या पुंश्चलूमित्यनुनासिकोपधत्वात्। (वा० प्रा० 5/43)
7. अनुस्वारागमत्वादित्येके (वा० प्रा० 5/44)

(21) परीत्तः, अवत्तानाम्, सुविताय और सग्धिः—पदों में पृथक्करण नहीं होता।[1] उवट के अनुसार परीत्तः, अवत्तानाम् और सग्धिः में धातु के एक देश का लोप होने से तथा सुविताय में धातु का संशय होने से पृथक्करण का निषेध किया गया है। जैसे—परीत्तः (वा० सं० 9/9)=परीत्तः (प० पा०) इत्यादि।

सङ्क्रम

सङ्क्रम[2] को समझने के लिए पहले गलत्पद और अगलत्पद को जान लेना आवश्यक है। त्रिपदाद्यावर्त्तमाने सङ्क्रमः (वा० प्र० 4/168, प्रा० प्र० शि० 296) इत्यादि विधानों के अनुसार विहित कतिपय पद या पदसमूह संहितापाठ में जब दो या दो से अधिक बार आता है तब प्रथम स्थल को छोड़कर अन्यत्र उसे गलत्पद कहते हैं। इन गलत्पदों से अन्य पद अगलत्पद कहे जाते हैं। वा० प्रा० 4/168 तथा प्रा० प्र० शि० 296 इत्यादि विधानों के अनुसार इन पदों को शुक्लयजुर्वेद-संहिता के पदपाठ तथा क्रमपाठ में नहीं पढ़ा जाता। पदपाठ तथा क्रमपाठ में इन गलत्पदों को छोड़ देना ही सङ्क्रम कहा जाता है। भाष्यकार उवट के अनुसार गलत्पदों को छोड़कर अगलत्पदों के साथ सन्धान (सन्धि) करना सङ्क्रम कहलाता है।[3] उवट के इस लक्षण से यह प्रतीत होता है कि सङ्क्रम का यह लक्षण क्रमपाठ को दृष्टि में रखकर ही किया गया है क्योंकि पदपाठ में संहितागत पदों की अग्रवर्ती पद के साथ सन्धि नहीं प्राप्त होती। पूर्वोत्तरपद-सन्धान क्रमपाठ में ही किया जाता है; किन्तु यह सङ्क्रम-विषयक विधान पदपाठ तथा क्रमपाठ दोनों में ही प्राप्त होते हैं।

सङ्क्रम के स्थल

(1) संहिता में तीन या तीन से अधिक पदों की पुनरुक्ति होने पर पद-पाठ में प्रथम स्थल को छोड़कर अन्यत्र पुनरुक्ति के स्थल पर उनका सङ्क्रम होता है।[4] जैसे—प्रथम बार संहिता में आया पद समूह—वयं स्याम पतयो रयीणाम्

1. परीत्तोऽवत्तानां सुविताय सग्धिरिति (वा० प्रा० 5/45)
2. सङ्क्रम शब्द सम् उपसर्गपूर्वक क्रम् धातु से निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है—अतिक्रमण करना। गलत्पदों का अतिक्रमण करके (छोड़कर के) पदपाठ अथवा क्रमपाठ किया जाता है अतः सङ्क्रम कहा जाता है।
3. आवर्त्तमानानि पदानि अतिक्रम्यानावर्त्तमानेन पदेन सह सन्धिःसङ्क्रमः। (वा० प्रा० 4/16 पर उवट)
4. त्रिपदाद्यावर्त्तमाने सङ्क्रमः (वा० प्रा० 4/168, प्रा० प्र० शि० 296)

(वा० सं० 10/20)=वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् (प० पा०) । पुनरुक्ति होने पर "वयं स्याम पतयो रयीणाम्" (वा० सं० 19/54) यहाँ पदपाठ में इस पदसमूह का सङ्क्रम हो जाता है।

(2) एक अनुवाक में एकपद या दो पदों का समूह भी जब तीन या तीन से अधिक बार आते हैं तब प्रथम स्थल को छोड़कर अन्यत्र (पुनरुक्ति के स्थल पर) सङ्क्रम होता है।[1] जैसे—वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे (वा० सं० 18/1)=वाजः । च । मे । प्रसव इति प्र-सवः । प्रयतिरिति प्र-यतिः । प्रसितिरिति प्र-सितिः (प० पा०) । यहाँ संहिता में "च मे"—इन दो पदों की एक ही अनुवाक में कई बार पुनरुक्ति हुई है। अतः प्रस्तुत विधान के अनुसार प्रथम स्थल को छोड़कर अन्यत्र (पुनरुक्ति के स्थल पर) सङ्क्रम हुआ है।

(3) गूढ अर्थात् मन्त्रस्वरूप एवम् अर्थ की पूर्ति के लिए अनुषङ्ग से प्राप्त (प्रच्छन्न, अव्यक्त किन्तु विवक्षित) पुनरुक्त पद में सङ्क्रम होता है।[2] जैसे-- इयं ते राडयन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि वरुणः (वा० सं० 9/22)=इयम् । ते । राट । यन्ता । असि । यमनः । ध्रुवः । वरुणः (प० पा०) । यहाँ संहिता में असि पद दो बार आया है किन्तु मन्त्रस्वरूप तथा अपेक्षित अर्थ की पूर्ति के लिए यमनः और वरुणः के साथ असि पद अनुषङ्ग से प्राप्त होता है। अतः प्रथम स्थल को छोड़ कर द्वितीय पुनरुक्ति के स्थल पर असि का सङ्क्रम हो जाता है।

प्रस्तुत उदाहरण में एक ही अनुवाक में असि पद केवल दो बार आया है। अतः पूर्ववर्ती त्रिरावृत्ते (वा० प्रा० 4/175) से यहाँ सङ्क्रम की प्राप्ति नहीं होती। प्रस्तुत विधान के अनुसार मन्त्रस्वरूप तथा अर्थ की प्राप्ति के लिए अनुषङ्ग से प्राप्त असि की पठित असि के साथ गणना हो जाने से असि पद की तीन बार पुनरुक्ति हो जाता है। अतः प्रथम स्थल को छोड़ कर द्वितीय पुनरुक्त असि का सङ्क्रम हो जाता है। एक या एक से अधिक पदों की बहुत बार आवृत्ति होने पर आवृत्ति के स्थलों में सङ्क्रम होता है।[3] जैसे—नमो बाहवे सेनान्यै

1. द्विपदेकपदान्यप्यनुवाके । त्रिरावृत्ते (वा० प्रा० 4/169, 175)
प्रा० प्र० शि० 298, 299

2. गूढे (वा० प्रा० 4/176, प्रा० प्र० शि० 300)

3. पदसमूहे (वा० प्रा० 4/177, प्रा० प्र० शि० 301)

दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यः हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः (वा० सं० 16/17) हिरण्यबाहव इति हिरण्य–बाहवे। सेनान्य इति सेनान्यै। दिशाम्। च। पतये। वृक्षेभ्यः। हरिकेशेभ्य इति हरि–केशेभ्यः। पशूनाम्। (प० पा०)।

प्रस्तुत उदाहरण में नमः पद वाजसनेयि-संहिता के सोलहवें अध्याय में बहुत बार आवृत्त हुआ है। अतः आवृत्ति के स्थलों पर नमः पद में सङ्क्रम हो जाता है। पतये पद को भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

(5) संहिता में मन्त्रप्रतीक के रूप में आवृत्त हुए मन्त्रांशों का सङ्क्रम होता है।[2] जैसे—लोकन्ता इन्द्रम् (वा० सं० 12/54)। पदपाठ में इसका सङ्क्रम हो जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शुक्लयजुर्वेद की संहिताओं में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ याज्ञिक प्रयोग की दृष्टि से संहिता में पहले किसी स्थल पर पूर्णरूपेण उपदिष्ट मन्त्रों का केवल संकेत मात्र पाठ किया रहता है जिसका उद्देश्य उन-उन मन्त्रों का वहाँ पूर्ण पाठ करना होता है। जैसे—वाजसनेयिसंहिता में लोकन्ता इन्द्रम् (वा० सं० 13/58, 14/10 आदि स्थलों के) अंश में तीन मन्त्रों के—लोकम्पृणाच्छिद्रम्पृणा (वा० सं० 12/54); ता अस्य सूददोहसः (वा० सं० 12/55) और इन्द्र विश्वा (वा० सं० 12/56) के प्रतीक रूप में निर्देश किया गया है। प्रतीक के रूप में निर्दिष्ट मन्त्रों को यहाँ पूर्णतः पाठ होता है। प्रस्तुत विधान के अनुसार पदपाठ में इन मन्त्र-प्रतीकों को सङ्क्रम होता है।

सङ्क्रम के लिए अनिवार्य परिस्थितियाँ

उपर्युक्त स्थलों पर सङ्क्रम तभी होता है जब उन स्थलों पर अधोलिखित सभी परिस्थितियाँ उपलब्ध हों—

(1) अव्यवधानता

प्रथम स्थल पर आये हुए अथवा पदसमूह से व्यवधान-रहित (अव्यवहित) पुनरुक्त पद अथवा पदसमूह का सङ्क्रम होता है।[2] भाष्यकार उवट ने सूत्र में प्रयुक्त अनन्तर शब्द का व्यापक अर्थ किया है। उसके अनुसार अव्यवधानता दो प्रकार की हो सकती है—

---

1. संहितायाम (वा० प्रा० 4/178, प्रा० प्र० शि० 306)
2. अनन्तरे (वा० प्रा० 4/170, प्रा० प्र० शि० 279)

(क) शब्दकृत

यह वह अव्यवधानता है जिसमें पद या पदसमूह संहिता में विना किसी शब्द के व्यवधान के पुनरुक्त होते हैं।

(ख) अर्थंकृत

यह वह अव्यधानता है जिसमें समानार्थक पद या पदसमूहों को पुनरावृत्ति होती है।

समान अर्थं वाले वे पद या पदसमूह संहिता में अन्य पदों से अव्यवहित हो अथवा व्यवहित, किन्तु पुनरुक्ति होने पर पूर्वोक्त अर्थं बुद्धि में आ जाता है।

इन दोनों प्रकार की अव्यवधानता में से किसी एक के होने पर सङ्क्रम हो जाता है। शब्दकृत अव्यवधानता जैसे—हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि (वा० सं० 1/15) = हविष्कृत् । हविष्कृदिति हविः—कृत् । आ । इहि (प० पा०) । यहाँ संहिता में हविष्कृदेहि—यह पदसमूह क्रम से दो बार आया है। दो-तीन बार पठित हविष्कृदेहि—पद-समूह का सङ्क्रम हो गया है। अर्थंकृत अव्यवधानता जैसे—गन्धर्वस्त्वा विस्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्टये यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिक्त ईळितः इन्द्रस्य बाहुः असि दक्षिणः मित्रावरुणो त्वा (वा० सं० 2/3)= गन्धर्वः । ईशः । इळितः । इन्द्रस्य । बाहुः । असिः । दक्षिणः । मित्रावरुणौ । त्वा । उत्तरतः । परिधिरस्यग्निरिड्इळितः—यह पद-समूह कतिपय पदों के व्यवधान से तीन बार आया है। प्रस्तुत विधान के अनुसार पदों का व्यवधान बाधक नहीं होता और सङ्क्रम हो जाता है क्योंकि समान अर्थ की पुनरावृत्ति हुई है।

(2) अपराङ्गता

जब पुनरुक्त पद अन्य (अपर) का अङ्ग होता है तभी सङ्क्रम होता है।[1] तात्पर्य यह है कि आवर्जित पद या पदसमूह अर्थ की दृष्टि से अपने में पूर्ण नहीं होते अपितु दूसरे पदों का अङ्ग होते हैं तो उनमें सङ्क्रम होता हैं जैसे—स्वाहा यज्ञम्भनसः स्वाहो रौरन्तरिक्षात्स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वावातादारभे स्वाहा (बा० सं० 4/6)=स्वाहा । यज्ञम् । मनसः । उरोः । अन्तरिक्षात् । द्यावापृथिवीभ्याम् । वानत् । आ । स्मे । स्वाहा (प० पा०) । यहाँ संहिता में स्वाहा पद पाँच बार आया है। उनमें अन्तिम स्वाहा को छोड़कर अन्य बार स्वाहा पद अर्थ की दृष्टि से दूसरे पदों के अङ्ग हैं। प्रस्तुत विधान के अनुसार प्रथम स्वाहा पद से अन्य (पुनरुक्त) स्वाहा पद में सङ्क्रम हो गया है। दूसरे का अङ्ग न होने से अन्तिम स्वाहा पद का सङ्क्रम नहीं हुआ है।

---

1. अपराङ्गे (वा० प्रा० 4/141) (प्रा० प्र० शि० 302)।

(3) स्वरों की समानता

पुनरुक्त पदों में स्वर की समानता होने पर अर्थात् स्वरों में भिन्नता (विकार) न होने पर सङ्क्रम होता है।[1] तात्पर्य यह है कि जब संहिता में आवृत्त पद या पदसमूह उदात्तादि स्वरों की दृष्टि से प्रथम स्थल पर आये हुए पदसमूह के समान होते हैं तभी पुनरुक्त पद या पदसमूह सङ्क्रमणीय होते हैं। जैसे— तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि (वा० 1/31)=तेजः । असि । शुक्रम् । अमृतम् । धाम । नाम । प्रियम् । देवानाम् । अनाधृष्टम् । देवयजनमिति देव-यजनम् (प० पा०)। यहाँ संहिता में असि पद पाँच बार आया है जो सर्वानुदात्त है। अतः प्रस्तुत विधान से परवर्ती अन्य तीन (पुनरुक्त) असि का सङ्क्रम होता है। अन्तिम असि अवसान में होने के कारण वा० प्रा० 4/179 से सङ्क्रमणीय नहीं है।

स्वर में असमानता (विकार) होने पर आवर्तित पदों का सङ्क्रम नहीं होता। जैसे—सुक्ष्मा । च । असि । शिवा । च । असि । स्योना (प० पा०)= सुक्ष्मा वासि शिवा वासि स्योना (वा० सं० 1/27)। यहाँ संहिता के एक ही अनुवाक में असि पद तीन से अधिक बार आया है किन्तु स्वर में असमानता होने से द्वितीय स्थान पर आए हुए असि पद का सङ्क्रम नहीं हुआ है।

(4) लिङ्ग में समानता

पुनरुक्त पद या पदसमूहों में लिङ्ग की समानता अर्थात् लिङ्ग में भिन्नता (विकार) न होने पर सङ्क्रम होता है।[2] तात्पर्य यह है कि जब संहिता में पुनरुक्त पद या पदसमूह प्रथम स्थल पर आये हुए पद या पदसमूह के समान लिङ्ग वाला होता है तभी वह सङ्क्रमणीय होता है। जैसे—अग्नेर्भागोऽसि'''ब्रह्म स्पृतं'''क्षत्रं स्पृतम्'''जनित्रं स्पृतं'''वातः स्पृतः एकविंशः स्तोमः (वा० सं० 14/24)=अग्नेः । भागः । असि ।—ब्रह्म । स्पृतम् ।—क्षत्रम् ।—जनित्रम् । वातः । स्पृतः । एकविंश इत्येक-विंश । स्तोमः (प० पा०)। यहाँ संहिता के एक अनुवाक में स्पृतः पद चार बार आया है। प्रथम तीन स्थलों पर आये हुए स्पृतः पदों में से प्रथम स्थल से अन्यत्र (पुनरुक्त) स्पृतः पदों का सङ्क्रम हो गया है किन्तु अन्तिम स्पृतः पद पुल्लिङ्ग में है। अतः लिङ्ग की समानता न होने से उसका सङ्क्रम नहीं हुआ है।

---

1. अस्वरविकारे (वा० प्रा० 4/172, प्रा० प्र० शि० 303)।
2. अलिङ्गविकारे (वा० प्रा० 4/173; प्रा० प्र० शि० 304)

(5) भिन्न पदार्थ से सम्बद्धता

भिन्न (असमान) पदार्थ से सम्बद्ध पुनरुक्त पद में सङ्क्रम होता है।[1] अर्थात् पुनरुक्त पद या पदसमूहों में साध्य और साधन की असमानता होने पर सङ्क्रम होता है। जैसे—आयुर्यज्ञेन पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां चतुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् (वा० सं० 9/21) = आयुः। यज्ञेन। कल्पताम्। प्रायः। चक्षुः। श्रोत्रम्। पृष्ठम्। यज्ञः। यज्ञेन। कल्पताम् (प० पा०)। यहाँ संहिता में यज्ञेन कल्पताम्—छः बार आया है जिसमें पाँच बार साध्य और साधन असमान है क्योंकि आयु, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और पृष्ठ हैं तथा इससे भिन्न साधन यज्ञ है। अतः प्रस्तुत विधान के अनुसार प्रथम स्थल को छोड़कर अन्यत्र (पुनरुक्त) स्थलों पर सङ्क्रम हुआ है। अन्तिम यज्ञेन में साध्य और साधन की समानता (साध्य साधन यज्ञ के ही) होने से सङ्क्रम नहीं हुआ है।

सङ्क्रम का निषेध

(1) संहिता के मन्त्रों के अवसान द्योतित करने के लिए पुनरुक्त अवसानस्थ पद या पदसमूह का सङ्क्रम नहीं होता अपितु उनका पुनः ग्रहण कर लिया जाता है।[2] जैसे—आकूत्यैप्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा (वा० सं० 4/7) = आकूत्यै। प्रयुजे। अग्नये। स्वाहा। मेधायै। मनसे। दीक्षायै। तपसे। सरस्वत्यै। पूष्णे। अग्नये। स्वाहा (प० पा०)। यहाँ संहिता में चार बार आये हुये अग्नये स्वाहा पदसमूह में प्रथम स्थल को छोड़कर अन्यत्र सङ्क्रम होना चाहिए किन्तु प्रस्तुत विधान के अनुसार अन्तिम अवसानस्थ अग्नये स्वाहा का संहिता के प्रथम स्थल पर ग्रहण किये जाने पर भी पुनः ग्रहण किया गया है।

(2) संहितागत रिफितादि पदों के क्रम-संहिता में अविकार के लिए पुनरुक्त पद का सङ्क्रम नहीं किया जाता अपितु उसका पुनः ग्रहण होता है।[3] जैसे—स्वः स्वाहा मूर्ध्ने स्वाहा व्यश्नुविने स्वाहा (वा० सं० 22/32) = स्वरिति स्वः स्वाहा। मूर्ध्ने। व्यश्नुविने (प० पा०)।

यहाँ संहिता में स्वः पद के पूर्व कई बार आये हुये स्वाहा पद में सङ्क्रम हो गया है किन्तु इससे परवर्ती स्वाहा पद का प्रस्तुत विधान से

1. अवसानार्थं पुनर्ग्रहणम् (वा० प्रा० 4/179), (प्रा० प्र० शि० 307)।
2. अविकारार्थं च (वा० प्रा० 4/180)
3. उत्सर्गश्च (वा० प्रा० 4/181, प्रा० प्र० शि० 309)।

सङ्क्रम नहीं हुआ है अपितु पुनः ग्रहण किया गया है क्योंकि स्वः एक अनिरुक्त विसर्जनीय वाला पद है। संहितागत इस पद के क्रम-संहिता में अविकार के लिए (अर्थात् आगे वाले पद से सन्धि न करने के लिए तथा स्थितोपस्थित की सुरक्षा के लिए) पुनरुक्त स्वाहा पद का पुनः ग्रहण किया जाता है। क्रमपाठ में अन्यथा स्वमूर्ध्ने—यह क्रमवर्ग बनने की सम्भावना थी जिसके फलस्वरूप स्वः का स्थितोपस्थित पाठ नहीं होता है जो कि वा० प्रा० 4/19 और 4/195 से प्राप्त था।

कतिपय आचार्यों के अनुसार वा० प्रा० 4/180 में विहित अविकार के लिए पुनरुक्त पद का उत्सर्ग होता है।[1] तात्पर्य यह है कि वा० प्रा० 1/70 में अविकार के लिए जो पुनरुक्त पद के पुनर्ग्रहण का विधान किया गया है वह नहीं होता अपितु उनमें सङ्क्रम होता है। जैसे—स्वः स्वाहाः मूर्ध्ने (वा० सं० 22/32)=स्व। मूर्ध्ने (प० पा०)।

क्रमपाठ

क्रमपाठ का उद्भव

प्राचीन ऋषियों ने वेद की संहिताओं की रक्षा के लिये अनेक उपाय किये। जिससे आज भी संहितायें अपने मूलरूप में सरलता से उपलब्ध हो रही हैं। इतनी लम्बी अवधि के बाद भी संहिता के एक वर्ण का न तो ह्रास हुआ और न एक अतिरिक्त वर्ण का समावेश ही। प्राचीनकाल के ही सदृश आज भी वेद-पाठियों द्वारा संहिता-मन्त्रों का सस्वर पाठ किया जाता है। इन उपायों के अभाव में संहिताओं के सहस्रों वर्ष बाद रचित रामायण और महाभारत में समय-समय पर परिवर्तन तथा परिवर्धन होने के कारण उनके मूलरूप को जानना कठिन हो गया है। ऋषियों द्वारा किये गये जिन उपायों से संहितायें आज भी अपने मूल रूप में सुरक्षित हैं; उसमें से मुख्य है—अनेक प्रकार के पाठों की सृष्टि।

जैसा कि पदपाठ के प्रयोजन के प्रसङ्ग में बतलाया गया है कि पदों के मूल स्वरूप, स्वर तथा अर्थ इत्यादि के ज्ञान के लिए पदपाठ की रचना की गयी किन्तु धीरे-धीरे मन्त्रों के मूलरूप में परिवर्तन होने लगा। इसलिए ऋषियों ने पदों के मूलरूप तथा संहितारूप—दोनों की रक्षा के लिए एवम् ज्ञान के लिये क्रमपाठ की रचना की। बाद में क्रमपाठ के आधार पर जटापाठ, शिखापाठ,

1. क्रमः स्मृतिप्रयोजनः (वा० सं० 4/182, प्रा० प्र० शि० 310)

मालापाठ, रेखापाठ, ध्वजपाठ, दण्डपाठ, रथपाठ और घनपाठ—इन आठ विकृत पाठों की रचना हुई। इन विकृत पाठों के प्रचलन से संहिता मन्त्रों का एक-एक वर्ण सुरक्षित हो गया।

क्रमपाठ का प्रयोजन

क्रमपाठ का मुख्य प्रयोजन एक ओर तो दो-दो पदों की संहिता को तथा दूसरी ओर सभी पदों के मूल रूप को एक-एक करके दिखलाना है। इस प्रकार क्रमपाठ के द्वारा संहितापाठ और पदपाठ—दोनों का ज्ञान होता है। वा० प्रा० में क्रमपाठ का प्रयोजन बतलाते हुए कहा गया है कि स्मृति क्रमपाठ का प्रयोजन है। इसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार उवट का कथन है कि क्रमपाठ, संहिता-पाठ तथा पदपाठ का स्थायी स्मरण कराता है।[1]

भाष्यकार उवट तथा अनन्त ने वा० प्रा० में विहित क्रमपाठ के प्रयोजन वाले इस सूत्र के भाष्य में अन्य भी प्रयोजन बतलाये हैं जो निम्नलिखित हैं—

(1) क्रमपाठ के द्वारा दो-दो पदों की वर्ण-संहिता और उदात्तादि स्वरों की संहिता का ज्ञान होता है।

(2) संहिता-मन्त्रों के अवसानों का ज्ञान होता है।

(3) क्रमपाठ शिष्टों (विद्वज्जनों) के मध्य सम्मानदायक होता है।

(4) क्रमपाठ ऋषिसमादृत है। अतः इसके अध्ययन से विशेष पुण्य मिलता है।

(5) व्याकरण में क्रमपाठाध्यायी के लिए विशेष सूत्र और क्रमक-प्रत्यय द्वारा क्रमक की संज्ञा विहित की गयी है, जिससे सिद्ध होता है कि क्रमपाठ के अध्येता का समाज में विशेष स्थान होता है।

(6) इस प्रत्यय से यह भी सिद्ध होता है कि क्रमपाठ एक विशिष्ट प्रकार का सिद्ध तत्त्व है।[2]

(7) पद और संहिता—इन दोनों के स्वरूप को बतलाते हुए क्रमपाठ करने वाला अन्नादि और स्वर्ग दोनों की प्राप्ति कराता है।[3]

---

1. क्रमो हि संहिताविषयस्मरणं दृढीकरोति पदविषयं च।
(वा० प्रा० 4/182 पर उवट भा०)
2. द्रष्टव्य (वा० प्रा० 4/182 पर उवट)
3. द्रष्टव्य (वा० प्रा० 4/182 पर अनन्तभाष्य)

क्रमपाठ के नियम

वा० प्रा० चतुर्थ अध्याय के सोलह सूत्रों (4/182–197) और सम्पूर्ण सप्तम अध्याय में क्रमपाट-विषयक विधान किये गये हैं। तै० प्रा० क्रमपाठ के सन्दर्भ में मौन है। अतः यहाँ वा० प्रा० के अनुसार ही क्रमपाठ का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है :—

द्विपद क्रमवर्ग विधान

क्रमपाठ में अपृक्त को छोड़कर दो-दो पदों का मेल किया जाता है और दो पदों में अन्तिम पद की उसके परवर्ती पद के साथ मेल अवसान (अर्द्धर्च या मन्त्रसमाप्ति) तक किया जाता है।[1] तात्पर्य यह है कि अपृक्त पद को छोड़कर क्रमपाठ में दो-दो पदों की सन्धि की जाती है। अर्धर्च के प्रारम्भ वाले दो पदों को क्रमवर्ग के अन्तर्गत पढ़ा जाता है। इसके बाद प्रथम क्रमवर्ग के अन्तिम पद की अगले पद से सन्धि करके दूसरा क्रमवर्ग बनाया जाता है। दूसरे क्रमवर्ग के समान अन्य क्रमवर्ग भी मन्त्र के अवसान तक बनाये जाते है। जैसे—उपत्त्वाग्ने हविष्मतीर्घृताचीर्यन्त् हर्यंत (वा० सं० 3/4)=उप। त्वा अग्ने। हविष्मतीः। घृताचीः। यन्त। हर्यंत (प० पा०)=उपत्त्वा। त्वाग्ने। अग्ने हविष्मतीः। हविष्मतीर्घृताचीः। घृताचीर्यन्त। यन्त हर्यंत। हर्यंतेति हर्यंत (क्र०प ा०)

प्रस्तुत उदाहरण में क्रमपाठ बनाने के लिए दो-दो पदों की सन्धि की गयी है। पहले मन्त्र के प्रथम दो पदों उप और त्वा की सन्धि करके प्रथम क्रमवर्ग "उपत्त्वा" बनाया गया है। पुनः प्रथम क्रमवर्ग के अन्तिम पद त्वा की अगले पद के साथ सन्धि करके "त्वाग्ने" द्वितीय क्रमवर्ग बना है। इसी प्रकार तृतीय क्रमवर्ग "अग्ने हविष्मतीः", चतुर्थ क्रमवर्ग हविष्मतीर्घृताचीः इत्यादि बनाये गये हैं। इन्हीं दो-दो पदों के क्रमसमूह को द्विपद क्रमवर्ग कहा जाता है।

त्रिपद क्रमवर्ग विधान

प्रायः (क्रमवर्ग में) दो-दो पदों का ही क्रमवर्ग होता है किन्तु कुछ विशेष स्थलों पर तीन पदों की सन्धि करके भी क्रमवर्ग बनाया जाता है। इन तीन पदों के समूह को त्रिपद क्रमवर्ग कहा जाता है। त्रिपद-क्रमवर्ग अधोलिखित स्थलों पर होता है—

---

1. द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरमावसानादपृक्तवर्जम् (वा० प्रा० 4/183)
प्रा० प्र० शि० 311

(1) संहिता में स्थित अपृक्त पद को दो पदों के मध्य में रखकर उसके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पदों के साथ तीन पदों का क्रमवर्ग वनाया जाता है।[1] जैसे—हंसानालभते वायवे (वा० सं० 24/22)=हंसान्। आ। लभते। वायवे (प० पा०)=हंसान् आ लभते। आ लभते। वायवे (क्र० पा०)। यहाँ अपृक्त आ को मध्य में रखकर उसके पूर्ववर्ती पद लभते के साथ तीन पदों का क्रमवर्ग वनाया गया है।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि वाजसनेयिसंहिता में आ और उ-दो ही अपृक्त पद मिलते हैं किन्तु इन दोनों अपृक्त पदों के त्रिपद क्रमवर्ग विधान में कुछ वैषम्य है। वा० प्रा० 4/185 के अनुसार आकार को त्रिपद क्रमवर्ग में सम्मिलित करके पुनः उसका परवर्ती पद के साथ द्विपद क्रमवर्ग भी वनाया जाता है।[2] जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि अपृक्त आ को मध्य में रखकर हंसान् आ लभते--यह त्रिपद क्रमवर्ग वनाने के वाद पुनः आ की परवर्ती पद लभते के साथ आ लभते-द्विपद क्रमवर्ग भी वनाया गया है किन्तु उ—इस अपृक्त पद को त्रिपद क्रमवर्ग में सम्मिलित करके पुनः उसका अगले पद के साथ द्विपद क्रमवर्ग नहीं वनाया जाता है। जैसे—उदुत्वा विश्वे (वा० सं० 11/27)=उत्। ऊँ इत्यूँ। त्वा। विश्वे (प० पा०)=उदुत्वा। ऊँ इत्यूँ। त्वा वश्वे (क्र० पा०)।

यहाँ त्रिपद क्रमवर्ग बनाने के वाद वा० प्रा० 4/94-95 के अनुसार अपृक्त उ का सवेष्टक षाठ हुआ है। तदनन्तर उ का परित्याग करके उत्तरवर्ती पद त्वा का अग्रिम पद विश्वे के साथ त्रिपद क्रभवर्ग बना है।

(2) मो षूण, और षुणः—इन पदों का भी त्रिपद क्रमवर्ग होता है।[3] जैसे – मोषूण इन्द्रः (वा० सं० 3/45)=मो इति मो। सु। नः। इन्द्रः (प० पा०)= मोषुण। मो इति मो। सु नः। न इन्द्रः (क्र० पा०)। अभीषुण सखीनाम् (वा० सं० 27/40)=अभि। सु। नः। सखीनाम् (प० पा०)=अभीषुणः। सु न –न सखीनाम् (क्र० पा०)।

चतुःपद क्रमवर्ग-विधान

प्रा० प्र० शि० के अनुसार कहीं-कहीं पर चार-चार पदों का क्रमवर्ग होता है—

---

1. अपृक्तमध्यानि त्रीणि स त्रिक्रमः (वा० प्रा० 4/184), प्रा० प्र० शि० 314.
2. पुनराकारेणोत्तरम् (वा० प्रा० 4/185) प्रा० प्र० शि० 315
3. मोषूणभीषुणो च (वा० प्रा० 4/184); प्रा० प्र० शि० 316

(1) सु पद के पूर्व में अपृक्त पद तथा बाद में नकार होने पर चार पदों का क्रमवर्ग होना है।[1] जैसे—उर्ध्वं ऊ षु ण उतये (वा० सं० 11/39)=उर्ध्वं। उँ इत्यूँ। सु। नः उतये (प० पा०)=ऊर्ध्वं उ षु णः। उँ इत्यूँ। सु नः। न ऊतये (क्रमपाठ)।

(2) कतिपय आचार्यों के अनुसार सु के पूर्व में अपृक्त पद तथा बाद में मकार होने पर भी चार पदों का क्रमवर्ग बनता है।[2] जैसे—महीमू षु मातर सुव्रतानाम् (वा० सं० 21/4)=महीम्। सु मातरम्। सुव्रतानाम् (प० पा०) =महीमू पु मातरम्। ऊँ इत्यूं। सु मातरम्। मातरं सुव्रतानाम् (क्र० पा०)।

वा० प्रा० 4/189 के अनुसार जहाँ सु पद की स्थिति में त्रिपद अथवा चतुःपद क्रमवर्ग बनाया जाता है वहाँ पुनः सु पद का परवर्ती पद के साथ त्रिपद क्रमवर्ग भी बनाया जाता है।[3] जैसे—अभीषुण सखीनाम् (वा० सं० 27/40)=अभि। सु। नः। सखीनाम् (प० पा०)=अभीषुणः। सु नः। न सखीनाम् (क्र० पा०)। यहाँ त्रिपद क्रमवर्ग अभीषुणः के बाद सु पद का परवर्ती पद नः के साथ त्रिपद क्रमपद बनाया गया है।

क्रमपाठ में स्थितोपस्थित

वा० प्रा० में पदपाठ के सन्दर्भ में स्थितोपस्थित विषयक विधान किए गये हैं जो इस प्रकार हैं—

(1) पूर्ववर्ती अवगृह्य (सावग्रह) पद का उत्तरवर्ती पद के सन्धान के बाद स्थितोपस्थित रूप में पाठ करना चाहिए।[4] तात्पर्य यह है कि क्रमपाठ में पूर्ववर्ती सावग्रह पद का उत्तरवर्ती पद के साथ क्रमवर्ग बनाने के बाद उसका स्थितोपस्थित रूप पाठ किया जायेगा। जैसे—श्रेष्ठतमाह कर्मणे आप्यायध्वम् (वा० सं० 1/1)=श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठ-तमाय। कर्मणे। आ। ध्यायध्वम् (प० पा०)=श्रेष्ठतमाय कर्मणे। श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठ-तमाय। कर्मण आप्यायध्वम् (क्र० पा०)।

यहाँ क्रमपाठ में श्रेष्ठतमाय—इस सावग्रह पद का उत्तरवर्ती पद कर्मणे के साथ क्रमवर्ग बनाने के बाद इसका स्थितोपस्थित पाठ किया गया है।

---

1 चत्वार्यपृक्तपूर्वं नकारपरे (वा० प्रा० 4/187; प्रा० प्र० शि० 317)।
2. मकारपरे चैके (वा० प्रा० 4/188)
3. पुनः सुमदेनोत्तरम् (वा० धा० 4/189; प्रा० प्र० शि० 318)
4. पूर्वस्योत्तरसंहितस्य स्थितोपस्थितमवगृह्यस्य (वा० प्रा० 190; प्रा० प्र० शि० 319)

(2) आचार्य शाकटायन के अनुसार सु पद का त्रिपद क्रमवर्ग अथवा चतुः-पद क्रमवर्ग में पाठ करने के बाद इसका स्थितोपस्थित रूप में भी पाठ होता है।[1] जैसे—मोषूण इन्द्रः (वा० सं० 3/45) = मो इति मो। सु। नः। इन्द्रः (प० पा०) = मोषूणः। मो इति मो। स्विति सु। सु नः। इन्द्रः (क्र० पा०)।

(3) एक पद के मध्य में हुए दीर्घ-भाव वाले पद का उत्तरवर्ती पद के साथ क्रमवर्ग बनाने के बाद स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए।[2] तात्पर्य यह है कि वा० प्रा० के तृतीय अध्याय में जिन पदों के मध्यगत दीर्घभाव का विधान किया गया है। उन पदों का क्रमसंहिता में उत्तरवर्ती पद के साथ क्रमवर्ग बनाकर पुन उसका स्थितोपस्थित पाठ किया जाता है। जैसे—सादन्यं विदथ्यम् सभ्यम् (वा० सं० 34/21) = सादन्यम्। सदन्यमिति सदन्यम्। विदथ्यम्। सभ्यम् (प० पा०) = सादन्यं विदथ्यम्। सदन्यमिति सदन्यम्। विदथ्यम् सभयम् (क्र० पा०)। यहाँ सादन्यम् पद के मध्य में दीर्घभाव है। सादन्यम् पद में अन्तःपद दीर्घभाव होने से प्रस्तुत विधान के अनुसार क्रमपाठ में उत्तरवर्ती पद के साथ सादन्यं विदथ्यम् —इस क्रमवर्ग का पाठ होने के बाद उसका स्थितोपस्थित के रूप में सदन्यमिति सदन्यम्—यह पाठ किया गया है।

(4) विनाम के स्थलों में पूर्वोत्तर पदों के मेल द्वारा क्रमवर्ग का पाठ करके पुनः स्थितोपस्थित पाठ किया जाना चाहिए।[3] विनाम शब्द के द्वारा दन्त्य वर्ण के मूर्धन्य-भाव का कथन होता है। विनाम शब्द से उन दन्त्य वर्ण के मूर्धन्य-भाव का कथन होता है जहाँ निमित्त और निमित्तन् एक ही पद के अन्तर्गत हों।[4]

इस प्रकार प्रस्तुत विधान में यह कहा गया है कि एकपदगत छान्दस् मूर्धन्यभाव के स्थलों में उस पद के परवर्ती पद के साथ सन्धान करके पुनः उसका स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए। जैसे—सिषासन्तो वनामहे (वा० सं० 20/18) = सिषासन्तः। सिषासन्तः इति सिषासन्तः। वनामहे (प० पा०) = सिषासन्तो वनामहे। सिषासन्त इति सिषासन्तः। वनामहे इति वनामहे (क्र० पा०)। यहाँ सिषासन्तः विनाम पद है अतः इसका स्थितोपस्थित पाठ किया गया है।

---

1. सुपदे शाकटायनः (वा० प्रा० 191)
2. अन्तःपददीर्घभावे (वा० प्र० 192)
3. विनामे (वा० प्रा० 4/193; प्रा० प्र० शि० 320)
4. विनामशब्देन दन्त्यस्य मूर्धन्यभाव उच्यते। विनामश्चैष इत्थम्भूतो गृह्यते यत्र निमित्तनैमित्तिकानेकपदस्थो भवतः (वा० प्र० 4/193 पर उवटभाष्य)

(5) प्रगृह्य संज्ञक पदों का उसके परवर्ती पद के साथ मेल द्वारा क्रमवर्ग का पाठ करके पुनः स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए।[1] जैसे—इन्द्राग्नी आगतं आगतं सुतम् (वा० सं० 33/83) = इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी। आगतम्। सुतम् (प० पा०) = इन्द्राग्नी आगतम्। इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी। आगतम् सुतम् (क्र० पा०)। यहाँ इन्द्राग्नी प्रगृह्य संज्ञक पद है अतः इस विधान के अनुसार इस पद का उत्तरवर्ती पद के मेल द्वारा प्राप्त क्रमवर्ग का पाठ करके पुनः इसका स्थितोपस्थित पाठ किया गया है।

(6) क्रम संहिता में उत्तर पद सन्धान (मेल) अर्थात् उत्तरवर्ती पद के साथ क्रमवर्ग बनाने के अनन्तर संहिता में अनिरुक्त 'रिफित विसर्जनीयान्त'[2] पदों का स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए। जैसे—अन्तस्ते द्यावापृथिवी (वा० सं० 7/5) = अन्तरित्यन्तः। ते। द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी (प० पा०) अन्तस्ते। अन्तरित्यन्तः। ते द्यावापृथिवी (क्रम० पा०)। यहाँ अन्तःपद संहिता में अनिरुक्त विसर्जनीयान्त पद है क्योंकि इसका विसर्जनीय संहिता में सकार हो गया है अतः प्रस्तुत विधान के अनुसार इसका स्थितोपस्थित पाठ किया गया है।

(7) अवसान में स्थित पद का पूर्ववर्ती पद के साथ क्रमवर्ग बनाने के बाद पुनः उसका स्थितोपस्थित पाठ किया जाता है।[3] जैसे—अग्नये जातवेदसे (वा० सं० 3/2) = अग्नये। जातवेदस इति जातवेदसे (प० पा०) = अग्नय जातवेदसे। जातवेदस इति जातवेदसे (क्र० पा०)।

क्रमपाठ में परिग्रह

वा० प्रा० में सूत्रकार तथा भाष्यकारों ने न तो परिग्रह का लक्षण ही किया है और न प्रयोग ही। किन्तु सूत्रों तथा भाष्यों पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि स्थितोपस्थित में इति से पहले वाले पद के अन्तिम वर्ण तथा पदादि इति की जो सन्धि होती है उसे परिग्रह माना जाता है। परिग्रह-विषयक विधान क्रमपाठ के सम्बन्ध में संहिता के अवसान में स्थित पदों के स्थितोपस्थित पाठ के लिए किया गया है।

---

1. प्रग्रह्ये (वा० प्रा० 4/194, प्रा० प्र० शि० 321)
2. अनिरुक्त विसर्जनीय के लिए पदपाठ-में स्थितोपस्थित विषयक विधान संख्या (2) देखें।
3. अवसाने च (वा० प्रा० 4/196, प्रा० प्र० शि० 323

परिग्रह के नियम

स्थितोपस्थित में प्रथम पठित पदान्तीय वर्ण तथा पदादि इति के इकार के सन्धान से किस प्रकार के विकार के साथ परिग्रह होना चाहिए, इसका विधान वा० प्रा० के सम्पूर्ण सप्तम अध्याय में किया गया है। यह परिग्रह सम्बन्धी नियम पदपाठ तथा क्रमपाठ—दोनों के स्थितोपस्थित में लागू होते हैं जो इस प्रकार हैं—

स्वरान्त पदों का परिग्रह

(1) अवर्णान्त पदों का परिग्रह

प्लुत अकार (=आ3) को छोड़ कर अन्य कण्ठ्य स्वर वर्ण (अ, आ) में अन्त होने वाले पदो का एकार से परिग्रह करना चाहिए।[1] अर्थात् अ तथा आ पदान्त वाले परिग्रह में अ, आ तथा पदादि इति की सन्धि होने पर एकीभाव एकार हो जाता है। जैसे—पञ्च (वा० सं० 1/9, प० पा०)=पञ्चेति पञ्च (क्र० पा०)। विपन्यया (वा० सं० 33/9, प० पा०)=विपन्ययेति विपन्यया (क्र० पा०)।

(2) इवर्णान्त पदों का परिग्रह

इवर्ण (इ, ई) वर्णान्त पदों का ईकार में परिग्रह करना चाहिए।[2] जैसे - पाहि (वा० सं० 7/10 प० पा०)=पाहीति पाहि (क्र० पा०)। सूनृतावती (वा० सं० 7/10, प० पा०)=सूनृतावतीति सु—नृतावती (क्र० पा०)।

(3) उवर्णान्त पदों का परिग्रह

उवर्ण (उ, ऊ) का वकार से परिग्रह करना चाहिए।[3] जैसे—सन्तु (वा० सं० 33/12, प० पा०)=सन्त्विति सन्तु (क्र० पा०)।

(4) एकारान्त, ऐकारान्त, प्लुतान्त तथा प्रगृह्य पदों का परिग्रह

एकारान्त, ऐकारान्त, प्लुतान्त तथा प्रगृह्य पदों का विकृति मे परिग्रह करना चाहिए।[4] जैसे—अग्नये (वा० सं० 3/11, प० पा०)=अग्नय इत्यग्नये (क्र० पा०)। मादयध्ये (वा० सं० 3/13, प० पा०)=मादयध्या इति मादयध्ये

---

1. कण्ठ्यस्वरमेकारेण परिगृह्णीयात् प्लुतवर्जम् (वा० प्रा० 7/2)
2. इवर्णमीकारेण (वा० प्रा० 7/3)
3. उवर्ण वकारेण (वा० प्रा० 7/4)
4. एकारान्तमेकारान्त प्लुतं प्रगृह्यं च (वा० प्रा० 7/7)

(क्र० पा०)। विवेशा३ (वा० सं० 23/49, विवेशा3 इति विशेशा (क्र० पा०)। घापयेते (वा० सं० 33/5)=घापयेत इति घापयेते (प० पा०, क्र० पा०)। यहाँ वा० प्रा० 4/48 के सन्धि के नियमानुसार प्रथम तथा द्वितीय उदाहरणों में क्रमशः अय् तथा आय् हुआ है जिनके यकार का वा० प्रा० 4/127 से लोप हो गया है। तृतीय उदाहरण में वा० प्रा० 4/92 तथा चतुर्थ उदाहरण में वा० प्रा० 4/88 से सन्धि का निषेध होता है।

(5) औकारान्त पदों का परिग्रह

औकारान्त पद का वकार के रूप में परिग्रह करना चाहिए।[1] जैसे—असौ (वा० सं० 9/30, प० पा०)=असावित्यसौ (क्र० पा०)। कतिपय आचार्यों के अनुसार औकारान्त पदों का विवृत्ति के रूप में परिग्रह करना चाहिए।[2] जैसे—असा इत्यसौ (क्र० पा०)। यहाँ पर सन्धि के अनुसार वा० प्रा० 4/48 से आव् प्राप्त होता है। कतिपय आचार्यों के अनुसार वकार का लोप हो जाता है। जिन आचार्यों के अनुसार वकार का लोप नहीं होता उनके मत से वकार के रूप में तथा जिनके अनुसार लोप हो जाता है उनके मत से विवृत्ति के रूप में परिग्रह होता है।

विसर्जनीयान्त पदों का परिग्रह

(1) अवर्णोपधीय अरिफित विसर्जनीयान्त पदों का परिगह

ह्रस्व कण्ठ्य स्वर (=अ) उपधा वाले विसर्जनीयान्त पद का भी विवृत्ति से परिग्रह करना चाहिए।[3] जैसे—इड्यः (वा० सं० 3/15) इडयः प० पा०=इड्य इतीड्यः (क्र० पा०)। दीर्घ कण्ठ्य स्वर उपधा वाले विसर्जनीयान्त पद का भी विवृत्ति से परिग्रह करना चाहिए।[4] जैसे—अरोचयथाः (वा० 3/14, प० पा०) =अरोचयथा इति अरोचयथाः (क्र० पा०)।

(2) भाव्युपधीय विसर्जनीयान्त तथा रिफित विसर्जनीयान्त पदों का परिग्रह

अकण्ठ्य स्वर (अ, आ से अन्य स्वर) उपधा वाले विसर्जनीयान्त पदों का रेफ से परिग्रह करना चाहिए।[5] जैसे—नमोभिः (वा० सं० 13/43, प० पा०);

---

1. औकारं च (वा० प्रा० 7/5)
2. ओकारान्तं चैके (वा० प्रा० 7/8)
3. ह्रस्वकण्ठ्योपधं विसर्जनीयान्तमरिफितं विवृत्या (वा० प्रा० 7/6)
4. दीर्घकण्ठ्योपधं विसर्जनीयान्तम् च (वा० प्रा० 7/7)
5. भाव्युपधरिद्विसनीयान्तानि रेफेण (वा० प्रा० 7/9)

=नमोभिरिति नमोभिः (क्र० पा०)। कः (वा० सं० 33/59, प० पा०)= करिति कः (क्र० पा०)।

विसर्जनीय से अन्य व्यञ्जनान्त पदों का परिग्रह

(1) प्रथम स्पर्शान्त पदों का परिग्रह

प्रथम स्पर्शान्त (अर्थात् क्, च्,[1] ट्, त्, प अन्त में हैं जिनके ऐसे) पदों का स्ववर्गीय तृतीय स्पर्श (क्रमशः ग्, ज्, ड्, द्, ब्) से परिग्रह करना चाहिए।[2] जैसे—अस्मत् (वा० सं० 21/2, प० पा०)=अस्मदित्यस्मत् (क्र० पा०) इत्यादि।

(2) पञ्चम स्पर्शान्त पदों का परिग्रह

पञ्चम स्पर्शान्त (अर्थात् ङ ञ्[3] ण् न् म् से अन्त होने वाले) पदों का उन्हीं वर्णों से परिग्रह करना चाहिए।[4] जैसे—नृपायम् (वा० सं० 20/81, प० पा०) =नृपायमिति नृपायम् (क्र० पा०) इत्यादि।

क्रमपाठ में सङ्क्रम

जैसा कि पदपाठ प्रकरण में कहा गया है कि पदपाठ में गलत्पदों को छोड़कर अगलत्पदों का ही पदपाठ किया जाता है। पदपाठ में इन गलत्पदों को छोड़ देना ही सङ्क्रम कहा जाता है। पदपाठ की भाँति क्रमपाठ में गलत्पदों को छोड़ दिया जाता है। गलत्पदों के स्थलों पर क्रमपाठ करते समय इन गलत्पदों को छोड़कर इनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती अगलत्पदों का सन्धान करके क्रमवर्ग बनाया जाता है। भाष्यकार उवट के अनुसार क्रमपाठ में गलत्पदों को छोड़कर क्रमवर्ग बनाने के लिए इनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती अगलत्पदों की जो सन्धि की जाती है वही सङ्क्रम है।[5] पदपाठ में जिन स्थलों पर सङ्क्रम होता है, क्रमपाठ में भी उन्हीं स्थलों पर होता है।

शुक्लयजुर्वेदीय संहिता में कितने स्थलों पर गलत्पदों को छोड़कर क्रम-सन्धान किया जाता है, इनका दिर्देश क्रमसन्धान शिक्षा में किया गया है जो इस प्रकार है—

---

1. प्रथमान्तं तृतीये (वा० प्रा० 7/10)
2. वा० प्रा० 1/85 के अनुसार चकार तथा ञकार पदान्तीय नहीं होते।
3. उत्तमान्मुत्तमेन (वा० प्रा० 7/11)
4. गलत्पदमतिक्रम्यागलता सहसन्धानः सङ्क्रमः (वा० प्रा० 4/168, उवट)
5. गलत्पदमतिक्रम्यागलता सह सन्धानः सङ्क्रमः (वा० प्रा० 4/168 उवट)

शुक्लयजुर्वेद-संहिता में क्रमसन्धान

प्रथम अध्याय में क्रमसन्धान के ये 42 स्थल हैं—विश्वधा परमेण, ह्वार्षीच्छतधारम्, सहस्रधारन्देवः, अधुक्षः सा, विश्वधाया इन्द्रस्य, राध्यतामिदम्, एमिकः, तस्मै कर्मणे, वाम्प्रत्युष्टम्, उरातयउरु, एमिधू, धूर्वामो देवानाम्, देवहूततममहुतम्, हविर्धानं विष्णुः, हस्ताभ्यामग्नये, गृह्णामि भूताय, रश्मिभिर्द्देवी, देवयुवं युष्माः, स्थाग्नये, अग्निषोमाभ्याम् देव्याय, वेत्वद्भिः, चेत्वग्ने, शमीध्व हविष्कृत्, इहि कुक्कुटः, वह ध्रुवम्, वधयाग्ने, अन्तरिक्षन्धत्रम्, दिवं विश्वाभ्यः, वेतु धान्यम्, व्यानाय दीर्घम्, रसेन रेवतीः, पृच्यन्तान्जनयत्ये, वधः पृथिवि, मौगम, वध्यासमरसे, स्ववन्गायत्रेण आगतेन सुक्ष्मा, माज्र्यन्निशिता, माज्र्यदित्येः, पश्याम्यग्ने, यजुपे सवितुः, त्वा तेजः ।[1]

द्वितीय अध्याय में इन स्थलों पर क्रमसन्धान होता है—पतये गन्धर्वः, इडितः इन्द्रस्य, रक्षिणो मित्रावरुणो, अभिशस्त्ये सवितः, ध्रुवा ध्रुवा, मार्जिम नमः, सचन्तामस्माकम्, अश्नास्येतम्, ब्रह्मणे तेन, उहाम्यग्नीषोमौ, उहामीन्द्राग्न्योः, इन्द्राग्न्योरिन्द्राग्नी, इन्द्राग्नी वसुभ्यः अवता व्यन्तु, मरुद्भिरिन्द्र, तस्मै पोषाय वर्तेऽग्ने, हि मा अचारिपम्, वेदिषदो ये ।[2]

तीसरे अध्याय में उषसा सूर्यः, गृहपते पुरीष्यः तथा पतिवेदनमितः—ये तीन क्रमसन्धान होते हैं ।[3]

चौथे अध्याय में क्रमसन्धान नहीं है ।[4] पाँचवें अध्याय में सात क्रमसन्धान होते हैं—पुरुरवा मन्थामि, रजः शया हरिशया, देववीतये अभूद्यायथम् ।[5]

छठवें अध्याय में क्रमसन्धान का अभाव है ।[6] सातवें अध्याय में मादयत्वोदाताय, भून्महेन्द्राय—इन दो स्थानों पर क्रमसन्धान होता है ।[7] आठवें अध्याय में क्रमसन्धान नहीं है ।[8] नवें अध्याय में इन्द्रस्य सत्यप्रसवा, इन्द्रं वाजजितः—ये दो क्रमसन्धान है ।[9] दशवें अध्याय में क्रमसन्धान का अभाव है ।[10] ग्यारहवें अध्याय

---

1. द्रष्टव्य—क्रमसन्धान शिक्षा–1
2. प्रष्टव्य—क्रम सन्धान शिक्षा–2
3. द्रष्टव्य—क्रमसन्धान शिक्षा–3
4. वही, शिक्षा–4
5. क्रमसन्धान शिक्षा–5
6. वही, शिक्षा–6
7. वही, शिक्षा–7
8. वही, शिक्षा–8
9. वही, शिक्षा–9
10. वही, शिक्षा–10

में जागतेन हस्ते, हिरण्यमयीमानुष्टुभेन—ये दो क्रमसन्धान है ।[1] बारहवें अध्याय परिचिल्लोकम्—यह एक क्रमसन्धान है ।[2] तेरहवें अध्याय में दिशामि साहस्रम्, गवयमुर्णायुतम् उष्टवमणः शरभन्त्यम्—ये चार क्रमप्रसन्धाव हैं ।[3]

चौदहवें अध्याय में अन्तरिक्षं वायु, वायू राज्ञी, बृहती नभः—ये तीन क्रमसन्धान हैं ।[4] पन्द्रहवें अध्याय में अग्नेरेवः, रथे चित्रोमेतका, असमरथः प्रम्लोचन्ती, अरिष्टनेमि विश्वाची, सुषेण उर्वशी, शैशिरो परमेष्ठी, दिवः सूर्यः दिवं ध्रुवे—ये आठ क्रमसन्धान हैं ।[5]

सोलहवें[6] तथा सत्रहवें[7] अध्याय में क्रमसन्धात का अभाव है । अट्ठारहवें अध्याय में स्वस्तोमः, रथन्तरं वेट्—ये दो क्रमसन्धान हैं ।[8] उन्नीसवें अध्याय में क्रमसन्धान नहीं है ।[9] बीसवें अध्याय में वायु जीग्रत, स्वप्ने सूर्यः, शूद्रेवें, अपोयक्षि—ये चार क्रमसन्धान हैं ।[10] इक्कीसवीं अध्याय में क्रमसन्धान का अभाव है ।[11] बाइसवें अध्याय में स्वाहाकृतः स्वगा, प्राणाय यत्ते—ये दो क्रमसन्धान हैं ।[12] चतुष्पदश्चन्द्रमा, चन्द्रमारात्रौ, वायुसूर्यः—ये तीन क्रमसन्धान तेइसवें अध्याय में हैं ।[13] चौबीसवें,[14] पच्चीसवें,[15] छब्बीसवें[16] तथा सत्ताइसवें[17] अध्याय में

---

1. वही, शिक्षा–11
2. क्रमसन्धान शिक्षा–12
3. वही, शिक्षा–13
4. वही, शिक्षा–14
5. क्रमसन्धान शिक्षा–15
6. वही, शिक्षा–16
7. वही, शिक्षा–17
8. वही-18
9. वही-19
10. वही–20
11. वही–21
12. वही–22
13. वही–23
14. वही–24
15. यही–25
16. वही–26
17. वही–27

क्रमसन्धान नहीं है। अट्ठासीवें अध्याय में शुतिमुष्णिहा तथा देवौ त्रिष्टुभा--ये दो क्रमसन्धान हैं।[1]

उन्नीसवें से प्रारम्भ करके पैंतीसवें अध्याय तक क्रमसन्धान का अभाव है।[2] छत्तीसवें अध्याय में ऊतिभिः क्या तथा इक्ष ईक्षामहे---ये दो क्रमसन्धान है।[3] पाहि मक्षु तथा स्वाहा रात्रिः---ये दो क्रमसन्धान सैंतीसवें अध्याय में हैं।[4] अड़तीसवें अध्याय में सरस्वत्यसौ---यह एक क्रमसन्धान है।[5] उन्तालिसवें अध्याय में क्रमसन्धान नहीं।[6] चालीसवें अध्याय में अविद्या विद्याथाम्, अँक्रतो, सारक्लिवे, क्लिवे कृतम्---ये चार क्रम सन्धान हैं।[7]

1. वही--28
2. द्रष्टव्य क्रमसन्धान शिक्षा---29, 30, 31, 32, 33, 34, 3}
3. वही--36
4. वही--37
5. वही--38
6. वही--39
7. वही--40

उपसंहार

"शिक्षा" नामक वेदाङ्ग वेद के बाह्य स्वरूप की रक्षा के लिए अत्यावश्यक है। शुद्धोच्चारण को यथावत् सुरक्षित रखने के लिए रचित शिक्षाग्रन्थों में वर्णों के विषय में अनेक प्रकार के सूक्ष्म एवम् भाषावैज्ञानिक तथ्य प्रतिपादित किये गये हैं।

वर्ण ही संहिता की मूल इकाई हैं। संहिता के ज्ञान हेतु वर्णों का ज्ञान अत्यावश्यक है। वर्णों की जानकारी के लिए आवश्यक वर्ण-समाम्नाय का सर्व प्रथम उल्लेख ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में किया गया है। वर्णों का स्वर एवम् व्यञ्जन दो भागों में विभाजन उपलब्ध होता है। स्वरों एवम् व्यञ्जनों का क्रमशः समानाक्षर-सन्ध्यक्षर, स्पर्श, अन्तःस्थ, ऊष्म एवम् अयोगवाह में किया गया विभाजन शिक्षाग्रन्थों की सूक्ष्म ध्वनिवैज्ञानिकता का निदर्शन है।

संहिता के अर्थज्ञान के लिए उसमें प्रयुक्त पदों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। उन पदों के सम्यक् अर्थ-ज्ञान के लिए पदों में निहित अक्षरों के उदात्तादि स्वरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वरों के परिवर्तन से पदों के अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। शुक्लयजुर्वेदीय प्रायः सभी शिक्षाग्रन्थों में स्वर-विषयक विधान उपलब्ध होते हैं। इनका सम्यक् विवेचन द्वितीय अध्याय में किया गया है।

प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में कुछ न कुछ समय अवश्य लगता है। वर्णोच्चारण में लगने वाले समय को मापने की इकाई "मात्रा" कही जाती है। कतिपय शिक्षाओं के अतिरिक्त प्रायः सभी शिक्षाग्रन्थों में मात्रा-विषयक विधान उपलब्ध होते हैं जिनका तुलनात्मक अध्ययन तृतीय अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

वर्णोच्चारण प्रक्रिया में वर्णोत्पत्ति में वायु की प्रमुखता, स्थान, करण तथा प्रयत्न के माध्यम से उच्चारण—प्रक्रिया का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन प्रतिपादित किया गया है जिससे किसी वर्ण का अशुद्ध उच्चारण न हो सके। यकार एवम् वकार का विविध स्थितियों में होने वाले उच्चारण के विषय में किया गया विधान द्रुतादि वृत्तियों एवम् उनमें उच्चारित ध्वनियों की मात्राओं में अन्तर का प्रतिपादन, स्वर एवम् व्यञ्जन का सान्निध्य होने पर व्यञ्जन का विभिन्न परिस्थितियों में किया गया स्वराश्रितत्व विधान ध्वनिविज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं।

शुक्लयजुर्वेदीय समस्त शिक्षाग्रन्थों में प्रतिपादित उच्चारण स्थान तथा प्रयत्न आदि का तुलनात्मक अध्ययन इस ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

संहिता का शुद्ध उच्चारण नितान्त अपेक्षित है। उच्चारण की अशुद्धता के कारण उनका सम्यक् अर्थ नहीं हो पाता। सभी व्यक्ति उच्चारण करने में समर्थ नहीं होते। अतः वेदों के उच्चारण-विषयक विशेष नियमों का प्रतिपादन शिक्षाओं में किया गया है जिसे ग्रन्थ के पञ्चम अध्ययन में उपन्यास किया गया है।

दो वर्णों के सान्निध्य के फलस्वरूप कभी-कभी उनमें लोप, आगम, विकार आदि होते हैं। कभी-कभी वे दोनों अपनी प्रकृतिरूप में स्थित रहते हैं। संहिता का स्वरूप सन्धि नियमों पर ही आधारित होता है जो पदपाठ से निष्पन्न होता है। संहिता तथा पद-दोनों को क्रमपाठ द्वारा सुरक्षित रखा गया है। संहिता, पद तथा क्रमपाठ विषयक विधान ग्रन्थ के षष्ठ अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपादित तथ्यों का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थों में वर्णों के विषय में सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इनमें कतिपय शिक्षायें पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करती हैं एवम् कतिपय शिक्षाओं में मात्र सङ्केत ही उपलब्ध होते हैं किन्तु अधिकांश शिक्षाओं में विषय साम्य ही दृष्टिगोचर होता है।

●

3 - ~